॥ हरिः ॐ ॥

जीवनसंदेश

- पूज्य श्रीमोटा

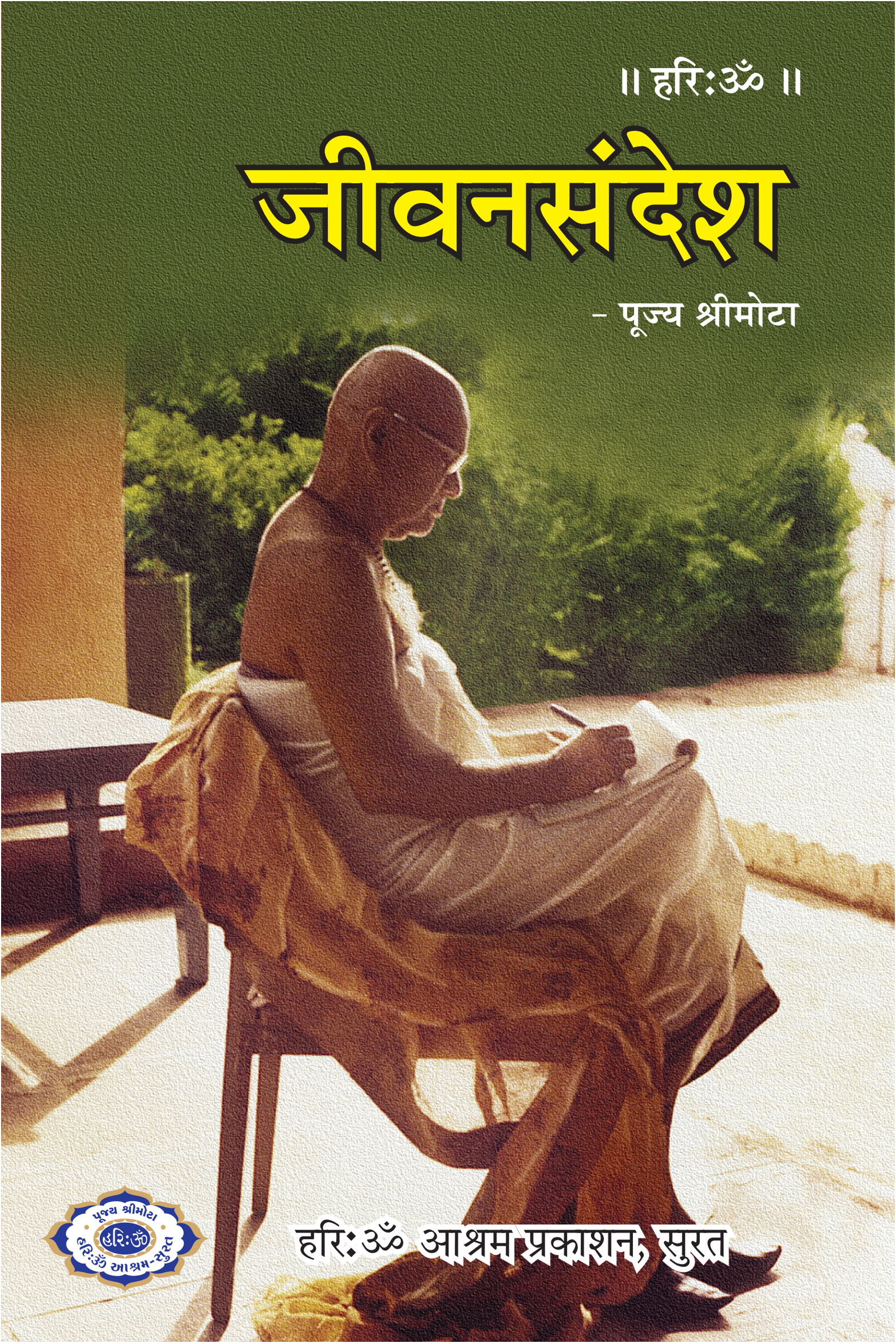

हरिः ॐ आश्रम प्रकाशन, सुरत

॥ हरिः ॐ ॥

जीवनसंदेश

(गुजराती पुस्तक 'जीवनसंदेश')

साधकों को
श्रीमोटा के पत्र

: संपादक (गुजराती) :

हेमंतकुमार नीलकंठ

नंदुभाई शाह

: संपादक (हिन्दी) :

रजनीभाई बर्मावाला

: अनुवादक :

कविता शर्मा 'जदली'

हरिः ॐ आश्रम प्रकाशन, सूरत

❑ **प्रकाशक :**
हरि:ॐ आश्रम, जहाँगीरपुरा, कुरुक्षेत्र,
सूरत–३९५००५, भ्रमणभाष : +९१ ९७२७७ ३३४००
Email : hariommota1@gmail.com
Website : www.hariommota.org

© हरि:ॐ आश्रम, सूरत – नडियाद

❑ प्रथम संस्करण : २०२३

❑ पृष्ठ संख्या : ३८४

❑ प्राप्तिस्थान : हरि:ॐ आश्रम, सूरत – ३९५००५.
हरि:ॐ आश्रम, नडियाद–कपडवंज रोड,
जूना बिलोदरा, पो. बो. नं.–७४, नडियाद–३८७००१
भ्रमणभाष : ७८७८० ४६२८८

❑ अक्षरांकन : अर्थ कॉम्प्यूटर,
२०३, मौर्य कोम्प्लेक्ष, सी. यु. शाह कॉलेज के सामने,
इन्कमटैक्स, अहमदाबाद–३८००१४.
भ्रमणभाष : ९३२७० ३६४१४

❑ मुद्रक :
साहित्य मुद्रणालय प्रा. लि.
सिटी मिल कम्पाउन्ड, कांकरिया रोड, अहमदाबाद–३८००२२
दूरभाष : (०७९) २५४६९१०१

॥ हरिः ॐ ॥

परम प्रिय सखा :

श्री ललितचन्द्र दलाल साहब को

तथा

डॉ. श्रीमती मीनाक्षीबहन दलाल को

भावांजलि

(अनुष्टुप)

प्रिय सखे ! हृदय से प्रिय मुझे क्या दिल भाव से !
क्या बारबार आश्लेष हृदय में मैं चाहा करूँ । १

प्रभु ने मेंट दी हो मुझे वैसे मिले तुम !
संस्कृति भावना के हुए दर्शन मुझे । २

संस्कार, भावना गुण प्रेरित कर गुजरात को,
गौरववान यह राष्ट्र होने से कीर्ति पाओ जग में । ३

कर्म कौशल्य एवं शक्ति कार्यवाही की सारी,
खिलना भाव संपूर्ण रूप से मौलिक ढंग से सही । ४

व्यवस्था, नम्रता, सेवा, क्या व्यवस्थिति ! दक्षता,
जीवन में भाव ऐसे से आप क्या पनपते जाते । ५

आपके दिल का भाव पाकर कृतार्थ क्या होता !
ऐसे संदर्भ में देखूँ प्रभु कृपा लीला मैं तो । ६

उच्च जीवन की क्या अभिलाषा ज्वलंत हा !
जिज्ञासा अग्नि प्रेरित करना भावना को भभकाने । ७

कैसा सद्‌भाव हृदय से दिखाना सत् पुरुष को !
प्रत्यक्ष प्रेरणा वैसी पाकर प्रसन्न नमन हृदय से । ८

कर्म के हार्द को गहरे मर्म को उसे निहारने-
कैसे कैसे प्रयत्न करो हृदय में उस कला को नमन करूँ हृदय से । ९

कैसे कैसे मुझे हाथ दिये कृपा की **उस**ने
निपटाने को ही संकल्प लीला देखकर प्रसन्न हो । १०

दिव्य जीवन का भाव जीवन में लक्ष्य प्रेरित,
जीवन में भावानंद प्रेरित करना, प्रार्थना दिल से । ११

खिलना खिलना भाव प्रभु का आपके जीवन में,
करके प्रार्थना ऐसी भाव से समर्पित करूँ **यह** पद में । १२

लोनावला, ता. ६-५-१९६९ **— मोटा**

॥ ॐ मैया ॥

आमुख

यह 'जीवनसंदेश' ग्रंथ श्री हेमंतकुमार के पास से सुना । इसी लेखक के व्यक्तिगत जीवन की और उनके पहचान के स्वजनों से संबंधित जीवन की बातें जानी । पत्रों और काव्यों के रूप में लिखे लेखों का आज तक पुस्तक रूप में प्रकट हुए इसके पहले सभी के दश पुस्तक देख गया । मुझे लगा है कि इस पुस्तक के ये सभी लेखों का दोहनरूप-सत्त्वरूप है और तब भी थोड़ा भाग बाद करें तो बाकी का पूरी तरह से नवीन और कुछ भाग एकदम मौलिक है । **इससे मैं इसे साधकों के लिए स्मृतिशास्त्र बतलाने में हिचकता नहीं हूँ ।**

इस लेख के मूल लेखक अपने कथन में संपूर्ण सत्य का दावा नहीं करते, उसमें परिवर्तन के लिए अवकाश है ऐसा स्वीकार करते हैं और उनके ही अंगभूत गिने जाते लोगों पर लिखे ये लेख हैं । इससे इन लेखों में हुआ स्वानुभव और नम्रता भरे हैं । इससे इन दो लक्षणवाले लेख समाज के निर्माण में जितने अंश में उपयोगी होंगे उतने अंश में वे स्मृतिशास्त्र के नाम को चरितार्थ करेंगे । इन लेखों को आमजनता के आगे शीघ्र रखने में जो जोखिम है, उस जोखिम को इन लेखों के मूल लेखक की उत्तरोत्तर जागृति

और जिस निमित्त ये लेख लिखे गये हैं, उन परिचित साधकों की सावधानी यह जोखिम का निवारण करेगी ऐसी अपेक्षा है ।

लेखक की मान्यता का सार

मैं समझा हूँ, उस अनुसार लेखक की मान्यता यह है –

जीवन एक संग्राम है और इससे ही साधना के कुरुक्षेत्र पर रहे हुए मनरूपी अर्जुन का गुरु अर्थात् अंतर में रहे हुए ऊर्ध्वभाव अथवा प्रेमरूपी प्रभुभाव के आगे सारथिपन स्वीकार कर जगतरूपी जल में तैरने के लिए प्रथम अपने पुरुषार्थ और श्रद्धा दोनों को जागृत रखना । श्रद्धा की दृढ़ता बढ़ने पर अंत में '**कुर्वन्नपि न करोति**' अथवा '**अकुर्वाणोऽपि कुरुते**' जैसी सहज दशा होगी ।

साधना के साधन

ऐसी साधना के लिए वे व्याख्या इस प्रकार करते हैं – साधना अर्थात् भक्ति, ज्ञान, ध्यान और कर्ममार्ग का समन्वय – ऐसा कहते हैं । आगे जाने पर 'भक्ति अर्थात् भावना का प्रपात । ज्ञान यानी वह हेतु । ध्यान यानी उसमें एकाग्रता और कर्म यानी सभी को सुयोग्य सुमेल ढंग से आचरण करने का स्थान ।' ऐसा भी कहते हैं ।

जीवन्त बहाव

लेखक का भावनाप्रपात हिमालय की पुत्री गंगा नदी से लेकर '**केशवचरण**' तक पहुँच कर दुबारा फिर अपनी

जन्मदात्री जनेता के चरण में अंजलिरूप से ढलता है और उसकी गति तीव्र होने पर भी इतनी नम्र बन जाती है कि अपने मार्गदर्शक गिनते सेवकों के आगे भी वह चरण चूमने को तड़पता है –

– और परिणाम स्वरूप उनकी भक्ति, उनका ध्यान, उनका योग, उनके कर्म सभी मात्र छोटी-सी स्वजनमंडली में केन्द्रित होते हैं । त्याग की दृष्टि से ये महान त्यागी हैं । तप की दृष्टि से ये महान तपी हैं । एक मात्र भयस्थल है और वह 'संतों के दुर्गम आचरण' और 'पूर्णपुरुष' जैसे लेख में निकल आता है । गुरुवाद के दो पहलू हैं । उनमें से एक गुरुवाद में से फलित अनिष्टों को इस लेख में ढाल मिला जाय ऐसा है, परंतु साथ ही साथ समस्त मानवीस्वभाव का दिव्य रूपांतर करना और पल पल सक्रिय रहना ऐसी जो जिम्मेदारी गुरु अथवा संत की इन लेखों में बतलायी है, उस ओर ध्यान रहे तो उस भयस्थान से उबर जाये ऐसा है ।

सुने अनुसार इस ग्रंथ के लेखक अपने इन स्वजनों के घरकलह के स्थूल छोटेबड़े प्रश्नों या कलहों से लेकर उनके आंतरिक हमलों पर निगरानी रखते हैं। तथापि नम्र रहते हैं और आत्मीयता बढ़ाते हैं । 'युग्मभावना', 'जगत की वास्तविकता', 'सुखदुःख और आसक्ति', 'व्यष्टि में समष्टि का हल', ऐसे लेखों में पूरी तरह मौलिकता दिखाई देती है । 'उदारमानस',

'विवेक', 'स्मृति', 'श्रद्धा' और 'सहिष्णुता' आदि लेखों में प्रवाह, रोचकता और सौंदर्य देखकर साहित्यिक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टि से सुंदर छाप अंकित होती है ।

'ईश्वर ही सब सँभालते हैं ?', 'साधकों का परस्पर में वर्तन', 'साधक का नोंकरों के प्रति वर्तन' आदि में ठीक-ठीक मार्मिक वचन दिखते हैं, और काव्यों में कविता से अधिक विचार स्थूलता अधिक और नम्रताभरा अभिन्न स्नेह छलकता है । अंत में,

'प्राप्त धर्म जो होता है, उसकी उपेक्षा कर दूसरे,
धर्म प्राप्त करने जाये, उसे धर्म नहीं मिलेगा ।'

यह पंक्ति गूँजती रहती है ।

महात्माजी के जाने से आज हमारे देश में जो शक्ति छितरा गई है, उसे जोड़ने और देश के लिए लोर्ड माउन्टबेटन जो उच्च भावी बोला है । उसे सफल बनाने के लिए जो साधकबल उपयोगी होनेवाला है, उसमें ऐसे योग्य हाथ से लिखे लेख गुजराती भाषा जानती जनता को रुपए - आना - पाई से मापे जाते जीवन को या फालतू क्रिया में या कर्मकांड में माने जाते धर्म को सही स्वरूप से समझने की दिशा में मोड़ने में उपयोगी होंगे, उस विषय में मुझे शंका नहीं हैं ।

वंथली (सौराष्ट्र) **'संतबाल'**
ता. २७-६-१९४८

॥ हरिः ॐ ॥

संपादक के दो बोल

पूज्य श्रीमोटा के 'जीवनसंदेश'का प्रथम संस्करण १९४८ में श्री नंदलाल बोडीवाला ने 'संदेश' में अपने खर्च से छपाकर और उसमें से बहुत-सी प्रतियाँ हमें भेट दी थीं । जिनकी बिक्री की रकम पूज्य श्रीमोटा द्वारा होती रहती शुभ प्रवृत्ति के सहायार्थ उपयोग में आयी ।

इस पुस्तक खत्म होने आई थीं और उनकी मांग तो बनी रहने से, प्रस्तुत पुस्तक दुबारा छपवाने की मांग हुआ करती थी । इससे अमुक मित्रों के सद्‌भावभरे सहकार से और सक्रिय मदद से प्रस्तुत पुस्तक फिर से प्रकाशित होने जा रही है । जिन-जिन भाइओं ने एक या दूसरी तरह से इस पुस्तक प्रकाशन में सहकार और सहाय दी है, उन सभी का हरिः ॐ आश्रम (नडियाद) का ट्रस्टीमंडल हृदय से आभार मानता है ।

फिर, इस पुस्तक की बिक्री से किसी को भी व्यक्तिगत लाभ या फायदे की बात नहीं है । पूज्य श्रीमोटा ने अपनी ऐसी प्रकाशित पुस्तकों में से प्राप्त लगभग ५०,००० रुपए की रकम का समाज हित के लिए ही सदुपयोग किया हुआ है, उसी तरह इस पुस्तक की बिक्री का भी होनेवाला है । इससे, सभी को बिनती हैं कि इस पुस्तक को खपाने में हमारी सहायता करें ।

इस पुस्तक के लेख बहुत कुछ तो पत्र के रूप में हैं, वे वे पत्र अलग-अलग व्यक्तिओं को लिखे हुए हैं । उन पत्रों

में जिन विषयों का उल्लेख है, उन विषयों की समग्रता उसमें नहीं है, परंतु जिन-जिन भाइयों ने जिस विषय में पत्र में पूछा हो, उतनी ही मात्रा में उत्तररूप में वह वह पत्र लिखा गया है ।

पुस्तक के लगभग लेख तो अलग-अलग मासिकों में अक्सर छप चुके हैं और उन्हें यहाँ एकत्र करके संग्रहित किया है ।

ये पत्र अलग-अलग नाम से अलग-अलग मासिकों में छपे हैं, परंतु इससे वह व्यक्ति अलग-अलग नहीं है, पर एक ही है । पूज्य श्रीमोटा स्वयं अज्ञात रहना चाहते होने से और जिस लेखक का नाम देने में आया हो, उस लेखक के प्रेरक और संचालक तथा लेख को उद्‌भवित करनेवाले पूज्य श्रीमोटा स्वयं होने से उनका नाम जानकारी के लिए रखा था, उसमें किसी को विसंवाद भले लगे, परंतु बहुत जगह तो संपादक के रूप में ही नाम दिया है । और किसी जगह संपादक के रूप में नाम न दिया हो, वहाँ भी लिखनेवाले के मन की विचारधारा और क्रमबद्ध आलेखन पूज्य श्रीमोटा की ही विचारधारा और उनके ही दृष्टिबिन्दु का और सही रूप में तो उनके भावार्थ का ही वह लेख है । इससे विभिन्न नामवाला तो मात्र उनकी कलम ही बनी है, यह बात हमारे मन तथ्य की भूमिकावाली है ।

इस पुस्तक के अमुक ही लेख बहुत सादे, सरल और पहले ही पढ़ने में समझ आये वैसे हैं । जब कि अमुक ऊँची लेख की भाषा कुछ भी लगती है और इस प्रकार लेख एक ही लेखक का होने पर भी उसमें ऊपर बताये अनुसार विसंवाद लगता है । एक ही घाट के लेख प्रत्येक लेख में नहीं है, उसका सही कारण यह है कि जिन जिन व्यक्ति ने पूज्य श्रीमोटा को लिखा है, उन सभी व्यक्तियों की समझ और साहित्य की कक्षा का भी उन्होंने ख्याल रखा है । पूज्य श्रीमोटा का पद्य, गद्य से हमेशा बहुत सरल होता है और वह उन्हें अपनी अभिव्यक्ति के लिए बहुत सरल साधन हो गया है ।

इस पुस्तक का प्रत्येक लेख लेखक के स्वजन को संबोधित करते हुए हैं । अमुक लेख उनके (स्वजन के) मन में उठी हुई किसी न किसी वृत्तिओं के समाधान रूप से समझ के प्रदेश का लिखा हुआ है और खास करके कविता जैसे जो लेख हैं, उन लेखों में लेखक ने अपने स्वजन में जब-जब निमित्तयोग से अंतर की दृष्टिवृत्ति मुड़े और उन्हें (लेखक को) उन-उन स्वजनों जीवनआदर्श की भाव की तुलना में न लगने से उन्हें जो उत्कट संवेदना होती है, उसके द्योतकरूप से वे सभी लेख हैं । लेखक को अपने स्वजन के उस समय के (लेखक से जिस समय कोई निमित्त भाव से) उन-उन में दृष्टि और वृत्ति प्रेरित हुई हो उन-उनके जीवनप्रवाह को

यद्वातद्वा बहते देख कितनी सारी और कैसी-कैसी भयंकर वेदना होती है, उन सभी कविताओं के लेखों द्वारा समझ में आता है । पूज्य श्रीमोटा ऐसी हृदयंगम उत्कट भावना स्वयं में प्रेरित कर अपने स्वजन के अंतर को द्रवित करने के लिए इस तरह अपनी वृत्तिओं का उपयोग करते हैं । **प्रत्येक वृत्ति यह प्रत्यक्ष शक्ति स्वरूप है और उससे उसका काम ले सकते हैं - यदि वैसी वृत्ति ज्ञानभक्तिपूर्वक उपयोग करने की कला जीवन में आयी हो तो ।** माँ को अपने बालक को कीचड़ में खेलते देखकर जैसे ग्लानि, दुःख और चिढ़ भी चढ़ती है, वैसे अपने स्वजनों को जीवनआदर्श की भावना से योग्य रूप से न जुड़े देखकर पूज्य श्रीमोटा को जो दुःख होता है, वह दुःख उनके लेखों में स्पष्ट झलकने लगता है । वह दुःख हमें जागृत करे वही प्रार्थना है ।

पूज्य श्रीमोटा के विषय में कुछ लिखना यह तो हमारे लिए बखान करने के समान है और लिखें भी क्या ? वे कुछ भी नहीं है और है, इतना ही काफी है ।

श्री गुलाबराय मंकोडी साहब ने यह दूसरे संस्करण की प्रस्तावना लिख दी । इसके लिए हम उनका भावपूर्वक बहुत-बहुत आभार मानते हैं । यद्यपि वे इतने नजदीक हैं कि उनका आभार मानना, हमारा अपना ही आभार मानने समान है । तथापि हृदय को प्रशंसाभाव व्यक्त हुए बिना नहीं रह सकता ।

प्रथम संस्करण का 'आमुख' पूज्य महाराज श्रीसंतबालजी ने लिख दिया था ।

धार्मिक, सामाजिक और राजकीय क्षेत्रों में अनेक को सलाहसूचन तथा मार्ग दिखाने की प्रवृत्ति में ठीक ठीक लक्ष और समय देने पर भी पूज्य महाराजश्री संतबालजी ने समय निकालकर यह पुस्तक आदि से अंत तक तब सुनी और उसमें से अर्थगंभीर वाक्यों का चयन करने के बाद, इस लेखक के अन्य पुस्तक भी देख देखकर उसमें से भी ऐसी नोट लेने के बाद ठीक ठीक विचार करके और परिश्रम के अंत में हमें जो सहानुभूतिभरा प्रशंसावाला सुंदर 'आमुख' तब लिख दिया था, इसके लिए हम उनका भावपूर्वक आभार मानते हैं ।

प्रथम संस्करण की प्रस्तावना श्री प्रतापराय उपाध्याय ने (आचार्य, हरिजन आश्रम शाला, हरिजन आश्रम, अहमदाबाद-१३) भावपूर्वक लिखकर दी, जिसके लिए हम उनके बहुत-बहुत आभारी हैं।

सुभाष प्रिन्टरी द्वारा श्रीमती बबीबहन भरवाडा ने यह पुस्तक त्वरा से, सावधानीपूर्वक और कम दाम से सुंदर ढंग से छापकर देने में सहायता की है और सद्‌भाव दिखाया है, इसके लिए हम उनका बहुत-बहुत आभार मानते हैं ।

ता. २५-५-१९६९

नंदुभाई शाह
मेनेजिंग ट्रस्टी
हरिःॐ आश्रम, नडियाद

॥ हरिः ॐ ॥

प्रस्तावना

(दूसरा संस्करण – गुजराती)

(लेखक : श्री गुलाबराय मंकोडी – रिटायर्ड I.A.S.)

संतलीला अगम्य होती है । नहीं तो फिर मुझ जैसे आध्यात्मिक क्षेत्र में, जिसने पूरा एक भी अक्षर न घोंटा हो ऐसे व्यक्ति को, पूज्य श्रीमोटा जैसे संत, प्रस्तुत 'जीवनसंदेश' जैसी संपूर्णरूप से आध्यात्मिक पुस्तक का पुनर्मुद्रण के समय प्रस्तावना लिखने का आदेश क्या देखकर किया होगा ! यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है । इसलिए इस आदेश को मैं संतलीला समझता हूँ ।

साधारण कोटि के पुस्तकों के लिए सामान्यतः प्रस्तावना लिखने की परंपरा, कुछ अंश में नलदमयंती के बीच हंस ने जो हेतु सिद्ध किया था, उसी हेतु के लिए हुआ होगा । उसमें भी फिर, सम्बद्ध विषय के उच्च अधिकारी – कितनी ही बार तो लेखक से भी उच्च अधिकारी – व्यक्ति के पास प्रस्तावना लिखवाने से पुस्तक की प्रतिष्ठा बढ़ जाती है, परंतु यहाँ तो सब दूसरी तरह का है । 'जीवनसंदेश' पुस्तक असाधारण, लेखक पूज्य श्रीमोटा जैसे समर्थ संत है और प्रस्तावना लिखनेवाला मेरे समान अल्पज्ञ, बल्कि उपमन्यु के शब्दों में कहूँ तो *'सदुपायकथास्वपंडितः हृदये दुःखशरेण खंडितः ।'*

इस विषय की ओर आकर्षण और अभिरुचि होने पर भी उसमें मेरा प्रवेश अति अल्प मानता हूँ । अतः विषय के विशेषज्ञ के रूप में कहने हेतु मेरे पास कुछ भी नहीं हो वह स्पष्ट बात है । उसमें फिर, यह तो रही पूज्य श्रीमोटा की अनुभववाणी ! तो फिर मैं क्या और किस तरह से लिखूँ ? पर आज्ञा का उल्लंघन भी नहीं हो सकता । मेरी आध्यात्मिक अनभिज्ञता का सार्वजनिक इकरार करने का मौका देने के लिए मानो संत ने यह लीला रची होगी ऐसा मानकर भी मेरा मन उनकी ओर पूज्य प्रेम से मुसकरा रहा है ।

विडम्बना मन को मार्ग निकालने को प्रेरित करती है और मेरे मन ने भी मार्ग निकाल दिया है । अततः लिखनी है तो 'प्रस्तावना' ही न ? और **प्रस्तावना अर्थात् स्तवन का एक रूप । एक प्रकार की स्तुति-पुस्तक की कथावस्तु की और उसके कहनेवाले की, लेखक की** और संतस्तुति करने का अधिकार किसे नहीं होता ? तुच्छातितुच्छ और मूर्खातिमूर्ख व्यक्ति भी मधुर जैसी आये वैसी संत की स्तुति करने का अधिकार तो रखता ही है । इसलिए ऐसे इस अधिकार के कारण में इस संतआज्ञा का पालन कर सकूँगा सही ।

प्रथम मुद्रण के संदर्भ में मुनिश्री संतबालजी के 'आमुख' और भाई श्री प्रतापराय उपाध्याय की प्रस्तावना में, इस पुस्तक के विषय में तथा समाज को संतों के प्रति कैसी दृष्टि रखनी चाहिए, उस विषय में अच्छा प्रकाश डाला है । इसलिए उसकी पुनरूक्ति न हो, इसका भी मुझे ध्यान रखना है ।

इस अप्राप्य पुस्तक की एक प्रति एक स्नेही के पास से पढ़ने के लिए मिली, तब उसके पन्नों के स्वरूप ने ही पुस्तक का ख्याल दिया । सामान्य रूप से किसी भी अच्छी पुस्तक के दो-चार पेज में कुछ विशेष विधान आये, जिसे वाचक को दुबारा प्राप्त करने में सरलता हो, उसे रेखांकित Underlined करने का मन होता है । मुझे प्राप्त हुए पुस्तक के गंभीर अभ्यासी साधक ने कितने सारे पेज, पूरे के पूरे लाल या नीली रेखाओं से अंकित कर रखा था । पुस्तक में आये विधानों के सत्त्व का यह प्रथम निर्देश था । हिमालय जैसी महान पर्वतमाला में प्रवेश करते यात्री जैसे एक शिखर चढ़े कि तुरंत उससे भी उत्तुंग अन्य शिखर निहारता है और उसके महान सौन्दर्य के आनंद में डूब जाता है । कुछ उसी तरह इस पुस्तक के विधान एक के बाद एक खुलते गिरिश्रृंगों जैसे सुंदर, प्रतिभाशाली और समग्र रूप से देखने में चित्त को सात्त्विक आनंद में डूबो दे ऐसा वाचक को लगता है । प्रथम संस्करण के संदर्भ में स्पष्टता हुई है उस तरह यह पुस्तक मुख्यतः पूज्य श्रीमोटा के अलग-अलग समय स्नेही साधकों को लिखे हुए पत्रों का संकलन है ।

संपूर्ण पुस्तक को पढ़ने के बाद सबसे पहला प्रभाव यह उभरता है कि लेखक अपना आध्यात्मिक अनुभव केवल अपने पास संग्रह न कर, अपने प्रियजनों को उमंग, प्रेमभाव, दिलोजान से हो सके उतने अधिक विस्तार से और गहराई

से कहकर, अपने सात्त्विक आनंद के सहभोक्ता बनाने चाहता है। प्रत्येक शब्द में, हर वाक्य में और प्रत्येक पृष्ठ पर प्रेममूर्ति श्रीमोटा के हृदय का प्रेम झरता देख सकते हैं। उदार इसलिए कि उस प्रेम या उतने प्रेम के लिए संबंधित व्यक्ति पात्र हो या न हो, पर फूल को तो जैसे सुवास फैलानी ही है, वैसे पूज्य श्रीमोटा का प्रेम तो अदम्य रूप से अपने प्रिय पात्रों की ओर निरंतर बल्कि मूसलाधार बहता है। उस प्रेमप्रपात में अवगाहन करने का जिन भाई-बहनों को मौका मिला है, उन सभी को परोक्षरूप से भी, हार्दिक धन्यवाद देकर नमन करता हूँ कि वे ऐसे सरल, निखालिस और साक्षात् प्रेममूर्ति के समान संत के प्रेमपात्र बनने को भाग्यशाली रहे हैं। ऐसे पात्रों के प्रति का प्रेम 'उदार' क्यों कहना पड़ा है, उसकी झलक कई स्थानों पर मिलती है। लेखक कहते हैं -

'हमें तो सभी को समझ समझकर लिपटना है,
रहा करें हृदय से लिपट - न हमें कोई लिपटता है !
लिपटने जाने से तो तिरस्कृत कर दूर करे वह,
करने जाते हृदयप्रेम स्वजन गणना करे न वह ।'

फिर दूसरे स्थान पर लेखक गाते हैं –

'हमें हिस्सा लेना है स्वजन के जीवन भीतर,
परंतु कोई नहीं हमारा हृदय से स्वागत करता ।'

दूसरा प्रभाव यह पड़ता है कि जिन विषयों के बारे में पत्र लिखा हो उस विषय के अंग-उपांग को समेट ले उतना

विशद, सरल और सर्वदेशीय विश्लेषण करने पर भी उस विषय की समग्रता तथा सत्यनिष्ठा को आँच नहीं आती है । विषय के विभिन्न पहलुओं का दर्शन करवाते जाने पर भी स्वयं कहते हैं वह सत्य का संपूर्ण स्वरूप है उसका दावा तो वे नहीं करते, बल्कि अभी तक समझ में आया हुआ यह स्वरूप है और इससे अलग भी सत्य हो सकता है, ऐसा जगह-जगह ठोक बजाकर लेखक ने कहा है । जगत की वास्तविकता विषयक कहने के पश्चात् आपश्री सरल हृदय से कहते हैं कि –

'यह सब समझाना मुझे कुछ रास नहीं आता । यही सत्य है ऐसा दावा नहीं है, पर जो कुछ लगता है वह नम्रता से बतलाया है । शास्त्र की समझ अनुसार कितना सही है उसे नहीं जानता । मैंने तो उसकी कृपा से जीवन में अनुभव को ही शास्त्र गिना है । तथापि वही सही है और अब उसके परे सत्य नहीं है ऐसी समझ की पकड़ में भी नहीं रहता । भगवान दूसरा समझाएँगे और अनुभव करवाएँगे तो वह भी अपनेआप ही लगेगा ।'

कितनी विनम्रता, कैसी सत्यनिष्ठा ! मुझे तो लगता है कि उनके ऐसे विधान आपश्री की अपार नम्रता, हमें सत्य की विराटता का ख्याल करवाने की वृत्ति और हम अपने मंतव्य विषयक हठाग्रह या दुराग्रह न रखें यह भी सत्यनिष्ठा का एक चिह्न है । ऐसा हमें बोध देने का हेतु होगा ।

तीसरा तथ्य यह उठता है कि प्रत्येक विषय का विवरण एक प्रखर मनोवैज्ञानिक करता हो ऐसा लगता है । मन और चित्त की अलग-अलग भूमिका पर से जो सत्यदर्शन स्वयं को होता है, वह जितनी मर्यादा में शब्दबद्ध हो सके उतना हमारे श्रेय के लिए आपश्री करते हैं । यदि यह सब केवल मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही होता तो शायद यह एक केवल बौद्धिक प्रक्रिया होती, परंतु जब चित्तवृत्ति की उत्तरोत्तर उच्च भूमिका की सिलवट खोलखोलकर अंदर रहा हुआ दृश्य बताने को मथते हैं, तब ऐसा लगे बिना रहीं रहता कि यह तो ऋषियों की 'पश्यंती वाणी' है, एक आत्मसाक्षात्कार का अनुभव है । अमुक बार दूज का चाँद बतलाने आकाश में उंगली के इशारे से बतलाने पर भी दूसरा व्यक्ति देख न सके; तब हम कोई वृक्ष, घर, बादल या ऐसी कोई निशानी लेकर चन्द्र की दिशा में हाथ लंबा करके सूचित करते हैं । हाथ कोई चन्द्र तक पहुँचता नहीं है, पर दर्शन की रेखा निश्चित करता है । और उस रेखा को लंबा करें तो चन्द्र के दर्शन अवश्य होते हैं । पूज्य श्रीमोटा ने इन सभी लेखों में कुछ इस प्रकार की तरकीब साधक को सहायभूत होने के लिए आजमाया लगता है । उनके द्वारा दी गई निशानियाँ और उनकी सुझाई दिशा यदि हम ठीक से पकड़ लें तो फिर तो प्रश्न है केवल उस रेखा को लंबा करने का । समय और सतत पुरुषार्थ उस रेखा को लंबाकर सत्यदर्शनरूपी चन्द्रदर्शन कराये बिना रहेगा ही

नहीं । इसीलिए तो यह तमाम लेखों में सत्य यही है कि ऐसा ही है वैसा प्रतिपादन न करते हुए लेखक अमुक चिह्नों, निशानियों आदि द्वारा एक प्रकार का निश्चित दिशासूचन प्रत्येक साधक को करते हैं और उस दिशा में चलना रखे तो देर सबेर साधक आत्मसाक्षात्कार के ध्येय को जरूर पाएगा ऐसी प्रतीति करवानेवाली यह पुस्तक है ।

आजकल शोषणवृत्ति मनुष्य के स्वभाव में मानो गहराई तक पैठ गई है । इसलिए आज का मनुष्य कम देकर अत्यधिक विशेष प्राप्त करने की पैखी में है । भौतिक क्षेत्र में सट्टा, लौटरी, रेइसीज आदि प्रवृत्तियों द्वारा खर्च कम और जल्दी धनवान बनने की वृत्ति व्यापक होती जा रही है, वैसी ही वृत्ति आध्यात्मिक क्षेत्र में भी नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते हैं । ऐसी वृत्ति के सामने पूज्य श्रीमोटा ने जगह-जगह लालबत्ती रखी है । आपश्री कहते हैं –

'आज के युग में.... सभी को मेहनत के बिना, तपस्या किये बिना, आलसी बन बैठे बैठे खाना है । आध्यात्मिक मार्ग में ऐसे कोई जीवों को स्थान नहीं हैं ।'

फिर दूसरे स्थान पर वे गाते हैं –

'प्रभु के काम में जो भी, जीवित रखने हृदय में,
अभ्यास प्राणवान पूरा गहरा विकसित करें ।
जीते जागते ऐसे, बिना अभ्यास के किसी को,
प्रभुकृपा का लाभ ऐसे ही ना मिले ।'

भावना और गुण विकसित करने हेतु सुलगती भूख और प्रचंड पुरुषार्थ चाहिए, ऐसा यह आध्यात्मिक मार्ग है । उसमें प्रगति करना यह कोई अंधेरनगरी का खेल नहीं है । ऐसा सूचित कर लेखक साधक को सचेत और जागृत करना चाहते हैं, तथापि उसे निरुत्साही न होने देने का विशेष ध्यान रखते हैं । इसलिए यह काम 'कठिन है' ऐसा कहने के साथ साथ 'पर असंभव नहीं' ऐसा कहते होते हैं । संक्षेप में, साधक को हताश न करते हुए भी बिना पुरुषार्थ के ध्येय-प्राप्ति हो जाय ऐसा यह क्षेत्र नहीं है, उस बात को साधक को समझाना अपना धर्म मानते हैं ।

आज का मनुष्य 'अनेक-चित्त-विभ्रांत' बन रहा है । मनुष्य मन की चंचलता और उसकी एकाग्रता का अभाव इतना व्यापक है कि वैसी पश्चाद्भूमिका में मन की थोड़ी बहुत एकाग्रता होते ही, सामान्य मनुष्य भी अलौकिक लगे ऐसी सिद्धि स्वयं प्राप्त की है, ऐसा मानने लगता है । सचमुच तो ऐसी प्रगति या सिद्धि यह तो (पौसेरा में पहली पूनी) एकदम प्रारंभ भी नहीं है, यदि यह साधक ध्यान में न रखे तो अपनी प्रगति विषयक भ्रम में पड़ेगा और प्रगति के बदले कई बार अवगति को प्राप्त करेगा । ऐसे भयस्थान के सामने साधक को चेतावनी देने का एक भी अवसर पूज्य श्रीमोटा चूकते नहीं हैं । यथास्थान, ठोक बजाकर साधक को आपश्री सचेत करते हैं कि ऐसी सिद्धि मिली की

आत्मसाक्षात्कार हो चुका है, स्वयं संपूर्ण सत्य को प्राप्त किया है ऐसी भूल न करें । ऐसी चेतावनी भी साधक को भ्रम में पड़ने से बचाने के लिए केवल अनुग्रह वृत्ति से दी है ।

साधक के प्रति दूसरी एक खास भाव की भी इस पुस्तक में झांकी होती है । साधक यदि तमोगुणप्रधान होकर प्रमाद करता हो या पुरुषार्थ और अभ्यास में चाहिए वैसी प्रगति न करता हो अथवा निरुत्साहित होता हो, तो पूज्य श्रीमोटा का दिल कितना अधिक आक्रंद होता है और ऐसा साधक ऐसी स्थिति से जल्दी बाहर कैसे निकले, देखने के लिए उनका मन अधीर हो जाता है । श्री संतबालजी ने अपने 'आमुख' में लिखा है कि –

'इन लेखों को आमजनता के आगे तुरंत रखने में जो जोखिम है, उस जोखिम को इस लेख के मूल लेखक की उत्तरोत्तर जागृति और जिन्हें निमित्त बना ये लेख लिखे हैं, उन परिचित साधकों की सावधानी उस जोखिम का निवारण करेगी, ऐसी अपेक्षा है ।'

आपश्री जैसे तत्त्वचिंतक का ऐसा उंगलीनिर्देश हमें विचार करने को विवश करता है कि क्या आपश्री ने यह लेखन 'आमजनता' के आगे रखने में उसमें जोखिम लगता है या 'तुरंत' रखे उसमें ? सचमुच तो प्रत्येक **जीव** अपने जन्मजन्मान्तर के संस्कार के उत्तराधिकार अनुसार गुणग्राहक शक्ति रखता होता है । फलस्वरूप इस पुस्तक के विविध

विचारों को अपनी-अपनी गुणग्राहक शक्ति अनुसार ही ग्रहण करेगा । इससे इसमें जोखिम तो नहीं लगता, परंतु ऐसे पोषक रसथाल को शायद कोई पूरी तरह न पचा सके तो उसके प्रति अनुकंपा और संवेदनाभरी शुभकामना हो, ऐसा अधिक योग्य होगा । यदि 'तुरंत' शब्द पर भार हो तो ऐसा लेख, इस दिशा में कदम बढ़ाने चाहते हों ऐसे साधकों को हो सके उतना दें, यह स्वानुभवी का धर्म बन जाता है और इससे, इसे देर से दें उससे अच्छा है जल्दी दें उसमें ही देनेवाले-लेनेवाले दोनों का श्रेय है ।

मुनिश्री के 'आमुख' में एक दूसरा उल्लेख ध्यान खींचता है । आपश्री कहते हैं, 'गुरुवाद के दो पहलू हैं, उनमें से एक गुरुवाद में से फलित अनिष्टों को इस लेख में ढाल मिल जाय वैसा है ।'

इस विषय में श्री संतबालजी की तरफ के आदर से प्रेरित होकर इतना कहने का मन होता है कि 'गुरु' या 'संत' विषयक इस पुस्तक के तमाम विचार यदि एक बात का प्रतिपादन नहीं करते हैं तो वह **गुरुवाद** का । गुरु प्रति का आदर गुरुवाद में सरक न जाय, इसलिए यथास्थान, पूज्य श्रीमोटा ने इन लेखों में टोक किया है । आपश्री कहते हैं –

''यदि कोई गुरु ऐसा कहे कि - 'तुम मुझ में ही श्रद्धा रखो, संपूर्ण विश्वास, शरणभाव और समर्पणभाव रखा करो । सब अपनेआप हो जायेगा और किसी धन्य पल में

आत्मसाक्षात्कार हो जाएगा ।' तो जानो कि ऐसा कहना यथार्थ नहीं है ।''

आगे जाने पर आपश्री कहते हैं –

'गुरु का शरीर यह हमारा साधन नहीं है । हमारा साधन तो गुरु की भावचेतनाशक्ति है । वह शक्ति हमें पराधीन नहीं रखना चाहती है ।'

गुरुवाद में गुरुकृपा पर बहुत आधार होता है । इससे गुरुकृपा को भी उसके स्थूल अर्थ में न रहने देते और उसके द्वारा साधक को गुरुवाद में न खींचने देने के लिए पूज्य श्रीमोटा कहते हैं –

'गुरु की कृपा ये तो साधक से होते जाते पुरुषार्थ की भावना में से फलित होता भाव है ।'

फिर, अन्य स्थान पर आपश्री कहते हैं –

'साधक के जीवन का सब सोचने का कोई गुरु अपने सिर पर ले ले, तो साधक का जीवन कभी फलित नहीं हो पाएगा ।'

'जीवनध्येय के पोषक ऐसे निर्णय स्वयं ही करने की कला साधक को अपने में उद्‌भवित और विकसित करनी होगी । पानी में गिरे बिना कभी तैरना नहीं आ सकता । अभी पानी में तो अपनेआप तैर सके ऐसे साधनों के साथ शरीर को जकड़ देने से पानी में पड़ रह सकते हैं, किन्तु इसमें तो ऐसा चलेगा ही नहीं ।'

गुरु और संत, इन लेखों में परस्पर पर्याय शब्द बन जाते हैं । उस संदर्भ में श्रीमोटा के ये उद्‌गार गुरुवाद का आमूल खण्डन करते हो ऐसा लगेगा –

'सच्चा संत, एक मनुष्य अथवा व्यक्ति नहीं है, पर जो विरोधाभासी गुणों का वर्णन हम प्रभु विषयक करते हैं, उनका शरीरधारी आविर्भाव है ।'

यह और ऐसे सभी लेख किसी 'गुरुवाद' या उसमें से उत्पन्न अनिष्टों के लिए ढालरूप बने ऐसा भय रखना, मेरी नम्र समझ में अयोग्य है । मनुष्यस्वभाव के शुभ तत्त्वरूपी नींव पर तो आध्यात्मिक इमारत का निर्माण होता है । इससे इन लेखों में भयस्थान देखना ऐसे शुभ तत्त्वों को अस्वीकार करना होगा । आशा है कि पूज्य श्री संतबालजी समान गुणग्राहक दृष्टिवाले साधक, मनुष्यस्वभाव की अंतिम शुभनिष्ठा में ही श्रद्धा रखने को विशेष पसंद करेंगे और आपश्री ने माना हुआ भयस्थान वह भयमुक्त स्थान लगेगा ।

इस पत्रसंग्रह में क्या अच्छा और कौन-सा विशेष अच्छा, ऐसी तुलना करने का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि प्रत्येक पत्र अपने खास विषय के प्रति बहुत ही स्पष्ट है । इनमें से प्रत्येक पत्र समग्ररूप से पढ़ना पड़ेगा । उनमें से एकाद परिच्छेद संदर्भ में से तोड़कर पढ़ने से शायद लेखक के कहने का अर्थ चूक जाएँगे । इससे कोई भी पत्र संपूर्ण स्वीकार करना या न स्वीकार करना यह लेखक और पाठक दोनों को अधिक न्यायकर्ता होगा ।

अमुक लेख और काव्य तो हृदय में बस जाते हैं । 'जन्मदात्री को अंजलि' यह काव्य पढ़ते हुए कोई भी सत्यप्रिय

साधक आँख में आँसू और द्रवित होती हृदयभरी स्वानुभूति बिना नहीं रह पाएगा । प्रत्येक पाठक को ऐसा लगेगा कि 'मेरी माँ के लिए योग्य अंजलि हो तो यही है ।' क्योंकि माँ के परम प्रेम के प्रति हम सभी बालकों ने ऐसी ही उपेक्षा की होती है और माता ने ऐसी ही उदारता और प्रेम से उसे जाने दिया होता है । उसी तरह पुस्तक का अंतिम पत्र 'पूर्णपुरुष' वह तो मानो इस पुस्तकरूपी मंदिर के शिखर पर का कलश है । उसमें 'पश्यंती वाणी' का जो अनुभव होता है वह अद्‌भुत है । उस पूर्णपुरुष की कल्पना शब्दबद्ध हो सके तो, इससे विशेष सुंदर और सरल रूप से हो सकेगी या क्यों वह प्रश्न है । मैं अपने बारे में तो निःसंकोच कह सकता हूँ कि गुजराती साहित्य के मेरे परिमिति पढ़ने में इस विषय का इतना स्पष्ट, सरल, सुंदर, मनोहारी और सत्यनिष्ठा से खींचा शब्दचित्र लेखक के आध्यात्मिक अनुभव और साक्षात्कार की मानो साक्षी दे रहे हों, ऐसा लगता है ।

जिन-जिन सद्‌भागी पाठकों के हाथ में यह पुस्तक आये उसे उसका पठन, पुनर्पठन और पुनरापिपुनपठन करना अत्यन्त श्रेयकारी होगा, ऐसा मेरा मानना है । परम कृपालु परमात्मा ऐसे सभी का कल्याण करें । यह शुभकामना है, यही प्रार्थना है ।

अहमदाबाद
ता. २५-५-१९६९

॥ हरिः ॐ ॥

निवेदन

(प्रथम संस्करण - हिन्दी)

पिछले कई वर्षों से हमारे हरिः ॐ आश्रम सूरत और नडियाद के मौनमंदिरों में बिनगुजराती भाषी साधकों अपनी आध्यात्मिक प्रगति के लिए आने लगे हैं । उन साधकों श्रीमोटा के अमूल्य आध्यात्मिक साहित्य द्वारा मार्गदर्शन प्राप्त कर सके इसलिए श्रीमोटा का आध्यात्मिक साहित्य जो मूल गुजराती भाषा में प्रकट हुआ है उसका हिन्दी और अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करने का प्रस्ताव हमारे ट्रस्टीमंडल के एक सदस्य श्री रजनीभाई बर्मावालाने थोड़े वर्ष पहले रखा था. उस अनुसार वह कार्य लगभग सन् २००८-२००९ से शुरू किया हुआ है । ट्रस्ट के अन्य कार्यों की जवाबदारियाँ निभाते निभाते ट्रस्टी श्री रजनीभाई ने 'विद्यार्थी मोटा का पुरुषार्थ', 'मौनमंदिर का मर्म', 'मौनमंदिरम में प्रभु', 'देवासुर संग्राम', 'जीवित नर सेएँ' आदि पुस्तकों स्वयं अनुवाद किये हुए है । श्रीमोटा के आध्यात्मिक साहित्य का हिन्दी अनुवाद करने में श्री भास्करभाई भट्ट, इन्दौर (म.प्र.) (वर्तमान में स्वर्गस्थ) और डॉ. कनिता शर्मा 'जदली' पीएच.डी. अहमदाबाद का सहकार भी मिला है । अभी अभी पिछले दो वर्ष से इस कार्य को शीघ्रता से करने के लिए श्रीमोटा कृपा से श्रीमोटा के एक प्रेमी स्वजन श्री निरंजनभाई चंदुलाल पटेलने उत्साहपूर्वक एक धक्का और माारा है कि श्रीमोटा का पूरापूरा गुजराती आध्यात्मिक साहित्य हिन्दी और अंग्रेजी भाषा में अनुवाद

कराके ट्रस्ट की वेबसाईट www.hariommota.org पर इ-बुक के रूप में सभी के लिए उपलब्ध कराना । श्री निरंजनभाई ने केवल शाब्दिक धक्का नहीं लगाया किन्तु इस कार्य के लिए रुपये चालीस लाख से कुछ अधिक की धनराशि भी श्रीमोटा के चरणकमल में अर्पित कर दी है . और तो और क्या इससे अधिक खर्च यदि हो तो और अधिक धनराशि देने की तैयारी बताई है । उनका असीम आभार हमारी सीमित शब्दावलि से व्यक्त करने में हम असमर्थ हैं । इस का बदल चुकाने का सामर्थ्य तो केवल श्रीमोटा में ही हैं और वै ही चुकायेंगे एसी आपश्री के चरणकमल में हमारी प्रार्थना है

श्रीमोटा एक अत्यंत गरीब रंगरेज कुटुम्ब से आते है । आपश्री ने स्वप्रयत्न और अपने समर्थ श्रीसद्गुरु श्री केशवानंतजी धूनीवाले दादा, (सांईखेडा-खंडवा (म.प्र.)) के आध्यात्मिक मार्गदर्शन में संसार का त्याग किये बिना लगभग सत्रह वर्ष कठिन साधना की और सन् १९३४ में सगुण ब्रह्म और सन १९३९ में निर्गुण ब्रह्म को साक्षात्कार किया ।

श्रीमोटा इसके बाद अपने आप स्वयं आ मिले ऐसे प्रयत्नशील जिज्ञासु साधकों को केवल व्यक्तिगत रूप से प्रत्यक्ष में या परोक्ष रूप में पत्रों द्वारा आध्यात्मिक मार्गदर्शन देते थे । यह पुस्तक 'जीवनसंदेश' एक साधक को लिखे हुए पत्रों के फलस्वरूप प्राप्त हुआ है, जो हम जिज्ञासु, मुमुक्षु साधकों के करकमल में रखते हैं । और आशा करते हैं कि वे सब अपने अपने सामर्थ्य अनुसार लाभ प्राप्त करें ।

दि. २६-१-२०२३ **ट्रस्टीमंडल**

(वसंतपंचमी - श्रीमोटा का दीक्षा-दिन) हरिः ॐ आश्रम, सूरत

अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
अंजलि	३३
गांधीजी की प्रभुश्रद्धा	३५
साधक को एक पत्र	४१
प्रेम का लक्षण	४६
गुरु को शिष्य का आधार	४८
गुरु और साधक	४९
सत्कार्य-कदरभक्ति	७४
सत्संग का स्पर्श	७६
हमारा प्रेम	८२
युग्मभावना	८३
जीवनदृष्टि	९३
जीवनधंधा	९८
सुरक्षित स्थिति	१००
याद-तरंगः शक्ति स्वरूप	१०४
एक पत्र	१०५
जीवन सँभालते रहना	१०७
आघात और प्रत्याघात	१०९
स्वजन को पुकार	११६
स्वप्न में चित्त के संस्कारों का क्षय	११७
स्मरणवेदना	१२३
प्रेम का अद्वैत	१२४
अनुष्ठान का महत्त्व	१२८
स्वजनजीवन	१३७
गुरु का कार्यक्षेत्र और शिष्य का कर्तव्य	१४०
स्वजनभाव	१४२
श्रद्धा	१४४
प्रिय प्यारे स्वजनों को	१४८
आत्मविश्वास	१५०
पूरा झुकाना प्यारे	१५३
उदार मानस	१५९
अब लगनी लगाओ	१७०
विवेकशक्ति	१७१
हृदय के आँसू	१८१
आध्यात्मिक जीवन का अनुमान	१८४
प्रिय स्नेहीजनों जीवन सौभाग्य है	१९०
संतो के दुर्गम आचरण और उनके कारण	१९१
प्रेम	२०५
श्रेष्ठ खलासी के भरोसे	२२०
ईश्वर ही सब सँभालते हैं ?	२२१
जीवनपाथेय	२२६
प्रेमभावना	२२९

विषय	पृष्ठ
बहनों के प्रति भाव	२३६
जीवनमुक्त	२३७
कर्मवाद और पुरुषार्थ	२३९
साधकों का परस्पर में वर्तन	२४२
साधक का नौकरों के प्रति वर्तन	२४८
साक्षीभाव	२५४
अनुभव के स्वीकार विषयक समझ	२५७
यह सब क्या ?	२६०
वातावरण	२६४
सुख-दुःख और आसक्ति	२६९
भावना और मनोभाव	२७७
जगत की वास्तविकता	२८२
मृत्यु	२८४
नामस्मरण	२९१
मंतव्यों की पकड़	२९६
नम्रता	२९९
विरुद्ध मतवादी के प्रति सहिष्णुता	३०३
आध्यात्मिक क्षेत्र में मार्गदर्शन	३०८
एक पत्र	३१३
शरीर की अखंडता	३१९
जननी को अंजलि	३२४
प्रिय स्वजनों को	३२७
वृत्ति का सदुपयोग	३३३
व्यष्टि में समष्टि का हल	३४४
साधना का मर्म	३४७
चित्तशुद्धि या अहंकारशुद्धि	३५०
स्मृति	३५७
पूर्णपुरुष	३६६

●

जीवनसंदेश

❑

–श्रीमोटा

'मैं सर्वत्र विद्यमान हूँ !'

'जीवनदर्शन', १०मी आ., पृ. ३८२

-मोटा

अंजलि

(हरिगीत)

जीवनकवन प्रियजन का जो व्यक्त कर्तव्य में हुआ,
जीवनकला वह उद्‌भवित होनी उसे कृपा प्रभु ! क्या गिनूँ !
प्रियजनों के हृदय की जो भावना का भाव है,
वह भाव, जीवन व्याप्त बनने क्या मिला संबंध है !

जीवन नहीं, जिस जीवन में न भाव की व्यक्तता,
संबंध न संबंध वह न हो हृदय का प्रेम जहाँ,
प्रभु की कृपा से जो मिला संबंध वह सार्थक होने,
मेरा दर्द यह कि न हो अभी स्वजन की अभिमुखता ।

हाथ से गढ़ने घाट कारीगर द्वारा सभी चीज को,
कैसे हथौड़े भयानक उसे सही ! सहना पड़े,
ऐसी सहज जीवनकला खिलने प्रभु-मौका-जो मिला,
वह उगे, प्रियजनों के हृदय में याचूँ झुककर ।

नादानीयत मुझ गरीब की चुभके, हृदय में जागकर,
हेतु कुछ यदि योग्य उसका, मानकर बरतना उस तरह,
भारी दुःख सहे बिना न पड़े वर्षा भी इस भूमि में,
अखरपन की योग्यता उगो स्वजन हृदय में ।

जीवनकला उगाने दिल में कुछ यदि भाव हो,
तो तो हथौड़ा सहने का भाव से मुझ में रहे,

यदि मेरी पामरता होगी, तो कर्म का परिणाम वह,
इस जीव को न छोड़ेंगे, प्रिय प्रभु दृष्टा है ।

इस जीवन की जो चेतना उसके अनुभव किसी-किसी को,
प्रभु ने करवाये हैं, तथापि वे भला क्यों हृदय में न उगे ?
संसार के व्यवहार में सीखते पड़े क्या दुःख नहीं ?
वहाँ भी सहन करना पड़े वह स्वजन क्यों न सोचते ?

बुलाया नहीं था कभी मैंने किसी को किसी तरह,
आ मिले तो प्रेम भक्ति धारणा धरो हृदय में,
जैसा होना हो उसकी यदि हृदय लगनी जगाने में,
स्वयं होने न कुछ, रहे बैठा कैसी रीति से **यह जीव** ?

प्रिय स्वजन के जीवन की रीत से हृदय में मुझे,
क्या वेदना प्रकट हो वह कौन जाने ? किस तरह ?
वह वेदना जो हृदय की रखूँ उस स्वजन के चरण में,
यह अकेली मुझ दीन जन की **अंजलि** है **भाव** में ।

• • •

गांधीजी की प्रभुश्रद्धा

॥ हरिः ॐ ॥

प्रिय भाई, कराची,

ता. १-२-१९४४

आध्यात्मिक भावना की खेती करनेवाले... मासिक में पूज्य महात्माजी विषयक जो लिखा है, वह यथार्थ नहीं लगता । ऐसे सत्त्वशील साधु-संतपुरुष महात्माजी की जीवनशक्ति को क्यों नहीं समझ पाते होंगे, यह कल्पना में भी नहीं आ सकता । तथापि पूज्य स्वामीजी के पत्रों में महात्माजी विषयक लेख पढ़कर भी उनके प्रति मेरा आदरभाव कम नहीं हुआ है ।

साधु-संन्यासी और हरिजन

१९३२ में नडियाद में संतराम महाराज की शताब्दी संवत्सरी थी । इसलिए वहाँ अनेक महात्मा, संतपुरुष, साधु-संन्यासी पधारे थे, उनमें अनेक पूजनीय विभूतियाँ भी थीं । उन महापुरुषों को हरिजनों को बोध दिलाने ले जाने के लिए कितनी ही महेनत करनी पड़ी थी ।

जैसे धर्मतत्त्व को पाने के लिए शरीर संपूर्ण आवश्यक है, उस तरह समाजशरीर भी अखंड रहे और समाज में धर्म की भावना प्राणवान रहे, उसके लिए समाज में कौमों के बीच परस्पर शुद्ध निर्मल धर्मभावना ओतप्रोत रहे वह भी उतना ही आवश्यक है । उस अवसर पर हरिजन सेवक संघ के कुछ

मुख्य कार्यकर्ताओं तो जेल में थे । हरिजनों में ख्रिस्ती धर्म का प्रचार पादरी लोग वैसे मेले के समय में खास करते ।

यह देखकर शताब्दी संवत्सरी के समय पर वहाँ आये हुए सभी संन्यासियों को मिला था, **पर परंपरागत रिवाज से अलग व्यवहार करने की बात में संसारी समाज की जितनी ही रूढिचुस्तता के संन्यासियों में भी दर्शन हुए,** पर जो हाथ में लिया उसके हल के लिए प्रत्येक उपाय तो लेना ही चाहिए । उसके लिए जुटते-जुटते अंत में एक महातेजस्वी और सुप्रसिद्ध साधुपुरुष को हरिजनों में बोध दिलवाने ले जाने का हुआ था, पर उसमें भी उनके पीछे लगने पर उसे करवाया था । स्वयंभू हृदय का उल्लास उनमें भी नहीं था ।

गांधीजी और संन्यासियों

साधु-संन्यासियों में भी प्रणाली, मतमतान्तर और रूढियाँ लगभग समाज जितनी ही दृढ़ हैं । उनमें से छूट लेना उनके लिए भी इतना ही कठिन था । वह भी एक प्रकार का संसार है और गतानुगतिक, लीक में चलनेवाला है । उसमें उत्तम साधुमहत्मा नहीं हैं ऐसा कहने का हेतु नहीं है । **जिस संस्था के पीछे संस्कार है, तपश्चर्या हैं, जीवन की आहुति है और जो संस्था केवल त्याग में से ही जन्मी हुई है, वह संस्था की किसी काल में मृत्यु नहीं होगी ।** किसी न किसी काल में और किसी न किसी गूढ़ ढंग से, वह नवचेतनावान होनेवाली ही है उसमें संशय नहीं है । अंत में तो ऐसे

समर्पणशाली जीवन से ही नयी ज्योति पैदा होनेवाली है, यह बात भी निश्चित है ।

पर, आजकल तो पूज्य गांधीजी के विषय में साधु-संन्यासियों में उलटा प्रचार चला है, पर गांधीजी तो आत्मा की झाँकी के लिए ही सारे काम करते हैं । प्रत्येक कर्म के अंतर में उनकी जीवंत धारणा वैसी रहती है । उनकी भगवान पर की श्रद्धा जीवंत है ।

गांधीजी की श्रद्धा

'ऐसे व्यापक सत्यनारायण के प्रत्यक्ष दर्शन हेतु **जीव**-मात्र के साथ आत्मवत् प्रेम की परम आवश्यकता है और उसे चाहनेवाला मनुष्य जीवन के एक भी क्षेत्र के बाहर नहीं रह सकता है । इसीसे ही सत्य की पूजा मुझे राजकारण में खींच लाई है । मुझे इस पृथ्वी के अशाश्वत राज्य की कामना नहीं है । मेरा प्रयास तो ईश्वर के धाम में पहुँचने का अर्थात् मोक्ष प्राप्त करना है । वह मोक्ष स्वदेश और जगत की अविरत, अविश्रांत सेवा, करने से ही मिल सकेगा ऐसा मेरा मानना है । मैं **जीव**मात्र के साथ ऐक्य, तन्मयत्व साधना चाहता हूँ । गीता की भाषा में कहूँ तो शत्रु एवं मित्र दोनों के प्रति समत्व की स्थिति मुझे प्राप्त करनी है ।'

गांधीजी ईश्वर को 'श्वासोश्वास का स्वामी', 'नमक को देनेवाला', 'दीपस्तंभ' मानते हैं । वे कहते हैं कि 'वह सभी को पैदा करनेवाला है । वह न हो तो हम नहीं हैं ।'

इस अविचल दृढ़ ईश्वरश्रद्धा ने उनमें नया ही व्यक्तित्व उत्पन्न किया है और उस व्यक्तित्व का प्रभाव, उसका उत्साह और उसका प्रेम हम सब देखते हैं और अनुभव करते हैं । उन्हें अनुभव हुआ है कि आध्यात्मिक तत्त्व उनके समीप और अंतरतम है । उससे अधिक निकट और प्रिय दूसरा कुछ नहीं है । वे तो कहते हैं कि, 'वे नचायेंगे वैसे नाचेंगे ।' Times of India तो उन्हें 'The Greatest Bluffer' कहता है, पर उसके जैसा कुछ नहीं है पर परदेशी को उसकी ऐसी बोली समझ में न आये यह भी समझ सके ऐसा है । फिर वे कहते हैं –

'ऐसी कोई अगम्य और गूढ़ शक्ति है, जो विश्वंभर है, सर्वव्यापी है । मैं उसे देखता नहीं पर अनुभव करता हूँ । यह अदृष्ट शक्ति अनुभव होती है और तब भी उसका कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता, क्योंकि मैं मेरी इन्द्रियों से जिसका अनुभव करता हूँ, वह सभी वस्तुओं से इसका रूप कुछ अलग ही है । वह बाहर के प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो सकती पर जिन्होंने अंतर में उस ईश्वर की उपस्थिति सचमुच अनुभव की है, उनके आचरण और चारित्र बदल जाते हैं और ये परिवर्तन ही ईश्वर की हस्ती की साक्षी देते हैं । ऐसा प्रमाण सभी देश और सभी युग के पैगंबरों और ऋषिमुनियों के अनुभव में से मिलते हैं ।' फिर, आगे वे स्वयं कहते हैं –

'वह वस्तु कभी दलील का विषय नहीं बन सकती । तुम मुझे दलील द्वारा दूसरों के गले उतारने का कहो तो मुझे हार ही कबूल करनी रही, पर मैं तुम्हें इतना तो कह सकता हूँ कि तुम और मैं इस कमरे में बैठे हैं, इस हकीकत का मुझे जितना भरोसा है, उससे अधिक भरोसा मुझे ईश्वर के अस्तित्व का है । मैं ऐसा भी कह सकता हूँ कि मैं हवा और पानी बिना शायद जी सकूँ, पर ईश्वर के बिना नहीं जी सकूँगा । तुम मेरी आँखें फोड़ डालो उससे मैं मरनेवाला नहीं । मेरी नाक उड़ा दो उससे भी मैं मरनेवाला नहीं, **पर तुम ईश्वर विषयक मेरी श्रद्धा को सुरंग लगाकर उड़ा दो तो मुझे मरा ही समझो ।'**

इसके अलावा –

'जो क्रिया मुझ में चलती है, वह अंतर्यामी की है ऐसा कह सके या नहीं यह मैं निश्चयपूर्वक नहीं जानता, पर बहुत वर्षों से जिसके अनुसार मेरे अपने बड़े से बड़े कहलाये हैं वे और छोटे से छोटे गिने जाते हैं वे कार्य किये हैं, उन्हें जाँचते वे अंतर्यामी से प्रेरित हुए हैं ऐसा कहना मुझे अघटित नहीं लगा । अंतर्यामी को मैंने देखा नहीं है, जाना नहीं है । जगत की ईश्वर विषयक श्रद्धा को मैंने मेरी कर ली है । यह श्रद्धा किसी भी तरह मिट सके ऐसी नहीं है। इससे, उसे श्रद्धारूप से पहचान मिटाकर अनुभवरूप में ही मैं पहचानता हूँ ।'

ये वचन अंतर की गहराई से बोले गये हैं ! इसके पीछे उनकी आत्मा की गूँज-झंकार है । वह मानो हमारे जीवन को स्पर्श करती हो और ऐसा हमें अनुभव में उस उस काल में आया हो ऐसा लगता जाता है । उनकी वाणी हमारे हृदय के तारों को झंकृत कर देती है । इसका कारण यह है कि उनके शब्द मात्र खाली खाली नहीं बोले गये हैं, पर इनके पीछे उनकी आत्मा का प्रेरणात्मक बल रखा हुआ है । शब्दों के पीछे आत्मा खेल खेल रही है । उनकी मनुष्य की सेवा का ख्याल यानी प्रभु की ही सेवा का ख्याल है । भले ही हम सभी उस तरह देशभक्ति या सेवा के क्षेत्र में जीवंत ख्याल न रख सकें हों ।

पर इससे उनके जीवनध्येय को धुंधला करना हमसे कैसे हो सकेगा ? उनके अकेले की ही अंतरात्मा की इच्छा से समाज को उन्होंने कितना अधिक प्राण दिया है ! तामस और जड़ता भरे समाज को उन्होंने जागृत किया है । उनकी यह सेवा हमारे से आंकी जाय ऐसा नहीं है । यह प्रत्यक्ष बात साधु-संन्यासियों के ख्याल में नहीं उतर पाई, यह एक दुःखद घटना है ।

पर ऐसा होते हुए भी हमें तो सभी के प्रति आदरभाव और प्रेमभाव की भावना ही विकसित करनी रही । जिस जिसने अपनी मान्यता के पीछे अपने जीवन को निचोड़ दिया है वैसे ही लोग अपनी मान्यताओं को दृढ़ अनुभव में ला सकते हैं, और वे सदा वंदनीय ही हैं ।

• • •

साधक को एक पत्र

॥ हरिः ॐ ॥

प्रिय भाई,

अभेद उपासना

हमारे जीवन में स्वतंत्ररूप से कुछ भी बनता नहीं होता है । जो कुछ बना करता है, उसके मूल में तो हमारा कर्म ही प्रधानरूप से कारणरूप है, ऐसा अनुभव में ज्ञानपूर्वक ही नहीं पर उसकी चेतनाशक्ति साथ लाया करेंगे तो ही भगवान सचराचर है, उसका अनुभव साधक को हो सकता है ।

जगत में सब अभेदरूप से ही तत्त्वरूप है । इससे, जो कुछ घटित होता है, वह हमारे कारण ही है । उसका मूल कारण तो हमारे में से है ऐसा समझकर उस कर्म के साथ उसी तरह आचरण करना है कि जिससे वह कर्म फिर हम में बंधनरूप से नहीं रहे । वह तभी हो सकता है, यदि कर्म में मात्र उस कर्म अनुसार की भावना या वृत्ति या ख्याल भी न रखते हुए, साधना के भावविकास का जीवंत ख्याल, ज्ञान, भान रखकर वह वह सब भगवान को समर्पण हुआ करे तभी हमें कर्म स्पर्श नहीं कर सकेंगे । कर्म के साथ उसकी गति या प्रकार के रूप में हमें वर्तन नहीं ही करना है । वह धर्म हमारा नहीं । हमें विपरित गति में बहना है । कठिनाइयों से मनुष्य सीखता है । उसमें प्राण उसीके कारण आता है ।

जीवन की तेजस्विता भी कठिनाइयों से ही बढ़ती है । आत्मशक्ति कहो या स्वयं पर का आत्मविश्वास की झाँकी कहो, वह इस प्रकार होते रहते युद्धों से मिलती रहती है ।

प्रत्येक होनेवाले कर्म में साधक को भावना को उतारना ही होगा । **साधना अर्थात् भक्ति, ज्ञान, ध्यान और कर्ममार्ग का समन्वय । भक्ति भावना का प्रपात, ज्ञान वह हेतु, ध्यान अर्थात् केन्द्रितता और एकाग्रता । कर्म अर्थात् इन सबको सुयोग्य, सुमेल रूप से बहने के लिए का पाट Channel ।** जैसे-जैसे साधना में से बल, भावना, प्रेरणा मिलती जाएगी वैसे-वैसे कर्म में वे निथरने ही चाहिए । उदाहरण रूप से भावना में भक्ति का प्राबल्य बढ़ने पर साधक में प्रेमभाव बढ़ेगा ही । पर उस प्रेमभाव का विस्तार वापिस उसे उसके जीवनमार्ग में—जो अपनेआप, कर्म-प्रारब्ध संयोग से, सहेतुक रूप में मिले हुए हैं उनमें—भी करते रहना है । तभी उसकी जीवंतता की शक्ति का माप हमें मिला करेगा । **साधक स्वयं एकांगी ही नहीं रह सकता ।** वह तो पूरे विश्व में संलग्न महाप्रभु को स्वयं में अवतरित करने बैठा है । उस महाप्रभु की लीला का स्पर्श यदि उसे करना होगा तो उसे अपनी साधना द्वारा जगी हुई भावना को प्रारब्ध से स्वयं को प्राप्त हुए के प्रति बहाकर प्रेमभाव से प्रेरित होते रहना पड़ेगा । अर्थात् कि उनमें मात्र सगे-संबंधी की दृष्टिवृत्ति उसे नहीं रखनी है । वह तो है ही, पर हकीकत से उसे तो उससे पर किसी

भव्य भावना में खेला करके, उसकी उत्कट परायणता में रमते हुए सभी को भेंटना है। फिर, वैसा करने में भी अपनी भावना के विकास के ही ज्ञानभान मुख्यरूप से उसे रखना है। कर्म में, भक्ति में, ज्ञान में या ध्यान में सर्वत्र उसे अपने जीवनध्येय की सिद्धि के लिए ही सभी कुछ किया करना है। अन्य का ख्याल जरा भी नहीं रखना है। ऐसी धारणा रखने से साधक को किसी भी तरह निराशा मिलनी संभव नहीं रहता, क्योंकि कुछ भी कहीं (अप्रिय) उद्‌भावित होते या बनते उसका मूल वह अपने में ही देखने को प्रयत्न करता है। इसका नाम ही अभेद उपासना है। ऐसा करते करते जगत का मूल हम ही हैं, ऐसा अंत में साधक को अनुभव हुए बिना नहीं रह सकता, इसे जान लें। साधक को अन्य का देखने का अवकाश ही नहीं रहता। वैसा अनुभव हमें होता है, पर वह तभी कि जब हम साधना की भावना में एकाग्र होते जाते हैं।

बड़ों के प्रति साधक का वर्तन

जीवन में प्राप्त हुए बड़ों के प्रति हृदय से हमारा आदरभाव होना या रखना यह भी क्या सूचित करता है ? यदि सचमुच हमें प्रभु पर भक्ति प्रकट हुई हो, तो जगत में हमें मिले हुए हमारे बड़े भी उसके ही प्रतीक हैं न ? उनके प्रति यदि हमारा भाव वैसा न होता जाय तो भगवान की साधना का भी क्या अर्थ ? यदि जगत में सचराचर में वह सर्वत्र ही हो, तो उनमें क्यों न हो ? उनमें हो तो हमारा भाव वहाँ

भक्तिरूप से प्रकट होना ही चाहिए । साधक का दृष्टिबिन्दु संसारी का नहीं है, उससे सविशेषरूप लोकोत्तरपन का है, वह हमें समझना है । जैसे जैसे साधना का अखंड, सतत, लगातार व्रतरूप से शुरू किये हुए अभ्यास से जो भावना प्रकट होती है, वैसे वैसे उसे हेतु के साथ आकार साधक को दिया ही करना है, तभी भावना का स्वरूप अधिक से अधिक प्रज्वलित रहा करेगा । वह ऐसा होने पर ही प्रत्येक में रहे हुए हृदयस्थ प्रभु के दर्शन हमें होने की संभावना बढ़ती जायेगी । साधक की भावना प्रथम तो केन्द्रित रूप से गाढ़ी होनी चाहिए और इसके बाद उसका विस्तार भी होना चाहिए और ऐसे एक के बाद एक चला करना चाहिए, जो-जो कुछ करें वह सभी साधना के विकास के लिए ही हुआ करे और वह वह सभी उसे समर्पण करके करते जाए तभी ऐसी ज्ञानभक्तिपूर्वक की जीवन्त परंपरा चला करे । अतः, ऐसा जीवंत ख्याल साधक को रखने से ही छुटकारा है ।

साकार और निराकार ध्यान

'श्रीकृष्ण शरणं मम' यह प्रार्थना है । हे प्रभु ! तुम्हीं मेरी शरण हो - इस धुन को बोलने में कुछ भी बाधा नहीं हो सकती, पर भगवान ! तुम्हीं मेरी शरण हो यह भावना सतत हृदयस्थ जीवन्त भान के साथ तब रहनी चाहिए । 'श्रीकृष्ण' बोलने के साथ ही कोई मूर्ति या कल्पना मन या चित्तप्रदेश में नहीं उठनी चाहिए, पर तब हृदय में एक प्रकार का भाव

रहा करे । बहुतों को श्रीकृष्ण बोलने के साथ ही गायों के साथ श्रीकृष्ण, मुरलीवाले श्रीकृष्ण, ऐसे अनेक रूप, जिनके चित्र छवि द्वारा अथवा परंपरागत संस्कारों द्वारा देखे हो, वे सभी खड़े होते हैं, यह हमारे लिए ठीक नहीं है । भाव का उद्‌भवस्थान हृदय है और यदि हमें किसी भी आधार बिना की भूमिका का अनुभव करना हो तो हमें ऐसे कल्पनागम्य खेलों में लगना ही नहीं है, पर जिसे वह होता हो, उसके लिए श्रेयस्कर है । ऐसे को मतिभ्रम भी हमें नहीं करवाना चाहिए । हमारे लिए यह कदम ठीक नहीं है । अर्थात् **'श्रीकृष्ण' यह भाववाचक है । यानी उसे बोलने के साथ हमारा मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और सर्व तथा समग्र हमारे अंग-उपांगों और हृदय-वे सभी उनकी शरण में जाते हो ऐसी जीवंत भावना जागृत करनी चाहिए । वही मेरा- हमारा कर्तव्य है, ऐसा ज्ञानभान 'मम' बोलने पर हमें उद्‌भवित होना चाहिए । उस प्रार्थना को बोलते समय हमें हृदय से इस प्रकार अभ्यास किया करना है । प्रार्थना भी एक प्रकार का ध्यान ही है । प्रार्थना साकार है और ध्यान निराकार है ।** ध्यान में हम कुछ भी आधार नहीं लेते । भाव की वृद्धि के लिए प्रार्थना का साधन रूप आधार लेते हैं, पर दोनों का परिणाम तो एक ही आता है, तब हमें ध्यानस्थ रहते हुए करना चाहिए । **भावना का *भाव* में लय हो जाय, यही प्रार्थना का रहस्य है ।**

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

प्रेम का लक्षण

(अनुष्टुप)

प्रिय को गहरा जो चाहे हृद में प्रेमभाव से,
दिखते स्पष्ट उसके भी लक्षण सभी रीत से,
स्मरण करते हृदय से प्रिय, जो जाने मात्र अकेला,
आँसू को बहाने का, वह मिथ्या जानना चाहना ।
प्रिय में प्राण पिरोकर प्यारे की आत्मचेतना,
भावना जो प्रेरित कर जो एक रहे 'उसी में ही, धन्य वह ।
प्यारे को जो रुचे उसे मानने में वह न आता,
उसे रुचे ही उस तरह जिसे न उर रुचता ।
प्यारे को रुचे रीति से उसे आनंद न हो,
उसे उकसाने का जो करता है अन्य रीत से,
ऐसा जो प्राणी प्रिय को याद कर रोये, भले,
किन्तु वह सत्य ना प्रेम मिथ्या है मात्र वृत्ति वह ।
प्यारे के कर्म में प्राण-चेतना जिस तरह बढ़े,
उस रीति से प्रार्थनाभाव से जो जीये, प्रिय वह सही ।
'प्रिय, प्रिय' करे खाली या ऐसे नखरे करे,
प्रिय का हृदय ना कोई इस तरह पा सके ।
स्वयं होम दे प्रेम से प्रिय में एक जो बने,
ऐसा जो, निज का प्रिय अपने में कर सके ।

प्रिय जिससे रीझे ऐसा जो प्राणी ना कर सके,
उसे 'प्रिय' कहने का जरा भी हक्क ना रहे ।
तन दो अलग हों किन्तु जहाँ भाव एक रहे'
इस तरह जो जीए वैसे सच्चे प्रेमी बन सके ।
(सायला)

• • •

॥ हरिः ॐ ॥

गुरु को शिष्य का आधार

(गझल)

हमें जीना है, हृदय-भावना के बल पर,
हृदय की भावना जहाँ है जीवन में वहाँ जीवन प्रेरे ।

जगत में भाव है जिसका, सभी कीमत पूछे उसकी,
जरूरत पड़ने पर खरीद लेकर बनाये वस्तु उसे निज की ।

न जिसका 'भाव' है कुछ, न उसे कोई पूछता है,
जरूरी हो भले भारी तब भी कुचलाता वह चरण से ।

स्थिर है भाव जिसका जहाँ सब आंके तब वह,
जगतव्यवहार क्या चले सर्वत्र गणना कर के 'भाव' से ।

निभे सारे भाव की तुलना में, जीवन सारा भाव सर्वस्व,
गरीब की 'भाव' पूँजी है, गरीब का वह सच्चा स्वर्ग ।

हृदय के भाव पर मुझे भूमिका चलने लिए,
जगत में कहीं हो ठहरने मुझे तो ठाम,-भाव ही है ।

कृपाकर 'भाव' वह दें खुले हाथ दिया करना,
देकर बदला प्रभु पूरा अतुल्य देगा वापस ।

(सायला) ता. २०-९-१९४७

॥ हरिः ॐ ॥

गुरु और साधक

प्रिय भाई..... ता.००-१०-१९४१

'गुरु' अर्थात् क्या ?

साधक एक बार अपने जीवन में गुरु की आवश्यकता स्वीकार कर लेता है, उसके बाद उसे उसकी महत्ता समझ में आये बिना नहीं रहती । उसे समझ में आ जाता है कि गुरु अर्थात् उसके जीवनविकास के पाये उत्तरोत्तर चढ़ाते जानेवाली एक नसेनी । गुरु अर्थात् सर्व व्यवहार में, एवं सर्व प्रकार के आचारविचार में उसकी समझ को उच्चतर भूमिका के साथ जोड़नेवाली साँकल । उसके मन के सारे भावों को, उसकी सूक्ष्म समझ को स्पष्ट और दीप की तरह समझ देनेवाली मानो की चलती फिरती पुस्तक । उससे आगे बढ़कर कहें तो मनुष्यजीवन का क्या रहस्य है, किसलिए हमें जन्म मिला है, इस संसार में आ मिले सभी के साथ हम क्यों जुड़े हैं, जीवन का हेतु क्या है, उसके साथ जगत का क्या संबंध है, इन सभी की धीरे धीरे जिसकी चेतनाशक्ति द्वारा हमारे में समझ आ जाती है वह ।

इसके अलावा, **पूरे विश्व में जो चेतनाशक्ति जड़, जड़ और चेतन के बीच की मध्यमावस्था तथा चेतन इन तीनों में उत्तरोत्तर पड़ी रही हुई है तथा उन सबका विकास जिससे होता है, वह सब बतानेवाला जीवनतेज वही**

गुरु । गुरु अर्थात् विश्व की प्रत्येक वस्तु का किसी परम चेतनाशक्ति के साथ किसलिए और किस तरह जुड़ना होता है, वह समझानेवाली ज्ञानशक्ति । फिर, गुरु अर्थात् वह कि जिसके हृदय के साथ द्वारा समग्र ब्रह्मांड का, भगवान का हेतु क्या है वह समझ में आए और प्रत्येक क्षण क्षण से भी छोटे से छोटा समय दौरान उत्पत्ति, स्थिति और लय का जो लीला-नृत्य समस्त विश्व में चल रहा है, वह प्रत्यक्ष दिखे तथा हमारे अपने जीवन में भी ऐसा ही लीलानृत्यु खेला जा रहा है, वह भी अनुभव हो ।

गुरु का कार्य

इस प्रकार, जिस साधक को गुरु का महत्त्व समझ में आया है, वह जीवन में कदम-कदम पर नया और नया सीखता ही जाता है । ऐसे अनुभव जैसे जैसे दृढ़रूप से होते जाते हैं, वैसे वैसे वह गुरु की ओर निकट आता जाता है । सूक्ष्म भाव में कहें तो गुरु की समीपता या दूरी कुछ है ही नहीं, क्योंकि **गुरु वह तो भावरूप में ही है ।**

प्रारंभ में साधक आगे बढ़ा न होने से गुरु की स्थूल समीपता की आवश्यकता उसे अधिक रहती है, तथापि योग्य गुरु तो ऐसे साधक की उतने समय की आवश्यकता पर्याप्त ही उसके पास रहेगा, क्योंकि उससे एक क्षण भी अधिक रहना उस साधक में रहे गुरु के प्रति जो योग्य समझ या आदरवृत्ति जन्मी या जन्म लेती होगी उसके लिए लाभकारक

न भी हो । जो वस्तु प्राप्त करनी है अथवा जिसमें मन अधिक लगाना है, वह यदि सतत पास ही रहा करे तो साधक के मन में उसके लिए आकर्षण कम हो जाता है । इससे, गुरु तो साधक के मन में बीज रोपकर तटस्थता से देखा करता है । हो सके उतना अपरोक्षरूप से अपना भाव आवश्यक जितने प्रमाण में रखा करता है सही । जैसे बालक थोड़ा-थोड़ा चलने लगता है, तब उसके आगे दो हाथ लम्बे करके, उंगली बताकर मातापिता बालक को स्वतंत्ररूप से चलने हेतु प्रेरित करते हैं, वैसे अनेक बार गुरु भी करता है । साधक के समीप स्वयं रहता हो, उस दौरान ऐसा कोई न कोई प्रसंग गुरु उपजाये बिना नहीं रहता, कि जिससे साधक का मन गुरु में यहाँ वहाँ आकर्षित न हुआ करे । उस समय पर्याप्त उसका महत्त्व या रहस्य भले वह न समझे पर साधक जैसे जैसे विकास करता जाता है वैसे वैसे उसके जीवन के प्रसंगों की महत्ता और रहस्य प्रातःकाल की उषा की तरह उसके दिल में प्रकट हुए बिना नहीं रहती । ऐसा होते अंत में तो गुरु की समीपता के दौरान ही ऐसे मौके की महत्ता और रहस्य, उन उन अवसरों में प्राप्त होने पर उसी समय साधक समझता और अनुभव करता हो जाता है । गुरु के ऐसे ऐसे प्रत्येक प्रकार के व्यवहार से होते अनुभवों में से तत्काल अधिक ग्रहण करनेवाले साधक की स्थिति गुरु हमेशा के लिए उसके पास रहे ऐसी बाद में नहीं रहती । ऐसे साधक को तो दूर के भाव अधिक सूक्ष्मरूप से जीवन में अनुभव हुआ करते हैं । **जीव**

से शिव होने को जैसे मन, चित्त, बुद्धि, प्राण, अहंकार, इन्द्रियाँ और शरीर इन सबके स्थूल स्वरूप की जरूरत है, वैसे गुरु की स्थूल समीपता साधक के विकास में उपरोक्त बतायी है उतनी ही आवश्यक हैं ।

साधक का कर्तव्य और दृष्टिबिन्दु

जो साधक अपने पुराने मंतव्य, समझ, धारणा, कल्पना और बुद्धि की लीक रखा ही करता होगा, उसे उन सभी में से छोड़ाने का प्रयत्न गुरु किसी न किसी ढंग से किया ही करता है । कोई बार साधक को आघात देकर अथवा उसके अलावा उसे ऐसी कोई अगम्य सूक्ष्म रीति से । साधक को इस प्रकार से अंतर ही अंतर में किसी न किसी प्रकार का विरोध जगता ही रहता है । वह समझता नहीं होता कि ऐसा क्यों हुआ करता है, परंतु दो बलों के संघर्ष के कारण साधक में ऐसा होगा ही । ऐसी स्थिति का योग्य समय आते ही योग्य जिज्ञासावाला साधक तो स्वयं को जिस पथ पर आगे बढ़ना है, उस पथ के लिए गुरु को क्या क्या अनुकूलता तथा सरलता साधक को ज्ञानभक्तिपूर्वक स्वयं कर देनी होगी, वह सभी समझ जाता है । ऐसा साधक (गुरु की वाणी की सलाह-सूचना बिना) मानो स्वतंत्र रूप से अपनेआप ही स्वयं प्राप्त सभी उलझनों या टकरावों में से वह अपनी सारी पकड़ और कक्षा से धीरे धीरे निकलता जाता है, ऐसी उसे समझ आ जाती है और अनुभव होता जाता है । बालक कहीं भी

खेल रहा हो. तब माँ के अंतर में उसके प्रति सूक्ष्म भान रहा करता होता है, उस तरह गुरु का भाव साधक के प्रत्येक तबके में उसके पीछे रहा करता है । मातापिता के आधार पर वह उनकी ओर से प्राप्त हुई समग्र शक्ति के बल पर बालक अपने जीवन में वेग पा सकता है । सचमुच में अनेक संतान भले ही उसका लाभ नहीं ले पाते, पर वह बात अलग है, क्योंकि ऐसे लाभ की संभावना तो खड़ी ही होती है । वैसे साधक को भी गुरु से हुआ करता है, पर इस सूक्ष्म हकीकत का ज्ञान या भान प्रारंभ की स्थिति में साधक को नहीं होता । ऐसा ज्ञान जब उगने लगता है, तभी साधक आध्यात्मिक जीवन में सही रूप से प्रवेश करने की मात्र शुरूआत करता है ।

प्रारंभ में तो अधूरी श्रद्धा

इसी कारण से प्रारंभ में साधक गुरु के प्रति सभी तरह के संपूर्ण श्रद्धाविश्वास जीवंत नहीं होते । साधक बुद्धि से गुरु का सब स्वीकार करे वह योग्य नहीं है और पर्याप्त भी नहीं है । गुरु के भाव को साधक के प्रत्येक अंग प्रेम, उमंग, शरणभाव से स्वीकार करने योग्य बने या हो ऐसी स्थिति उसके विकास के लिए योग्य होगी । 'समग्र जीवन भगवान के लिए ही है ।' ऐसी जिसे दृढ़ प्रतीति हुई हो ऐसे हृदय की जिज्ञासावाला निष्ठावान साधक आगे बढ़े बिना रह सकेगा ही नहीं । वैसा साधक ही शरणभाववाला गिना जाएगा ।

गुरु के प्रति साधक का आरंभ एवं बाद का भाव

जिसे अपने जीवन के हेतु का अभी कुछ ठीक पता नहीं है या उसका संपूर्ण महत्त्व अभी उसके अंतर नहीं उतर गया है, ऐसा साधक गुरु को यथार्थ रूप से नहीं समझ सकता । इतना ही नहीं, अमुक बार तो अपनी समझ अनुसार गुरु विषयक धारणा बना कर अन्याय भी करेगा । ऐसे साधक को गुरु के सामीप्य से कुछ अधिक नहीं मिलता । उस समय पर समझदार साधक को गुरु का जो कुछ भी समझ में ना आये ऐसा लगे उन सबके लिए अपनी तरह से मन में गाँठ न बाँधनी चाहिए, परंतु हो सके, उतना उन सबके सम्बन्ध में खुलकर रहना चाहिए । इससे, उसे अधिक लाभ होना संभव रहता है ।

शायद कर्मप्रारब्ध के संयोग के कारण कोई निम्न स्तर के साधक के साथ गुरु का संबंध हुआ होगा तो अनेक प्रकार का कठिन परिश्रम उसके जीवन में खड़े करके उसे ऊँचे लाये बिना गुरु रहनेवाला नहीं है । इस काम की परिपूर्णता के लिए काल का प्रश्न उसे नहीं होता । उसे तो अपार धीरज रहती है । फिर, अपने बारे में ऐसा साधक या दूसरे कुछ भी धारणा रखे या माने इससे भी वह पीछे नहीं हटता है । उसे तो कहीं, किसी में भी पीछे नहीं हटना है ।

प्रत्येक विरोधी स्थिति में साधक को रखकर वह तो मात्र देखा ही करता है ऐसा नहीं है, ऐसी स्थिति में उसमें संघर्ष जागे, ऐसा भी वह देखता होता है । साधक को अपना

भान स्पष्टरूप से हो ऐसा कराने में वह कुछ भी शेष नहीं रखता । हालांकि, साधक के हाथ से ही वह होने देता है । उसके पीछे के संयोगों में स्वयं खड़ा है, ऐसा ख्याल भी वह साधक को नहीं जागने दता । यद्यपि ऐसा सदा के लिए साधक के जीवन में नहीं रहेगा । साधक उन्नत भूमिकाओं में गुरु की परछाई पकड़े बिना नहीं रह सकेगा । साधक जब जब इस तरह गुरु को पकड़ लेता है, (गुरु का सूक्ष्म हाथ पहचान लेता है) तब तब उसे अपने जीवन की कृतार्थता होती लगती है ।

आरंभ के साधक पर गुरु की स्थूल समीपता की असर

गुरु जब समीप होता हैं, तब अलग-अलग प्रकृति के अनेक लोगों के साथ उसका व्यवहार कैसा रहता है, उसे देखने का अवसर साधक को मिला करता है सही, पर तब आरंभ के साधक को गुरु के वर्तन में से प्राप्त करने की या समझने की जीवनदृष्टि प्राप्त न होने से उन सभी में उसे गुरु में दंभ, अहंभाव, बाह्य दिखावा और ऐसा ऐसा कुछ कुछ लगा करेगा । मार ठोककर कहो या दूसरी तरह से कहो, पर गुरु अपना प्रभाव, ओजस, महत्ता, शक्ति साधक के दिल में बलपूर्वक मन मैं बैठाना चाहते हैं, ऐसा भी साधक कल्पना करे बिना नहीं रहता । अलग-अलग व्यक्तियों के साथ सापेक्ष रूप से और योग्य ढंग से सरलता से व्यक्त होते जाते गुरु के व्यवहार को भी मात्र आडंबर रूप में साधक मान बैठे ऐसा भी पूरा संभव है ।

गुरु का ऐसे साधक के प्रति प्रतिवर्तन

साधक के अंतर में उठनेवाले इन सभी परिणामों स्पष्ट रूप से गुरु जान जाते हैं, तब भी साधक को भले ऐसा हुआ करे तथापि अपने आचरण का खुलासा गुरु स्वयं भाग्य से ही कभी देते हैं । स्वयं को कोई उलटा समझे तो वह समझने देते हैं, क्योंकि वह जानता हैं कि उसमें उन्हें अपना तो कुछ खोना नहीं होता । फिर, धीरज होती है कि साधक यदि जीवन में साधना को ही महत्त्व दिया करेगा तो आज नहीं तो कल, गुरु का विचित्र या प्रत्यक्ष अयोग्य लगता व्यवहार उसके योग्य रूप में साधक को समझ आएगा ही । गुरु के अनेक पहलू (all sidedness) भले प्रारंभ में साधक न समझे, तब भी उसमें गुरु के प्रति प्रेमभाव और भक्ति यदि रहे होंगे तो गुरु की सही महत्ता साधक देरसबेर भी समझे बिना नहीं रहेगा ।

समीपता से गुरु के प्रति आकर्षण कम हो जाना संभव रहता है । अपनी नजर के सामने ही दिखा करने से साधक का मन उसका विचार करते अटक पड़ता है और उसमें उतना पिरोकर नहीं रहता कि जितना वह दूर रहने पर होता है तब । इस मानसशास्त्रीय सत्य के प्रारंभिक कक्षा का ज्ञान भी गुरु को होने से वे उस साधक के भाव के प्रति समता धारण करते हैं ।

योग्य गुरु के लक्षण

आज सृष्टि में काम और अर्थ का ही साम्राज्य व्याप्त होने से **साधक को खास लक्ष में रखना है कि हमारे माने हुए गुरु से हमारी मानसिक भूमिका क्या उच्च होती जा रही है या नहीं ? ऐसी ऊर्ध्व गति उसके अनुभव में ठोस रूप से आनी चाहिए ।** भले गुरु का माप निकालने के लिए कसौटी रूप उसे वह न गिने और वह वैसा न गिने यह स्वाभाविक भी है, परंतु गुरु का प्रत्यक्ष परिणाम जीवन में यदि अनुभव न हो, तो ऐसे गुरु की पकड़ में रहा करना यह साधक के लिए विघातक भी होगा ।

फिर साधना के किसी क्षुल्लक आदर्श में या अनुभव में इतिकर्तव्यता मना ले ऐसा गुरु भी काम का नहीं । इसके अलावा, साधना के मार्ग में जो जो कुछ बना करता हो, वह सब योग्य बुद्धि से समझ सके इतनी समझ साधक को मिला करती रहे वह भी इतना ही जरूरी है । भले ही अत्यंतिक मर्यादा तक की सूक्ष्म आध्यात्मिक हकीकतों को वह साधक को न बतलाये वह समझ सके वैसा है, परंतु **प्रत्येक साधक के जीवन में उठते सभी आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक प्रश्नों का समाधान योग्य रूप से गुरु करा सकता होना चाहिए ।** इसके अलावा साधक को अपने मन की पकड़ का संपूर्ण ख्याल आ सके इतना तो गुरु द्वारा होना चाहिए ।

गुरुशक्ति का परिणाम

आध्यात्मिक जीवन की सभी वास्तविकताओं और रहस्यों अपने गुरु द्वारा अपनी बुद्धि में साधक धारण कर सके या बुद्धि में धारण कर सकता हो उतना पर्याप्त नहीं है । यों तो अध्यात्मिक परम संतपुरुषों के जीवनचरित्र पढ़कर भी थोड़ा बहुत ख्याल बुद्धि में किसी को भी आ सकता है । (यद्यपि जो साधक प्रत्यक्ष रूप से साधना में थोड़ा बहुत भी गहराई में उतरा हो, उसे उपरोक्त वाचन से अत्यधिक मूल्यवान जानने को प्राप्त होता है । उसे तो उस अनुभव की बात असर करेगी । आगे बढ़े साधक को तो अपने गुरु विषयक तथा अपनी साधना विषयक अधिक समझ बैठती जाएगी । जिसमें ऐसी समझ आ जाती है, उसका मन साधना में रस लेता हुआ है, ऐसा अवश्य मान सकते हैं ।) पर बुद्धि से आध्यात्मिक जीवन का रहस्य समझ में आये इसके अलावा, गुरु उसका मन किस तरह से शांत बना सके, विचारों की परंपरा से संदिग्ध होते रुक सके ऐसे अनेक व्यवहारु उपाय बतलाएँगे और उसे वैसा करने के लिए प्रेरित करेंगे ।

एक बार गुरु की चेतनाशक्ति साधक के जीवन के साथ जुड़नी शुरू हो गई, बाद में तो साधक को अपनेआप ही उसमें से हल होता लगा करेगा । साधक किसी भी स्थिति में पड़े रहना स्वीकार नहीं करेगा । यदि पड़े रहना हुआ करे (स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप से) तो साधक को समझना कि

स्वयं कहीं रूढिग्रस्त हो गया है । एक के एक विचारों के संघर्ष में वह कभी नहीं रहेगा । छोटी-छोटी बातों को या जीवन की साधना से अलग किन्तु महत्त्व के प्रश्नों को वह योग्य महत्त्व देगा तो सही, पर वह सारा ही काम साधना का विकास हो इस तरीके से ही किया करेगा । ऐसे सब ख्याल और अनुभव गुरु के जीवनआदर्श से ही उसे मिला करेंगे । साधक प्रारंभ में कोई शरणभाववाला नहीं होता, परंतु गुरु की चेतनाशक्ति से कहो या साधक के पुरुषार्थ के बल द्वारा कहो (दोनों भी हो सकना पूरा संभव है) उसे ऐसा शरणभाव प्रकट हुए बिना नहीं रहेगा ।

शरणभाव

शरणभाव जिसे जागता है, वह साधना के मार्ग पर चल चुका है ऐसा समझें । जो भी साधक जागृति रखकर अपने जीवनविकास का माप सहजता से देखा करता होगा, उसका किसी बात में अकल्याण होना संभव नहीं रहता । साधक संपूर्णरूप से साधना में ही मुख्यतः झुकाव दिया करता होगा, तथापि उसका परिणाम सरलरूप से, सहजरूप से होता जाता और ऊपर स्पष्ट दिखाई देता उसके ख्याल में आना ही चाहिए, तभी कैसे भी गुरु की पकड में फँस जाना उसके लिए संभव नहीं होगा । यदि कोई गुरु ऐसा कहे कि 'तुम मुझ में ही श्रद्धा रखो, संपूर्ण विश्वास, शरणभाव और समर्पणभाव रखा करो, सब अपने आप हो जाएगा और किसी धन्य क्षण में

आत्मसाक्षात्कार हो जाएगा ।' तो समझ लें कि ऐसा कहना यथार्थ नहीं है ।

गुरु के जीवंत संसर्ग से आत्मसाक्षात्कार की प्राथमिक श्रेणियों का स्पष्टीकरण, निश्चित भान और दर्शन यदि न हो तो ऐसा मान लेने से पहले साधक सौ छन्ना छानकर पानी पीये, तो उसमें वैसे गुरु के प्रति अन्यथा भाव है, ऐसा गुरु को मानने का कोई कारण नहीं है। सूर्य के उदय होने से पहले जैसे अनेक सुविदित चिह्न हैं ही, वैसा इसमें भी है ही । यानी कि वैसी अंतिम छोर की स्थिति आने से पहले साधक की प्रकृति या स्वभाव का कुछ भी रूपांतर होता जाता यदि उसे न अनुभव कर सके तो उसे दरकार रखकर वहाँ ठिठकना चाहिए और गुरु के साथ बैठकर अपने ढंग से उनके साथ समझ लेना चाहिए । अर्थात् **साधक को किसी भी प्रकार का संकोच या अंतर गुरु और अपने बीच नहीं रखना चाहिए ।**

गुरु के प्रति सम्मान

यदि गुरु अपने साधकों के पास से खूब आदरभाव और पूज्य भाव की अपेक्षा रखे तो वैसी वृत्ति गुरु के लिए योग्य नहीं है । मान, प्रेम, आदरभाव, पूज्यभाव – ये सारे लक्षण तो साधक की साधना के परिणाम स्वरूप व्यक्त होने चाहिए। गुरु के प्रति सम्मान, पूज्यभाव तथा उसकी चेतनाशक्ति की महत्ता प्रारंभ में साधक को नहीं होती । वह तो जैसे साधना में वह पिरोता जायेगा वैसे-वैसे अपनेआप आये बिना

नहीं रहेंगे । इससे गुरु की समीपता योग्यतावाली और फलदायी उतने ही प्रमाण में गिन सकते हैं कि जितने प्रमाण में साधक का समग्र जीवन उसकी चेतनाशक्ति के साथ जुड़ता जाए और उसका दैवी लाभ उठाया जाए । साधक को ही इस बात में लक्ष रखकर उसमें प्रयत्न किया करना है, उसे वह बार-बार ख्याल में रखना पड़ेगा ।

सच्चा संबंध

बहुतों को ऐसे तो हम मिलते ही रहते हैं, पर उन लोगों के विचार हमें आते नहीं हैं । इससे उनके साथ का संपर्क कुछ भी हुआ नहीं ऐसा कहलायेगा । संपर्क हो और संबंध भी हो तब उसके विचार जागते रहते हैं और संबंध तभी होता है कि जब हमारा उसमें और उसका हम में कोई रस रहा हो । जैसे-जैसे रस प्रकट होता जाता है और जमता जाता है, वैसे-वैसे एक प्रकार की आसक्ति जमती है और उसमें से वह राग का रूप वह लेती है । इससे उसका बार-बार चिंतवन भी रहता है, परंतु उस भाव में स्थूलता रही होने से तथा भीतर में रहा अंदर का-अंतर का हेतु भी वैसा ही होने से हमारी स्थूलता उसमें बढ़ती है, यानी कि वैसी भावना गाढ़ होती है और उस वातावरण में ही उतरते जाते हैं । हमें आमने-सामने यों एक ही प्रकार का लेनदेन रहा करता है । इससे अलग प्रकार के प्रवाह Currents वहाँ कभी नहीं जमते । इससे उससे भी पर होने की या रहने की समझ, चेतना, भान,

Consciousness हमारे में जानने का या जमने का संभव ही नहीं रहता है । इससे जिसे अंतर्मुख होना है, भगवान की शरण में रहना है अथवा ऊर्ध्वगामी जीवन स्वयं में उद्‌भवित करना है, उसे इनके साथ संपर्क रखना आवश्यक है कि उसके संपर्क और संबंध के परिणाम से स्वयं में ऊर्ध्वगामी प्रवाह टकराये और जन्मे ऐसा व्यक्ति, विभूति, निरासक्त और भगवान की भावना में सदा रत रहने से साधारण मनुष्य में जो रागात्मक प्रवाह पड़े हुए हैं, उससे उच्च कोटि के प्रवाह उस मनुष्य में टकरायेंगे (यद्यपि साधक को प्रारंभ में तो उसका भान भी नहीं होता । पर आगे जानेवाली भूमिकाओं में इसकी जानकारी उसे होती है ।) और एक प्रकार का मंथन साधक में होगा ही । इस प्रकार, आमने-सामने रागात्मक और अरागात्मक प्रवाह जागते रहने के कारण उसकी चेतनाशक्ति में जरूर अंतर पड़ने लगेगा । इसके लिए हमारे में गुरु की प्रथा पड़ी होगी । हमारे दूसरे संबंध पार्थिव होने से—हमारा परस्पर कोई न कोई प्रकार का रागात्मक हेतु ही होने—से ऐसे संबंध हमें पार्थिवता से ऊपर नहीं ले जा सकते । **गुरुशिष्य के बीच के संबंधों का हेतु ही शिष्य की चेतना जगाने के लिए है ।** अतः वह संबंध ही ऊर्ध्वगामी हो सकता है ।

गुरुप्रेम का महत्त्व

जैसे संपर्क या संबंध अकेले से सामने व्यक्ति का हमें चिंतन नहीं होता, पर उसमें जब राग या आसक्ति जागती है,

तब उस व्यक्ति का चिंतन हुआ करता है और जैसे–राग अधिक वैसे चिंतन भी एकात्मभावना का अधिक रहता है– वैसे ही ऐसे संतात्मा गुरु के प्रति भी यदि खूब प्रेम बढ़ा करे तो उसका चिंतन भी जरूर सविशेष रहा करता है । गुरु के प्रति प्रेम का हेतु हमारी चेतना—consciousness—जगाने का, जगाकर क्रियात्मक बनाने का और ऐसा होते होते हमारा सर्वांगी दिव्य रूपांतर होनेवाला है । इससे, गुरु प्रति का प्रेम उत्कट होना चाहिए । इतना ही नहीं, पर उसके प्रति की भावना में हमारी जीतीजागती Consciousness-चेतना भी रहनी चाहिए । इस संबंध के हेतु में भी संपूर्ण रूप से सतत ज्ञान और भान होना चाहिए । हेतु का ऐसा ज्ञान और भान के अलावा गुरु के प्रति हमारा भाव Responsive and receptive (क्रियात्मक सहकारवाला और ग्रहणात्मक) होना चाहिए । सही आतुरतावाले भाव, वृत्ति और दृष्टि हमारे में केन्द्रित और हृदयस्थ रहने चाहिए ।

एकाश्रय का महत्त्व

पवित्र आत्माओं का संपर्क, संबंध और प्रेम में साधक जितना रहेगा उतना अच्छा ही है, पर वह भाव जितना केन्द्रित हुई दृष्टिवाला होगा उतना अधिक लाभदायी है । नहीं तो इतने सभी के साथ के संपर्क और संबंध में भी उसकी वृत्ति और शक्ति बिखर जाएगी, बंट जाएगी, Dissipate हो जाएगी,

'बहुशाखा' होकर बिखर जायेगी और इससे उसमें गड़बड़ होने की संभावना रहेगी । इसी कारण से साधक की दृष्टि, वृत्ति और भाव गुरु में केन्द्रित करने तथा रखने के लिए ही कोई परम दृष्टि से 'गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णु' वाले श्लोक की रचना की होगी ।

जो किसी **जीव** में जीवन के अंतिम ध्येय के प्रति ज्वालामुखी के जैसी धधकती तमन्ना जागी हुई है, ऐसे **जीव** को तो उसके हृदय की तमन्ना गुरु को उसके पास प्रत्यक्ष खींच लाएगी । ऐसे साधक को गुरु को खोजने नहीं जाना पड़ेगा । **सच में तो गुरु यह कोई बाहर की भावना नहीं है ।** गुरु-शिष्य दो होने पर भी एक ही है । ऐसा भाव जब साधक के हृदय में प्रेमभक्तिज्ञानयोग भाव से, उत्कटता से दिल में जगता है, तब उसके हृदय में गुरु जीवित हो जाता है ।

गुरु का महत्त्व जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में है । सब कोई, किसी न किसी के पास से कुछ न कुछ सीखता रहता है । प्रत्येक को किसी न किसी के पास से मार्गदर्शन मिला करता है । हर विषय और बात से आध्यात्मिक मार्ग यह तो सूक्ष्म से सूक्ष्म विषय है । जगत के व्यवहार में प्रत्येक बात में सभी को किसी न किसी के पास से सीखना होता है, तो आध्यात्मिक मार्ग में गुरु की आवश्यकता अनेकगुनी अधिक है । **आज के युग में गुरु की भावना कहीं नहीं है या नहीं कहीं शिष्य की भावना । सभी को मेहनत के बिना, तपस्या के बिना,**

आलसी की तरह बैठे बैठे खाना है । अध्यात्मिक मार्ग में ऐसे किसी *जीवों* को स्थान नहीं है ।

गुरुप्रेम और अन्य प्रेम में भेद

आसक्ति की भावना में अधिक संलग्न होने, जकड़ जाने की वृत्ति है, परंतु गुरु की प्रेमभावना में सात्त्विकता और उससे भी पर की सूक्ष्मता होने से वह अधिक से अधिक चेतना के प्रदेश में ले जाने के लिए हमारे में भावना को जन्म देती है । तथा, उसे स्वीकार करने की दृष्टि, वृत्ति और भावना भी (अपने में गुरु के प्रति प्रेम रहा होने से) रहा करती है । ऐसा हमारा गुरु के प्रति जागा हुआ साहजिक प्रेम हमारे हृदय को उनके हृदय के साथ जोड़नेवाला पुल है । इस पर से हम सरलता से दूरी होने पर भी, अंतर में आना जाना करते हैं । ऐसे प्रेम की भावना में बिलकुल शुद्धता रहा करे, अन्यथा विचार प्रकट नहीं होते और सतत सरलता रहा करे तो हम एकदूसरे का हृदय समझे बिना नहीं रहते । ऐसी भावना हमारे हृदय के प्रेम को साध लेती है ।

गुरु के भाव की अपार शक्ति

गुरु का भाव क्या न करे ? वह प्रेरक बल के रूप में काम किया करता है, हमें अंतर में अंतर से गहरे से गहरे ले जाएगा, हमें एक ही स्थिति में पड़े रहने न देगा, हमें नये नये भावप्रदेश में धकेला करेगा, नया नया कुछ न कुछ हमें सुझाया करेगा, हमारी भावना को अंतःस्थ रखा करे और विस्तृत भी

साथ ही साथ बनाया करेगा । **गुरु का शरीर यह हमारा साधन नहीं है । हमारा साधन तो गुरु की भावचेतनाशक्ति हैं ।** इंजन में उद्‌भव होता बाष्प जिस तरह आगगाड़ी के डिब्बे माल और यात्रियों को निश्चित किये स्थान पर ले जाते हैं । इस तरह गुरु की भावनाशक्ति—यदि हम में वैसा सच्चा प्रेम-आदर-भक्तिभाव हो तो—काम किया करती है ।

साधक का लक्ष यदि गुरु की चेतनाशक्ति में केन्द्रित एकाग्र और एकांगी हो गया हो तो उस चेतनाशक्ति के दर्शन और प्रेरणा उसे मिला ही करेंगे । ऐसे साधक को गुरु के प्रत्यक्ष शरीर की कभी भी आवश्यकता नहीं रहेगी और जहाँ तहाँ से उसे जो कुछ प्रेरणा और समझ मिलेगी वह दिव्य चेतनाशक्ति है, ऐसा उसे अनुभव होगा, होता रहेगा, परंतु जो समझ या प्रेरणाएँ साधक को मिले वे साधक के प्राण को रचनात्मक मदद और वेग देनेवाली हो, उसकी असर को उलटे रास्ते ले जानेवाली न हो, उस विषय में साधक को सूक्ष्म जाग्रत विवेक किया करना पड़ेगा सही, क्योंकि जो चेतनाशक्ति के साथ हमारा संबंध हुआ है, वह चेतनाशक्ति व्यक्त रूप से शुद्ध सरलता से हमारे साथ काम नहीं ले रही होती है । हमें वह कभी दूसरा भी बतलाये और उस समय हमारी कसौटी होना पूरा संभव रहे । तब हम यदि पूरी तरह सचेत और जाग्रत रह सकें हो और योग्य सूक्ष्म विवेक कर सकें तो मार्ग में से हम च्युत नहीं हो सकेंगे । इस कारण से

जिसकी श्रद्धा ऐसे गुरु की चेतनाशक्ति में दृढ़ हुई है, उसे कभी भी विवेकशक्ति का उपयोग नहीं ही करना या बुद्धि का उपयोग नहीं करना चाहिए, ऐसा मान लेना वह ठीक नहीं है । हमें अपने में संपूर्ण समझ, तुलनात्मक शक्ति, प्रत्येक परिस्थिति में स्वयं का क्या धर्म है, वह समझ लेने की सहज शक्ति तथा जो तो समय खड़ी होती उलझनों का हल और वह भी आगेपीछे का विचार किये बिना अपनेआप सरलता से हुआ करे, ऐसी सूझ-ऐसा हमारे अपने में उगाने के लिए गुरु की चेतनाशक्ति है । **वह शक्ति हमें पराधीन नहीं रखना चाहती,** परंतु सहजता, स्वतंत्रता से हमें ऊपर का सब सूझा करे ऐसा बनाने यानी कि अपने जैसा ही चेतनाशक्तिवाला बनाना चाहती है ।

गुरुकृपा और शिष्यों का प्रयन्न

अभी तक योग्य स्वरूप में, जहाँ तक हम अपनेआपको पूरी तरह समझ नहीं पाये, हमारी उलझनें पूर्ण हल न हुई हों, योग्य समय पर योग्य तरह से कुशल कर्म करने के कला-कौशल हमें नहीं मिले, (यह सहज-स्वभाव पूरा नहीं बना है ।) अब जहाँ तक असमंजस हुआ करता हो, जीवन का मार्गदर्शन संपूर्णता से समाधान वृत्तिवाला न हो सका हो, हमारे गुरु के शब्द अभी तो जहाँ तक कान में ही रहा करते हो, भले ही थोड़े बहुत अंश में वे ग्रहण भी हुए हों पर किस तरह वे सत्य हैं, वह हमें संपूर्ण स्पष्ट दीये जैसा जहाँ तक

न दिखा करता हो, वहाँ तक हमें सतत प्रयत्न करते ही रहना पड़ेगा । यद्यपि गुरु तो अपने जैसी ही दृष्टि प्राप्त हो, अपने जैसी ही स्थिति में वह सदा ही रहे, इतना ही नहीं, पर उससे भी आगे जाएँ तो ऐसी महदिच्छा, आकांक्षा, तत्परता, शिष्य के विषय में सेवन करते होते हैं, पर जहाँ तक साधक की कक्षा उपरोक्त बतलायी वैसी हो, वहाँ तक साधक केवल गुरु की कृपा पर ही सारा आधार रखा करे तो इससे अपने सत्प्रयत्न में वह ढीला पड़ जाय ऐसा पूरा संभव रहता है ।

गुरुकृपा जैसा कुछ होगा तो हमारा सत्प्रयत्न उसे खींच लाएगा ही । फिर, सही रूप से साधक या शिष्य सब तरह और सब भाव से गुरुकृपा पर आधार नहीं रख सकता होता । वह तो उसे खाली भ्रमणा ही होती है । स्वयं कुछ करे भी नहीं और शुद्ध हुए आधार बिना गुरु की कृपा पर उसका आधार भी न हो, वैसे **जीव** की स्थिति महाभयंकर होनेवाली है । इससे, अपने से होते जाते सभी सत्प्रयत्न में ही साधक या शिष्य को व्यवहार करने में सचमुच का कल्याण मानना है । हमारे **जीव** की जीवन की प्रत्येक जड़ता में सात्त्विक गति प्रेरित हो और उसमें भावपूर्वक की ज्ञानयुक्त परिस्थिति उगे तो ही हम में फर्क पड़नेवाला है । साधक का हृदय से होता सत्प्रयत्न, वह सब तो प्रत्यक्ष है । गुरुकृपा तो हो या न भी हो । इससे हमें तो हमारा जो स्पष्ट ध्रुव हो, उसे ही संपूर्णरूप से हृदय की भावना से मजबूत पकड़कर रखना है ।

जिसमें जीवन के प्रति गहरी तमन्ना जगी हो और इससे प्रेरक जीवन्त भावना व्याप्त हो । ऐसी भावना मात्र पड़ी न रहे पर उसमें क्रियात्मक रूप से वेग आया हो और जिसे जीवन की सही दृष्टि अनुभव करने की हृदय में हृदय से भारी प्यासी चाहना हो, वैसों को उस कारण से गुरु ने जीवन की सही दृष्टि और सही मार्ग बतलाया हो, उसके प्रति योग्य भाव दिया हो । उनकी **जीव**स्वभाव की समझ में और उनके **जीव**स्वभाव के प्रत्येक पहलुओं और दृष्टिकोण में मूल को पलट कर करके नवजीवन दिलवाया हो, इससे ऐसे **जीव** गुरु के प्रति कृतकृत्य होने का भाव हृदय से अनुभव करे वह समझ सकें ऐसा है । ऐसे **जीव** गुरुकृपा का मूल्य अपने सत्प्रयत्न और भावना के क्षेत्र से भी अलग होकर हृदय से माने तो उसे भी शायद समझ सकें ऐसा है और गुरुकृपा को एक स्वतंत्र ठोस हकीकत तक की मर्यादा में भी ले जाने का स्वीकारें तो वह भी कुछ अंश में योग्य गिन सकते हैं, किन्तु यदि साधक उसे ही महत्त्व का स्थान दे करके अपने सत्प्रयत्न में पूरी तरह जागृत न रहे तो उसमें ढीलापन अवश्य आ जाएगा । अपने सत्प्रयत्न में वह अदम्य रूप से तनदिही-खेवना हृदय से रख करके मंथन किया ही करता जाएगा और ये सब गुरु की कृपा से होता रहता है ऐसी धारणा हृदय से रखा करेगा तो उसमें निरभिमानता भी बढ़ा करेगी और पुरुषार्थ में भी ढील नहीं आएगी ।

गुरु की कृपा यह तो साधक द्वारा होते जाते पुरुषार्थ की भावना से फलित होता भाव है अथवा तो बहुत हुआ तो वे दोनों भावनाएँ एकरूप से परस्पर जुड़ी है । गुरुकृपा का, साधक स्वयं प्रयत्न किये बिना, मूर्ख की तरह भ्रमात्मक रीति से, एकमात्र कल्पनात्मक आश्रय रखा करेगा तो इससे उसे कुछ मिलनेवाला नहीं है । जीवन में प्राप्त होते अनेक प्रसंग और उनके प्रति साधक के धर्म साधक को स्वयं ही करना होगा । उसमें उसे गुरुकृपा धकेलेगी ही ऐसी अपेक्षा– स्वयं के द्वारा उस उस क्षेत्र में प्रयत्न किये बिना या उस प्रकार की उत्कट भावना हृदय से सेवन किये बिना रखा करें यह तो मृगजल समान है । यदि वैसे प्रकार की अपेक्षा रखें तो उस अपेक्षा को योग्य साधक को अपनी कक्षा, ज्ञानभक्तियोग भावपूर्वक करके, रखना ही होगा । जो अपेक्षा हो उसे योग्य यथार्थ रूप की भूमिका हो तो ही वैसी अपेक्षा रख (परिणाम प्राप्त कर) सकेगा । उसके बिना अपेक्षा हो या रखना, इसे मात्र भ्रमणा समझें । इस प्रकार की निरर्थक भ्रमणा रखने से किसी भी **जीव** का कुछ भी नहीं होनेवाला, इसे निश्चित समझे । इन सभी का अर्थ ऐसा नहीं कि गुरु के प्रति कृतज्ञता से हम भावना न रखें । वह तो यदि हम हृदय से तमन्नापूर्वक साधना में लीन हुए होंगे तो गुरु के प्रति कृतज्ञता की भावना अपनेआप फलित होनेवाली ही है ।

साधक में अपने जीवन की उच्चतर भूमिकाओं में जैसे जैसे भावपूर्वक प्रवेश जिस जिस प्रकार का हुआ करेगा और

उन-उन कक्षाओं की खूबी उसे जैसे जैसे उसे अनुभव में आती जाएगी, वैसे वैसे उसमें कृतज्ञता की भावना तो बढ़ा ही करेगी । कृतज्ञता की भावना—मुश्किल से—कृत्रिम रूप से—बढ़ाने का कोई अर्थ नही, बढ़ भी नहीं सकती । इस प्रकार, गुरु के प्रति कदरभक्ति की भावना यह तो अपनेआप हृदय से हृदय में अनुभव करने की सच्ची घटना है-हकीकत है ।

सद्‌गुरु योग्य रूप से कब समझ में आएँगे

किसी भी मनुष्य के विचारों को उसके लेख या पत्रों के अध्ययन से या उसके तत्त्वज्ञान की समझ से भी हम पूरी तरह नहीं जान सकेंगे । उसके लिए उनका निकट का सहवास जरूरी भले हो, परंतु वह भी पर्याप्त नहीं है । सतत निरंतर अभ्यास और हृदय की भावना से सेवन किया हुआ सहवास, इसके अलावा, उनका हृदय समझने और उनके जीवन की समग्र, लगातार और सर्वतोमुखी जीवनसारणी, भावसारणी और विचारसारणी की इमारत किस नींव पर रखी गई है, वह जानने, समझने और अनुभव करने का हमारा नम्रभाव से, जिज्ञासापूर्वक हृदय का प्रयत्न होगा, तो ही उनके जीवनमूल हमें शायद हाथ लगे और यदि हाथ लगे तो तथापि वे भी संपूर्ण तरह योग्य ढंग से तो नहीं ही ।

इससे, साधक स्वयं में होते परिवर्तनों को सत्य यथार्थरूप में अनुभव करेगा, तभी उसके दिल में गुरु की उपयोगिता का

अधिक से अधिक सूक्ष्म स्फोट हृदय से होता जाएगा । जैसे जैसे साधक अधिक से अधिक सूक्ष्म चेतनाभूमि में प्रवेश पाता जायेगा वैसे वैसे स्वयं की प्रकृति और बाहर की प्रकृति के दर्शन उसे होंगे सही, पर उस समय वह उससे अलिप्त रहेगा । उसमें वह फँसेगा नहीं । यों प्रत्येक प्रयत्न करते हुए **जीव** को अपने जीवनविकास को मापने के लिए कोई एक प्रकार का गज उसके स्वयं में उग जाना चाहिए कि जिससे वह बार-बार स्वयं को अनुभव द्वारा मापा करेगा, और तो ही वह योग्य रूप से जीवन में गति कर पाएगा और ऐसा होने पर गुरु या गुरु की भावना का महत्त्व, रहस्य और उसका आकलन योग्य ढंग से उस समय वह हृदय से कर पाएगा ।

साधक का कार्य

साधक का आकर्षण गुरु के प्रति बढ़ता जाता है, वैसे अनेक गुणों का उसे आश्रय लेना होता है, पर वह मात्र साधन रूप में ही, न कि उसमें फँस जाकर अन्यथा वह साधक का अनगढ़पना ही गिना जाएगा । गुरुभाव के प्रति अपना समग्र जीवन का दृष्टिबिन्दु विकसित हो, उसके लिए साधक हृदय से भावपूर्वक अनेक उपाय करता होता है । वह किसी न किसी ढंग से अपने नकारात्मक स्वभाव का रूपांतर करने का ख्याल रख करके बालक जैसे माँ की गोद में आराम और मस्त दशा में सोया रहता है वैसे वह हृदय की उत्कट भावना से गुरु के शरणभाव में साधक पड़े रहने का ज्ञानभाव से करे

तो **जीव**स्वभाव का परिवर्तन होना बहुत सरल हो जाएगा और ऐसे प्रेमभक्तिज्ञानयोग का गुरु के प्रति शरणभाव में शरण गये हुए को मात्र समर्पण ही किया करना रहता है । हृदय के भावपूर्वक के ऐसे समर्पण यज्ञ में वह स्वयं सतत आहुति दिया ही करता है और उस तरह वह पवित्र होता जाता है । इस कारण से समर्पण की अनेक रीतों में से एक रिवाज गुरुचरण में कुछ न कुछ स्थूल और सूक्ष्म समर्पण करना पड़ा हुआ होगा । **उस भेंट रखने के उद्देश के पीछे यदि साधक के जीवनविकास का ख्याल प्राणवान उसके दिल में न रहे तो वह योग्य नहीं है । साधक ऐसा माने कि मैंने गुरु को इतनी सारी भेंट रखी इससे मेरा कल्याण हो ही जाएगा, तो वह एक भ्रम है ।** इस तरह साधक का कल्याण कभी नहीं हो सकता । भेंट या समर्पण के अंतर में जो सूक्ष्म हेतु है, वह साधक ज्ञानभानपूर्वक यदि हृदयस्थ न रखे तो उसके **जीव**स्वभाव का अहम् भी बढ़ना संभव रहे और उसके द्वारा साधक, गुरु केवल अपना ही है ऐसा मानने को ललचाया करे । यों समर्पण की भावना के पीछे भी गुरु के प्रति साधक के हृदय का भावआकर्षण बढ़े तथा उसके द्वारा साधक अपने में शरणभाव जागता अनुभव करे और उसका ऐसा लाभ लेने लगे ऐसा समझपूर्वक का उसमें हेतु हो, तभी वह योग्य माना जाएगा ।

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

सत्कार्य-कदरभक्ति

(शिखरिणी - मंदाक्रांता)

पूज्य... साहब,

किया हुआ सत्कार्य मनहृदय के प्रेम सद्भाव से जो,
प्रवेश कराता है वह मन की गति को क्या प्रदेश में विशेष से !
किया ऐसा जो तुम्हारे हृदय के प्रेम-सत्कार्य से वह,
मिला मानता हूँ मौका शुभ मुझे उर संबोधने को ।

(अनुष्टुप)

किस किस तरह से दुलारा दिया करे वह निमित्त,
प्यारे को संलग्न करने स्मृति मुझ विषयक हृदय में ।
किया किसी का काम मिथ्या न व्यवहार में,
तो मिथ्या कैसे वह हो परमार्थिक भाव में ?

(मालिनी)

स्मरण रसीला प्यारा, जो होने भक्तिभाव से,
लत हृदय में लगी, प्रेम के वह प्रभाव से,
स्मरण, मुझ प्रभु के जो निमित्त से मिले,
प्रिय स्वजन मुझे सभी, उन्हें मिला दूँ वहाँ ।

(अनुष्टुप)

प्यारे पर मेरा प्रेम-दावा कुछ नहीं,
तथापि जो उपजे उसे प्रभु को सौंपूँ भाव से,
'योग्य जो करना लगे उसका, वह करेगा प्रभु,'
ऐसे निश्चिंत भाव से प्यारे के पद में रखूँ ।

(शिखरिणी - मंदाक्रांता)

तुम्हारे सद्‌भाव से मुझ प्रभु का काम कैसा किया है !
सदा हृदय में असर मुझे जागते, भाव जागे,
और उस शक्ति से प्रभुचरण में आपको कर संलग्न,
भजता उसे भाव से मनहृदय में आपका लक्ष्य लाकर ।

(अनुष्टुप)

शांति, प्रसन्नता रहना जीवन-क्षेत्र-कर्म में,
दिल में उतारें **भाव** मिले हुए कर्म में सदा ।
भावना शुद्ध जिसकी है उसका खोये न कुछ,
जो विषयक भावना शुद्ध संशुद्धि उसकी होती है ।

(मालिनी)

रसिक मुझ प्रभु ने आपकी भेंट दी,
अनहद प्रभु की यह कृपा-लाभ कैसा !
जग-जन-में जिसका भाव नहीं पूछा जाता,
तुम्हारे कर के प्रसाद से हुआ भोग्य कैसा !

(अनुष्टुप)

जिसमें न ठाँव ठिकाना, रूप या रंग, न कुछ,
ऐसे को क्या नवाजकर आपने और सजा दिया !
आपके अंदर के प्रभु को उस भाव-कृतज्ञता से,
प्रणाम करूँ बार-बार मैं चूमने चरण प्रेम से ।

एलिसब्रिज ता. १५-७-१९४५

● ● ●

सत्संग का स्पर्श

॥ हरिः ॐ ॥

सायला

ता. ००-०८-१९४५

पूज्य मासी माँ,

आपका ता.....का पत्र मिला है । ऐसे अनुष्ठान किया करने से मनुष्य **जीव** कोई अचानक शिव नहीं हो जाता । मात्र इतना ही है कि उस **जीव** की गति क्रियात्मक स्वरूप से होने की संभावना उसमें से मिलती है ।

कृपा करके इतना जानों कि यदि मन में कोई वृत्ति उठते ही वह स्थगित-Static-या स्थितिचुस्त नहीं रह सकती तो सद्भाव या सद्वस्तु के संबंधी वृत्ति या भावना स्थगित कैसे रह सकती है ? परंतु दोनों प्रकार की वृत्तियों में अंतर रहता है । एक है प्रकृति से जन्मी हुई वृत्ति, दूसरी वृत्ति भी यदि मात्र वैसी ही हो और गुणात्मक भूमिका पर से सेवन की जाती होगी और वह भी मात्र एक वृत्ति की दृष्टि से, तो उसमें से **जीव** को तात्कालिक तत्त्वलाभ होने का अवसर कभी जन्म नहीं ले सकेगा । सत्संग आदि भावना से क्रियात्मक शक्ति का प्रवाह जन्म न ले सके तो मानव **जीव** को सोचना चाहिए । उसके चिंतन का प्रपात सतत निरंतर बहते रहना चाहिए । जिस मार्ग पर जाना है, उस मार्ग पर **जीव** का दृढ़, निश्चयात्मक भाव एकाग्रता से केन्द्रित नहीं हुआ है, यही उसका अर्थ निकल सके । फिर, इससे ऐसा भी लगता है कि

उस **जीव** का ध्येय भले ही प्रभुभाव प्रति दिखाई देता हो, परंतु उस ध्येय के प्रति जीवन का आधारभूत, स्थिरतापूर्वक का भाव अभी नहीं हुआ है केवल दिखावटी बृद्धि द्वारा ही सत्संग की प्रवृत्ति में रस लिया जा रहा है । इतना भी रस वह **जीव** लेता है, उसका कारण तो उसके अंतर का सूक्ष्म अनुराग वह सत्संग की प्रवृत्ति की ओर है वह है, पर उस सूक्ष्म अनुराग को जीवन में, जीवन के सभी क्षेत्रों में, सर्वव्यापी सर्वभक्षी चेतनात्मक स्वरूप में बनाने की कला हस्तगत करने का सद्‌भाग्य तो जिसे सही जीवन की धधकती भूख लगती है वे ही पा सकते हैं ।

मानव का मन

जीवन का चिंतन किये बिना अथवा तो उसका निरंतरता से कोई न कोई रीति से चलाये बिना मानवी का मन नहीं पिघल सकता । सद्‌भावना की भूमिका होनी यह एक वस्तु है और उसे जीवन के परिणाम या परिपाक में काम करवाने—अनुभव होते—देखना यह दूसरी बात है । ऐसी सद्‌भाव की भूमिका मिली होने पर भी जो **जीव** कुलबुलाता (हिलता-डुलता) नहीं, वह प्राप्त पूँजी होने पर भी भिखारी की दशा में पड़े रहने जैसा करता है ।

सद्‌भावी *जीव* का कर्तव्य

यदि ऐसा सचमुच हो तो ऐसे **जीव** को क्या करना ऐसा प्रश्न सहज ही उठता है । ऐसे **जीव** को भावना का जोर

देकर, बुद्धि का उपयोग करके, जीवन के सभी प्रसंगों में, संबधों में, आचरणों में प्रभुभावना की धारणा जीवित रखवाने या रहा करे, उस तरह का व्यवहार करने के लिए भगीरथ प्रयत्न करना चाहिए । कोई कोई जगह पर पानी निकट में होने पर भी उसके ऊपर की सतह ऐसी कठोर पत्थरवाली होती है कि सुरंग फोड़ने पर भी वह नहीं टूटती । हमारे एक आश्रम में एक ऐसी भूमि की परत आई थी । पानी एकदम नजदीक है ऐसा स्पष्ट लक्षण लगने पर भी पत्थर का ऊपरी स्तर सुरंग करने पर भी न टूट सकता था । दो चार जगह वैसा करना पड़ा और अत्यधिक मेहनत के बाद वह ठीक कराते पानी निकला । जिसे सद्वस्तु के प्रति भावनायुक्त समझ है, जिसने संत जीवात्मा का सत्संग पाया है, उस **जीव** को पड़े रहा देखकर दिल में दुःख का कम्पन होता है ।

सत्संग का स्पर्श

तो क्या जो सत्संग की भावना युगयुग से समाज में चली आ रही है, और जो भावना आज भी मरी नहीं है, वह भावना सच्ची या गलत ? यदि उसे सच समझें तो त्रुटि हमारी या सत्संग की ? यदि सत्संग की त्रुटि गिनें तो ऐसे संत जीवात्मा की वर्तमान दशा हमें स्पष्ट सूचित करेगी कि वे अपनी दशा में मस्त जैसे हैं ही और आत्मदशा के प्रत्यक्ष लक्षण उनके जीवन में या उनके परिचय में आये हुओं को प्रत्यक्ष अनुभव से समझ में आये ऐसे होते हैं । यदि वैसा उनके बारे में हमें लगे तो फिर हमारी सद्भावना उनके विषय

में पूरी होने पर भी हमारी वह भावना भगवान की क्रियात्मक शक्ति के प्रवाहरूप क्यों नहीं बनी ? यह प्रश्न भी उठता ही है, पर चाँदी पर सोने का मुल्लमा चढ़ता है, पर उपयोग में आने से वह मुल्लमा उतर जाता है, इस तरह सत्संग का प्रभाव तो पड़े पर वापिस मनुष्य **जीव** संसार में पड़कर उसका सेवन, चिंतन भावना के स्वरूप में बनाये नहीं रख सकते । फलस्वरूप, आया या चढ़ा हुआ भाव का स्पर्श बिलकुल फीका हो जाता है और वह मनुष्य **जीव** स्वयं खाली का खाली रह गया हो ऐसा उसे लगता है ।

तो क्या सत्संग का स्पर्श भी फीका पड़ जाय ? क्या वह भी ठोस वस्तु नहीं है ? ऐसा प्रश्न भी उठे । उत्तर यह है कि सत्संग के स्पर्श के संस्कार मनुष्य के अंतर में पड़ना यह एक बात है और वह स्पर्श उसके वर्तमान जीवन में काम करता हो जाय यह दूसरी बात है । और, वह ऐसा काम करता किस तरह से हो जाय यह फिर अलग ही बात है ।

सत्संग का स्पर्श (अर्थात् कि उसकी वर्तमान जीवन में परिवर्तनकारी असर) यह कोई एक तरफ के बल का परिणाम नहीं है । उसका मेल तो सद्भावी **जीव** को भी अपनी तरफ से करना पड़ेगा । जीवन में अन्य सभी क्षेत्रों से सत्संग के स्पर्श की कीमत हजारगुनी ऐसे मनुष्य के मन से आंकी जानी चाहिए । जीवन के सर्व प्रसंग, वर्तन, संबंध, व्यवहार में उसका मन जीवन के सद्भाव को ही महत्त्व मिला करे इस तरह व्यवहार करता हुआ हो जाना चाहिए ।

ऐसे जीवन का लक्षण

उसे जहाँ तहाँ युद्ध दिया करना बनेगा । जैसे जैसे भावना की अखंडता बनी रहेगी वैसे वैसे युद्ध की वैसी अनेक परंपराएँ और शृंखलाएँ उसके जीवन में अखंड धारावत् प्रत्यक्ष वह अनुभव करेगा । इतना ही नहीं, पर उसमें कूदे बिना वह रह नहीं पाएगा । वह तो उसके जीवन का एक लक्षण ही बना रहा हुआ होगा । उसका मानस संसारी घटनाओं को संसारी रूप से ही सोचने ही रूक जाएगा । उसके उस सत्संग के स्पर्श का भाव और प्रकार ऐसे कोई और ही है या जमीन पर है ऐसा लगने पर भी उसकी मनोभावना तो जमीन पर से ऊँचे उड़ते हवाईजहाज जैसी हो जाएगी । इससे, यह मनुष्य **जीव** संसार में होने पर भी संसार के संबंधों, आचरण, व्यवहार, विचारवृत्ति में—सभी में ही कोई एक चेतनायुक्त शृंखला जुड़ी हुई अनुभव करेगा ।

हमारी कमी और उसके उपाय

हमारे संबंध में ऐसा हो ऐसी इच्छा होने पर भी होता क्यों नहीं ? क्योंकि हमारे में ऐसी अदम्य इच्छा प्रकट नहीं हुई है । ऐसी इच्छा प्रकट होने पर हमारे द्वारा फिर बैठे नहीं रहा जा सकता । तब ऐसी इच्छा प्रकट करने के हेतु क्या करें ? यह इच्छा अंतर में तो पड़ी है ही, पर बाहर का दुर्ग वह तोड़ नहीं सकती । इसलिए, उसे तोड़ने के लिए सद्भावभरे चिंतवन-प्रार्थना के साथ संसार के सारे संबंध, वर्तन, व्यवहार,

विचार आदि में रागद्वेषादि की भूमिका से सोचना और वर्तन न रखते सही जीवन का भाव टिके, बढ़े और उसमें हमारी स्थिरता बनी रहे ऐसा होना चाहिए । ऐसा यदि हो सके तो हमारी इच्छाओं के पंख लगे बिना नहीं रहेंगे और ऐसा होने पर जीवन की उच्च गति और स्थिति स्वाभाविक बन जाय ।

वहाँ सभी को प्रणाम और स्मरण ।

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

हमारा प्रेम

(गजल)

हमारे प्रेम की झोली सदा खाली रहा करती,
भिखारी भीख माँगता है, तब भी कहीं से न मिलती ।

भीख से वह प्रेम न मिलेगा अरे ! क्यों तू चाहा करता !
चाहा करने बारे में हृदय में रखा रस है प्रभु ने क्या !

हमें तो चाह चाहकर रहना सभी में है,
हमारी चाहने की सभी को, रीति न्यारी है ।

हमारा प्रेम न्यारा है, सभी के साथ भिन्न-भिन्न,
तथापि एकसमान है, भिन्न लगे तब भी साथ में ।

हमें तो सभी को ही समझ समझ लिपटना है,
रहा करें हृदय से लिपटें न हमें कोई लिपटता है !

लिपटते तो जाते किसे रखे दुत्कार कर दूर उसे,
हृदयप्रेम करने जाते स्वजन गिने ना उसे ।

हम प्रसन्न रहे सभी में, सभी प्रसन्न ही निज निज में,
हमें तो पड़ी सभी की, पड़ी न हमारी स्वजन दिल में ।

स्वजन का भला करने जाते, हमें नकारता है,
स्वजन ऐसे दिये प्रभु ने कृपा कर ही परखने ।

परख देखें, परख लेना, जरा भी न रखना बाकी,
नहीं तो भूमिका सारी किस तरह लगे पकी ?

जीवन विकसाने दृढ़ क्या स्वजन दिये प्रभु ने तो,
तुम्हारे हृदय में सब प्रकार पूरा रखना मुझे ।

कुंभकोणम् ता. २७/२८-१२-१९४७

युग्मभावना

॥ हरिः ॐ ॥

साबरमती आश्रम,
ता. २९-४-१९४३

प्रिय लालाजी,

हिन्दू धर्म की युग्मभावना उसके शुद्ध अर्थ, हेतु और महत्त्व के दृष्टिबिन्दु से हिन्दू समाज शायद ही समझ सका होगा। दो अलग लगते **जीवों** के युग्म की भावना अविच्छिन्न है। दो **जीवों** का जुड़ना अहेतुरूप से कभी भी होना संभव नहीं है। उन दो **जीवों** का संबंध अनेक जन्मजन्मांतरों में किसी न किसी तरह चालू रहा करता होता ही है और ऐसे संबंधों में जितनी हृदय की निकटता शुद्ध भावना से विकसित होती जाय उतने प्रमाण में दोनों का संबंध भी विशुद्ध होता जायेगा। सब कुछ उपजता जो भी कुछ दीखता है, वह संबंध से ही होता है।

संबंध के बिना कुछ भी होना संभव नहीं है। अतः एक बार विवाह से जुड़े हुए दो **जीवों** का संबंध कभी नहीं छूट सकता। वह संबंध किसी न किसी रूप में एक-दूसरे के साथ रहा ही करता हैं, और यह विवाहसंबंध भी उस उस **जीव** के साथ का उतने प्रमाण का कोई न कोई यहाँ या वहाँ मुठभेड़ का ही परिणाम होता है। जगत में कठिनाई के बिना कुछ भी पाया जा सकता है ? व्यापार में कहो, राजक्षेत्र में कहो या जीवन के किसी भी क्षेत्र में कठिनाई के बिना कुछ

पाया हो ऐसा जाना ही नहीं है । तो फिर जीवन के तत्त्व को पाने के लिए कठिनाई उठाना मानवी को क्यों कठिन लगता होगा ? **जीव** का **जीव**स्वभाव तो नीचे जाने का ही समझता है । उसे तो जितनी डोरी उस ओर दिया करेंगे उतनी डोरी (हवा के जोश में जैसे पतंग डोरी खपती है वैसे) खपती ही जाएगी । तथापि मानवी को **जीव**दशा प्राप्त हुई है इसीलिए अनेक मुठभेड़ों में से गुजरता हुआ आखिर में उसे ऊपर आना रहा ही है । **जीवनआदर्श की सिद्धि के लिए युग्म की भावना, वह आवश्यक है** । उस भावना में समाज, व्यक्ति दोनों का विकास सर्जित होता है, विवाहभावना अकेले केवल भोगविलास के लिए नहीं है । यह तो तपस्या के लिए है । समाज, देश, पितृओं, ऋषिओं और देव का ऋण अदा करने के लिए यह भव्य, दिव्य साधन है ।

समाज की उत्तमोत्तम सेवा युग्म द्वारा ही मनुष्य साध सकता है । हृदय से शुद्ध सात्त्विक भावना लाकर, आत्मा के स्वरूप में एक-दूसरे को पहचानकर, जो जितना जगत के चरण में एकाध बुद्ध भगवान, ईशु भगवान, शंकराचार्य प्रभु, रमण महर्षि, पूर्णयोगी श्रीअरविन्द, रामदासस्वामी या भव्य दिव्य आत्मा या एकाध महात्मा गांधी को भेंट रखेगा, वह जगत की बड़ी से बड़ी सेवा कर सकेगा । विवाह ऐसी प्रजोत्पत्ति के लिए है । हम से न हो सके इसलिए हमें **जीव**स्वभाव में खींचते जाना वह हमारी अपनी कमजोरी है,

और उस कमजोरी को कमजोरी के रूप में जानकर उसमें जितना **जीव** से संभव हो उतना प्रयत्न ऊपर उठने के लिए करे, वह हमारा धर्म है । भगवान ने समझ और शक्ति दी होने पर भी वैसी समझ आया करने पर भी 'नहीं भाई, हम से यह सब होना संभव नहीं' ऐसा मानना उस मनुष्य को शोभा नहीं देता ।

मनुष्य को तो प्रत्येक परिस्थिति में संघर्षशील ही रहना चाहिए । भले ही फिर प्रत्येक **जीव** अपनी शक्ति अनुसार मंथन करे, पर उस संघर्ष करने की वृत्ति में सभी को प्रोत्साहन, प्रेरणा, बल, हिंमत, सहानुभूति, साथ और ऊष्मा देते रहना यह समझदार और ज्ञानवान मानव का धर्म भी है । समझदार से **जीव**स्वभाव में किसी को खींचकर नहीं ले जाया जा सकता, जो कोई ऐसा करता है, वह विवेक चूकता है । मात्र तत्काल लाभ का ही **जीव** वहाँ विचार करता होता है ।

दो **जीवों** के विवाहसंबंध से हम समाज के जीवन के साथ भाग ले रहे हैं । मनुष्य के संबंध और भावना ये विवाहजीवन में से विकसित होती जाती स्थिति पर से ही जुड़ती जाती है । ऐसा आदर्श, सुखी, आनंदी जोड़ी जगत में कितने ही को सुखप्रद, आनंदप्रेरक बना करती होगी और तृप्त बने हुओं को शांति दिया करती होगी ! यह तो जिसको ऐसा अनुभव हुआ होगा वही जान सके । जीवन को देकर ही हम जगत में जो भी

कुछ प्राप्त करते होते हैं । क्या पैसा या क्या धनदौलत, मान, रुतबा, कीर्ति, संपत्ति कुछ भी हो, पर उसे पाने के लिए जीवन देना ही पड़ता होता है । पर वह सब **जीव**स्वभाव को पसंद होने से वहाँ 'जीवन देते हैं, इन सबके पीछे जीवन दिया जाया करता है', ऐसा जागृत भान मनुष्य को नहीं रहता । तो फिर सही जीवन पाने के लिए मनुष्य को जीवन देते क्यों चुभता होगा ? क्योंकि उसमें उसे **जीव**स्वभाव से उलटी गंगा में बहना होता है, परंतु सच्चा पुरुषार्थ तो उसमें ही रहा हुआ है । हमारे से वैसा पुरुषार्थ न होता हो तो कोई ऐसा पुरुषार्थ करता हो तो उसे सहानुभूति, ऊष्मा, प्रेरणा देना ! उस **जीव** के प्रति अत्यंत प्रेमभावना रखा करना । इतना भी जो **जीव** रखा करे, उसमें सद्भावना तो जरूर आती जाएगी । ऐसे **जीव** को दिनप्रतिदिन अपनी कमजोरी का भान अधिक से अधिक होता जाएगा और ऐसे तीव्रतर भान में से ही मनुष्य की शक्ति एक दिन प्रकट होनेवाली है, पर जो **जीव** इतना भी नहीं कर सकता और अपने **जीव**स्वभाव में डूबा रहता है और **जीव**स्वभाव की प्रवृत्ति में मशगूल रहा करता है, ऐसा **जीव** मन से कभी भी चैनवाली शांति अनुभव नहीं ही कर सकेगा । ऐसों के कर्म में तो अशांति ही लिखी हुई है और रहनेवाली है । जगत में सभी सुखसाधन पास होते हुए भी वे उसके लिए सुख के साधन नहीं हो सकेंगे और सुख और शांति पाने के लिए ऐसा मनुष्य जीवन में मात्र यहाँ से वहाँ

टकराया ही करता है । इससे युग्म की भावना अपनी प्रकृति के पीछे सत्ताधीश या प्रकृति के सभी कर्म पीछे मुहर लगानेवाले पुरुष को समझना, जानना, अनुभव करना और इससे परे भी जो कुछ हकीकत रूप से सत्य रहा हुआ है, उसका साक्षात्कार करने के लिए है ।

दो **जीवों** का एक होने से ही सृष्टि का समाज रहा हुआ है । ऐसे समाज को उच्चतर भूमिका में ले जाने के लिए विवाह की भावना है । अपने साथ जुड़े हुए **जीव** की अवगणना जो कोई **जीव** करता है, वह समाज की भी अवगणना ही कर रहा हुआ है । ऐसे **जीवों** का लाखों का दानधर्मादा वृथा है । उनका यह सब तो खाली फुसलानेवाला है, उसमें कुछ दम नहीं है । ऐसे दान से समाज की भावना कभी नहीं खिल सकेगी । भले ही शायद स्थूल दृष्टि से समाज का कुछ चलता रहे, पर **सबसे श्रेष्ठ दान का *भाव* तो विवाह की भावना से ही विकसित होता है ।** ऊँची संस्कृति या संसार तो ऐसे जीने से मिला करता है । जमीन में वृक्ष के बीज का विवाह (जुड़ना) होता है, और कृपारूपी जल उस पर पड़ते ही उसमें से जीवन प्राप्त होता है । वैसे विवाह एकदूसरे के साथ रहकर, जीकर भावना विकसित करने के लिए एकराग, एकभावमय और एकमय होने की स्थिति है । भले ही वे दो **जीव** एकसमान कक्षा के न हों, तो इससे क्या ? क्या उन्हें अपनी हार कबूल करनी ? ऐसा करने जाते तो

उसमें अधिक निर्बलता मोल लेना है । निर्बलता का सामना निर्बलता बढ़ाकर नहीं हो सकता, पर अधिक सबल होकर हो सकेगा ।

मनुष्य को यदि जीवन का विकास करना हो तो उसे प्रत्येक परिस्थिति पर जीत पानी ही चाहिए और उसमें से जीवंत शक्ति आनी चाहिए । शक्ति भी उसके संबंध बिना प्रगट हुई जाना नहीं है । ऐसी शक्ति मनुष्य अकेले रहकर भी पा तो सकता है, किन्तु उसे भी किसी के साथ तो उस शक्ति को बढ़ाने के लिए विवाह (जुड़ना) करना ही पड़ता है । विवाह बिना कुछ भी संभव नहीं है । विवाह की ऐसी उत्तम भावना का विच्छेद होना कभी संभव नहीं है । उसके पीछे तो कर्मसंबंध विद्यमान है । जगत में जो भी शक्ति जहाँ जहाँ व्यक्तरूप से दिखती है, वह सभी विवाह से जन्मी होती है । इससे **जीव** के साथ का विवाहसंबंधवाला भाव किसी न किसी रूप में मिलता ही रहेगा; तो वैसी भावना को **जीव**स्वभाव से खींचकर अयोग्यरूप से उसे बह जाने देना, यह जिसमें बुद्धि, समझ, धर्म की कुछ भावना है, ऐसे मनुष्य का काम नहीं है । इस तरह खींच जाने से भी **जीव** को मंथन होगा ही नहीं ऐसा तो नहीं है । उस खींचा जाने में परोक्ष रूप से भले ही पहले वह सुखरस माने, पर अंत में तो वह विष जैसा ही उसे लगनेवाला है ।

प्रत्येक **जीव** में शिव होनेपन की शक्ति विद्यमान ही है । प्रत्येक **जीव** शिव हो सकता है । ऐसा दृढ़ आत्मविश्वास

अपने में जागने दो । ऐसा शिवपन यदि प्रत्येक **जीव** में न होता, तो वह **जीव**कोटि में अवतरित न सका होता । कोई **जीव** शिव कब हो सकेगा उसके समय की मर्यादा नहीं आंक सकते, पर इससे वह **जीव** अपना **जीव**स्वभाव बदल सकेगा ही नहीं ऐसा मान लेना वह भी यथार्थ नहीं है । उसकी अवधि का किसे पता है ? कल भी बदले । अजामिल, गीध, व्याध, सूरदास (बिल्वमंगल) आदि की परोक्ष प्रकृति के पीछे कोई गूढ़ अगम्य दैवी संस्कार रहे हुए थे ही । ऐसे संस्कार किसी **जीव** में कब उग निकलेंगे, अचानक कब फूट निकलेंगे, ऐसे उसकी मुद्दत कौन बाँध सकता है ? इससे ही किसी भी **जीव** की **जीव**प्रकृति को साधक को ख्याल में लाना वह निरर्थक है, इतना ही नहीं, पर साधक के लिए भावना के विकास में वह बाधारूप है । प्रत्येक **जीव** के सूक्ष्म भावों को कौन समझ सकता है ? इसीलिए ही समजदार व्यक्ति को जो कोई **जीव** के संबंध में वह हो, वहाँ उसे ऐसे **जीव** के साथ संबंध में आते वह उसके **जीव**स्वभाव से जाता है या खींचता जाता है ऐसी वृत्ति दिल में न रखा करना या उस आधार पर उसके प्रति न देखना चाहिए, इतनी सावचेती उस **जीव** का वैसा ख्याल रखकर वह रखे ही रखे ।

जो दो **जीव** इस जन्म में विवाह (संबंध से) रूप से जुड़े हुए हैं, वे दो **जीव** यदि इस जन्म में हृदय की भावना

से शुद्ध सात्त्विकता ला लाकर एकरूप हुआ करेंगे तो वैसे **जीव** विवाहभाव से एक ही होनेवाले हैं, वह भी निश्चित है । प्रत्येक **जीव** के पास से ऐसे विवाहजीवन-भाव आदर्श की आशा भले न रखे पर उसे ऐसे पुरुषार्थ के प्रति ज्ञान, भान होने देने समझ, प्रेरणा आदि देना और स्वयं वैसे होते रहा करना यह प्रत्येक समझदार विचारशील **जीव** का कर्तव्य है । विवाह से जुड़े **जीव** के साथ हृदय से हमदर्दी, सहानुभूति, प्रेमभावना और उसके साथ के जीवन के सर्व क्षेत्रों में तटस्थतापूर्वक रस लेना और ऐसे **जीव** के प्रति सहानुभूति रखकर उसके जीवन को उन्नतगामी करने का तो तभी बनेगा कि जब वह दूसरा **जीव** ऐसा उन्नतगामी जीवन जीता होगा अथवा उस प्रकार की उन्मुखी भावना हृदय से रखता होगा ।

जाने अनजाने पुरुष **जीव** को स्त्री **जीव** ही चला रहा करती रहती है, पर उसका जीताजागता भान पुरुष **जीव** को नहीं होता । पुरुष **जीव** मानता है कि स्वयं ही सब चला रहा है । किंतु कोई भी पुरुष **जीव** का जीवंत दृष्टांत दृष्टि के सामने लाकर देखो । कहीं तो वह माँ के द्वारा चलता होगा या कहीं बहन द्वारा या कहीं तो पत्नी या कोई उपपत्नी या किसी ऐसी दूसरी स्त्री **जीव** की सलाह से । पुरुष **जीव** के जीवन में स्त्री **जीव** महत्त्व का भाग निभाती है, और उसमें पुरुष और स्त्री ऐसे दो **जीवों** के संबंध से ही समग्र जीवन का निर्माण होता है । उसी तरह प्रत्येक स्त्री **जीव** के जीवन में भी

कोई न कोई पुरुष **जीव** की प्रतिभा या छाया काम करती होती ही है । **इस प्रकार हमें जीवन में होते प्रत्येक *जीव* का संबंध हेतु बिना का नहीं होता । मात्र उसका हकीकत से जीवंत ख्याल हमें नहीं होता और यदि इस विचारधारा में कुछ गहरे उतरें तो ऐसा भी कह सकते हैं कि प्रत्येक *जीव* का संबंध यदि कर्म के हेतु रूप से हो और कर्म यदि हमें बंधनरूप में नये होने न देने हो तो वे सारे संबंध हम भगवान की भावना का अथवा तो अपने जीवनविकास की भावना का जीवंत ख्याल, हेतु रखेंगे तो उन *जीवों* का संबंध कर्मबंधनरूप से हमें न होगा । और ऐसे विवाह से (विवाह का अर्थ यहाँ विवाहित नहीं पर आत्मसंबंध) हमारा विकास ही होता रहेगा, पर यह तभी हो सकता है, जब यह सब उसके संबंध के व्यवहार में हृदय में गहरे गहरे जागृत भाव रखा करें तो ।**

इससे ही जो जो हमारे संबंध में हैं, उन उनके साथ उस उस प्रकार की भावना के स्वरूप में, जीवन के उच्चतम कोटि के भाव से आचरण किया करें तो जीवन का वहाँ वहाँ से विकास ही हुआ करेगा । यह सब **जीव**स्वभाव को कठिन तो लगता है, पर नदी, पहाड़ों को कुतर कुतरकर बाहर मैदान में आती है, तभी उसका बहना सरल बनता है । एक बार स्वभाव को जीत लेने की सीमा तक आ जाने के बाद में यह

सब कुछ भी कठिन नहीं है । **जीव**स्वभाव अनुसार व्यवहार न करे, पर जीवनआदर्श की भावना के हेतु-माप से प्रत्येक प्रसंग में आचरण कर सके इतना ही हमें ही ख्याल में रखना है । मनुष्य का सच्चा सत्त्व संघर्षशीलता से आता है, उत्तेजना या धुन तभी प्रकट होती है और अंतरदृष्टि की ज्योति उस समय प्रज्वलित रख सके तो ऐसे संघर्ष से ही सच्चा ज्ञान मिलता जाता है । और इस प्रकार विवाह की भावना से प्रवृत्ति जन्म लेती है । फिर तो **जीव** भावना को भूलकर प्रवृत्ति में ही खेला करता है । इस प्रकार अंत में तो विवाह के हेतु का भान भी वह **जीव** भूल जाता है । **साधक के मन विवाह (संबंध) यह पवित्र भावना है । वह भावना यानी तो पुरुषप्रकृति का हृदय से सुमेल साधकर परम चेतन को जानना, समझना और अनुभव करना वह ।** प्रभु हमें अपने जीवन में ऐसे विवाह के आदर्श की भावना में हृदय से जीवंत ख्याल रखाकर उसे फलित कराएँ यही प्रार्थना ।

● ● ●

जीवनदृष्टि

॥ हरिः ॐ ॥

कुंभकोणम्,
ता. १०-१२-१९४४

प्रिय भाई,

आपका ता. ९-१२-१९४४ का पत्र मिला है.... वह बालक में आपकी stubbornness आग्रहीपन तथा हठीलापन है और बहन.... की जड़ता दोनों जुड़ चुके हैं । इससे वह कितने बलवान होंगे ! वह अनेकबार जान बूझकर हमें चिढ़ाने को मानों न करता हो, हमें हराने के लिए मानों कुछ शरारत न करता हो, ऐसा भी उसमें दीखता अनुभव हो रहा है । वह हमें हरा न दे, इतनी जागृति—चेतनाशक्ति जगाने—विकसित करने का एक मूर्तिमंत प्रतीकरूप में उसका हम अवलोकन करें तो उसके पास से बहुत पा सकते हैं । साथ ही साथ उसमें जो कोई नकारात्मक भाव या वृत्ति है, वह रूपांतरित होती रहे, उसका चेतनामय भान उसमें हमें रखते रहना होगा । उसके भय के भाव सर्व प्रकार से निकल जाय ऐसा हमें सोच सोचकर उस बारे में अनेक नवीन प्रयोग करते ही रहने होंगे ।

प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपनी मदद कर सकता है । मैं भी भगवान की चेतनाशक्ति का एक मिट्टी का टूटाफूटा खिलौना ही हूँ न ? मदद दी, दी नहीं जा सकती । देने की तो कितनी सारी इच्छा आतुरतापूर्वक होती है ! ऐसे अवसर में उसकी अधीरता का अंकन कौन-सा मनुष्य आंक सकता

है ? प्रत्येक क्षण जीवंत चेतनाशक्ति से भगवान की प्रेमभावयुक्त स्मृति में, सभी कर्म में, उसके भाव के लिए हम सब कार्यरत रहने का अभ्यास जीवंत किया करें तो उसकी मदद है ही । प्रत्येक दिन के व्यवहार में, जिसे हम गुरु मानते हैं, उसकी चेतनाशक्ति को कितने समय अपने आधार, व्यवहार, संबंध, विचार, भावना, कर्म में साकार करते होंगे ? मैं तो कहता हूँ कि भला हृदय की शुद्ध निर्मल भावना से उसका पूरा प्रयोग तो करो ! उसे आपके आधार में काम करने देने की अनुकूलता कर दो । उसे सब प्रकार की सुविधा दो । आपका भरा हुआ है, उसे खाली करके उसे ही जहाँ तहाँ सभी जगह दो और फिर देखो ! मदद खड़ी है कि नहीं ?

हम सब जीवन का प्रयोग करने बैठे हैं, हँसीखेल की यह बात नहीं है । जीवन का महत्त्व अभी हमें अभी सचमुच उगा नहीं है । अभी हम मात्र (trifles) क्षुल्लकता में ही डूबा करते हैं । यह सब भले करें – वह क्षुल्लकता भी निरर्थक की नहीं है । उसमें भी वही चेतनाशक्ति खेल रही है, वह भी उसका ही स्वरूप है, पर उसमें भी हमारा भाव तो उस चैतन्यभाव का ही रमा करे तो वह trifles यह trifles तब नहीं है । इससे संसार उसका है, ऐसा भावनात्मक अभ्यास हम विकसित करते रहेंगे और उस तरह संसार में उसके लिए व्यवहार करेंगे तो ही संसार वह 'संसार' रहनेवाला नहीं है । **संसार की कोई भी वृत्ति या भावना अधोगामी नहीं है । हमारा मन, चित्त, प्राण, बुद्धि और अहम् उसे अधोगामी बनाते हैं ।**

मानवीहृदय की, मनुष्यजीवन की सभी वृत्तियाँ ये तो उस परम मंगलमय प्रभु की चेतनाशक्ति के आविर्भाव के अलग-अलग पहलू हैं । हम स्वभाव द्वारा करके उसमें अन्यथा आरोपण करके उसकी भावना को अलग मरोड़ दिया करते हैं और इससे उसके कल्याणकारी स्वरूप को विकृतता से देखते हैं। बाकी वह तो सभी में चेतनरूप से ही है। हमारे करण—मन, चित्त, बुद्धि, प्राण, अहम् यानी कि स्वभाव—उस चेतनाशक्ति को उन उनके ढंग से ही समझना, ग्रहण करना चाहता है । इससे मनुष्य उसका सही स्वरूप कैसे पा सकता है ? एक तरफ से उन सभी करणों की पार्थिव भूमिका हमें छोड़नी ही पड़ेगी और दूसरी तरफ से उस चेतनाशक्ति की भावना हमारे व्यवहार, संबंध, विचार, वृत्ति, भावना, कर्म में उतारा करने का ज्ञानभक्तिपूर्वक के योग का अभ्यास हमें विकसित करते रहना ही पड़ेगा, **जगत में कुछ भी व्यर्थ नहीं है।** जिसे मनुष्य बिलकुल खराब गिनता है वह भी बेकार नहीं है। वह खराब दिखता है या गिना जाता है उसका कारण हम उसे उस तरह गिनते, देखते, मानते, उपयोग करते आये हैं, वह है । बाकी कुछ भी खराब नहीं है ।

सब कुछ भगवानमय है और उसी तरह हमें भावना का अभ्यास हमारे सारे जीवनव्यवहार में लाकर दृढ़ आनंदपूर्ण अभ्यास रखना ही पड़ेगा । प्रभु की कृपामदद की प्रार्थना हृदय के आर्त, आर्द्र पुकार से हम करेंगे, करते

रहेंगे और वैसी वैसी हमारे जीवन के आंतरबाह्य व्यवहार में, एकतारता, एकरागता, एकसाम्यता आते जाएँगे वैसे वैसे प्रभु की कृपा के दर्शन हुए बिना हमें नहीं रहेंगे । हमारे मानसिक विचारों का योग्य पृथक्करण तटस्थरूप से अभी हम नहीं कर सकते हैं, और वहाँ जो जो योग्यरूप से नहीं है उसे प्रेमभाव से समझकर - समझाकर वह दुबारा न उद्‌भव हो ऐसा सचेतन प्रयास कहो या दर्शन कहो या कला कहो, वह सब उसकी योग्यता में, योग्य प्रमाण में नहीं हुआ करता है । जो योग्यरूप से, भावनात्मकता से ग्रहण करना चाहिए वह नहीं हो पाता । अतः हमें अब सावधान होना ही पड़ेगा । इसलिए कृपा करो ।

●

(अनुष्टुप)

मेरे प्रभु बसे हुए हैं आपके जीवन में गहरे,
उसे प्रकट होने देने दो आप सदा दो सहाय ।
आपका मैल लेने की, उसे पचाने की बात,
प्रभुकृपा से ताकत उसने तो दी है बहुत ।
मैल क्यों भरा रखो अंतर में इकट्ठा कर,
जो जो तैरे, स्फुरे औंधा, उसे न स्थान दो जरा ।
उठता ऐसा ऐसा कुछ अयर्थाथपन सभी,
उसे नकार के शुद्ध आधार अपना करो ।
प्रभु को काम में जो तो जीवित रखने दिल में,
अभ्यास प्राणयुक्त सब गहरा विकसित करें ।

जीता जागता ऐसा बिना अभ्यास किसी को,
प्रभुकृपा का लाभ ऐसे ही न मिले ।
भाव लाने गहरा, जीताजागता हृदय में,
मिला हुआ गुण सामर्थ्य उपयोग करना चाहिए ।
सभी प्रकार की शक्ति जीवन में जो प्राप्त है,
उसे अभ्यास में रोककर वह भटकने न दो अन्य ।
कृपा मागूँ, कृपा मागूँ जीवन में जीना चाहूँ,
आप में सभी तरह, तो कृपा करना, प्रभु !
प्रेम का भाव तो जहाँ जहाँ उसका योग होता होगा,
वहाँ उसके जैसा क्या रूप लेता होगा अनोखा वह !
ऐसे उसके अनोखे क्या एक से एक रूप हैं !
जैसा **जीव** वहाँ वैसा प्रेम आकार ले हृद में ।
प्रेम का अकेला तब वैसा रूप पहचानने,
जो कोई अंतर में चिंतवन करे, पड़े वह भ्रम में सदा ।
प्रेम तो सभी के साथ खेलेगा, खेलेगा हृदय में
तब भी रूप अपना अनोखा निराला रखेगा ।
प्रेम की ऐसी माया को मापने कौन पहुँचेगा !
प्रेम को मापना इससे हमें छोड़ना चाहिए ।
प्रेम को पाने इससे यत्न सारे शुरू करें,
जीवन में प्रेम का भाव उतारा करें चाहके ।
ऐसा अभ्यास वह जिसका केवल एक कर्म है,
ऐसा वह विरला कोई हृदय में **भाव** पहचानेगा ।

● ● ●

जीवनधंधा

(गजल)

प्रिय नीलकंठ,
अरेरे ! ऐसे आप क्यों हमें आजिजी करवाते हो ?
विस्मृत कर हमें क्यों गले फाँसी लगाते हो ?

हृदय प्यारे स्वजन को तो भूले कैसे, किस तरह ?
भुलाये तो हृदय समझो, 'स्वजन सही हुआ न वह' ।

हृदय के भाव की मुझे भयंकर भूख लगी है,
न मिलते क्या चीख कर सभी को सुनाता रहे वह !

तुम्हारे साथ जीवन को पूरा का पूरा रंगवाने,
हृदय में चाहना मुझ को किन्तु मदद में ना स्वजन !

तुम्हारे में मिलकर भाव से, तुम से जीवन का,
कृपा से काम लेना है' - जीवन हमारा यही दावे का ।

'स्वजन यादकर जीना' जीवनयारी हमारी वह,
'सोचे कौन वह हमें !' संकट ऐसा हमारा है ।

जीवन-लगनी स्वजन-हृदय में न सुलगे जहाँ तक पूरी,
उदासी वहाँ तक हम पर घिरी हो रहेगी ।

'स्वजन-हृदय हृदय की दुहाई, कृपा से किसी दिन भी,
प्रभु सुनवाएँगा निश्चय' भरोसा दिल में बसा वह ।

स्वजन में रहने को हमारा दिल तरसता है,
हृदय का भाव हृदय से झेलने को हृदय चाहे ।

हृदय की बेचैनी जिसे कदर से लगती हृदय में,
स्वजन की धारणा साकार होते सभी कर्म में उगे ।

'जगत को चाहने का कृपा से तो दिया हम को,
जीवनव्यापार' सिद्ध होना हमारा क्या रहा है वह !

कृपा करना, कृपा करना, स्वजन प्यारे ! कृपा करना,
पड़ा है पल्लू में उसे कृपा से दिल में निबाहना ।

सायला ता. २४-९-१९४७

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

सुरक्षित स्थिति

बाह्य संयोगों में सुरक्षित स्थिति अर्थात् स्थिति-चुस्तता । यानी जहाँ जैसे हों उसमें ही संतोष तथा परिणाम से विकास की रुकावट और अंत में पतन । अतएव, साधक को कहीं पर भी अपनी सुरक्षित स्थिति कर देना पुसा सके नहीं । जहाँ किसी भी चरण में संतोष लिया कि पतन के मूल उसमें रहे हैं समझना, यह नियम व्यक्ति एवं समष्टि उभय को एकसमान रूप से लागू पड़ता है ।

साधना के लंबे और अविरत परिश्रम की अवधि दौरान कहीं भी संतोष मानकर स्थिर बैठे रहना साधक को हो ही नहीं सके । प्रत्येक स्थिति हमारी अपूर्णता की सूचक होने से उसका जीवंत स्पष्ट भान हमें रहे तथा एक प्रकार की दैवी असंतोष की प्रचंड ज्वाला अंतर में सतत धधकती रहने के साथ खूब धीरज भी होनी चाहिए । यों विकास की अदम्य, तीव्र, सक्रिय आतुरता और अपार धीरज का सुंदर सुमेल साधक को साधना रहता है ।

जीवन के प्रत्येक पक्ष (phase) में हमें सुरक्षितता की स्थिति अनुभव करने का रखना नहीं है—ये सभी चल हैं—अचल तो एक सनातन प्रभु ही है, हमेशा ऐसा लक्ष में रखना चाहिए । जीवन में गुजरते हुए या स्थिर होते परिणाम के

प्रत्येक पक्ष में सुरक्षितता की भावना (sense) हमें अनुभव नहीं करनी है, पर वह एक क्षणजीवी पक्ष है, ऐसा ज्ञानपूर्वक समझना है। मन जहाँ सुरक्षा की भावना कहीं भी, किसी भी, रखने की करे या अनुभव करे, वहाँ तुरंत उसका सामना करके वैसे मन के प्रवाह को रोकना चाहिए। सुरक्षितता की स्थिति में ही रहने की आदत पड़ जाने से प्रकृति का त्रिगुणात्मक जोर हम पर चढ़ बैठता है। प्रकृति के ऐसे जड़ जोर को घटाने या निर्मूल करने किसी में भी हमारी स्थिति सुरक्षित न रखने दें। तो ही पुराने स्वभाव को पलटाने के लिए—दिव्य रूपांतर होने के लिए—हमें सरलता और वेग मिल सकता है। सलामत स्थिति में तो स्वभाव को पलटाने के लिए कहीं अवकाश नहीं रहता। इतना ही नहीं, पर विपरीत उस स्थिति में पड़े रहने से वह पुराना स्वभाव अधिक दृढ़ होता जाता है।

मन की वृत्तिओं के स्वरूप जैसे असंख्य हैं, वैसे उसकी चाल भी अनंत और अनेकमुखी है, ऐसा ही सत्य के बारे में कह सकते हैं। सत्य के शरीर या स्वरूप भी अनंत हैं। एक स्थिति में जो सत्य लगे, उसे पकड़े रहें तो उससे परे का सत्य बाकी रह जाता है और अधूरा या एक ही तरफ के सत्य पर चिपके रहने का न बना करे, इसलिए भी किसी में भी हमारी सुरक्षित स्थिति हमें नहीं रखने देनी है। तो ही हमारे से एक में से दूसरे में और दूसरे में से तीसरे में जाया

जाएगा । एक में से दूसरे में जाने के लिए भी कहीं भी हम सुरक्षित स्थिति नहीं रखें । सुरक्षाभरी स्थिति भोगते भोगते एक प्रकार का जड़ संतोष हमें रहा ही करेगा, और इसके कारण वैसी स्थिति में से कोई अज्ञात (Unknown) स्थिति में कूदने का साहस, हिंमत, बल, जोश, उत्साह, उन्मादक नशा, कुछ ऐसा भी हमारे में नहीं आ पाएगा, साहसिकता को वह उत्तेजित नहीं कर सकेगा और अंत में सुरक्षाभरी स्थिति की मनोदशा के कारण जहाँ जैसा पड़े हैं, वहीं वैसे ठीक हैं ऐसा मान लेने या मना लेने को वह हमें मथा करेगा, नयी स्थिति में जाने के लिए वह हमें हिचकिचाया करेगा, अनेक मुठभेड़ खड़ी करेगा और मानसिक दुःखों की परंपरा लायेगा । ऐसा न हो—होता न रहे—उसके लिए साधक को सलामत स्थिति कहीं नहीं होने देनी है । इससे ही शायद 'साधु तो चलता भला' ऐसा कहलाया होगा ।

'चलता' का अर्थ स्थूल चलने का न करके सतत विकास साधा करना चाहिए, ऐसा करना है । साधक की स्थिति भी ऐसी ही होनी चाहिए । प्रयत्न के बिना अमृत कभी भी नहीं मिलता । प्रयत्न साधक के जीवन विकासार्थ आवश्यक है । प्रयत्न अपने अंदर ही मात्र नहीं, पर बाहर के संयोगों के साथ भी जरूरी है । कुछ न कुछ नया सीखने के लिए वह हमें प्राप्त अवसर होता है । यदि वैसी स्थिति रख सके, भगवान का हेतु समझ सके हैं और उसके साथ साथ

साधना के योग्य वेग तथा जीवन में जोश ला सके तो हमारा कल्याण हुए बिना नहीं रह सकता । ऐसे आंतरबाह्य प्रयत्न के इतिहास, वृत्तांत, आध्यात्मिक दृष्टि से किसी साधक ने लिखा हो जानकारी में नहीं है, पर यदि वह समदृष्टि से लिखा हो तो जगत को अमूल्य लाभ हुए बिना नहीं रहता । जगत के युद्धों से ऐसे युद्धों की कीमत अनेकगुना बढ़कर है । हमारा दिव्य रुपांतर होने की दृष्टि से तो ऐसे आंतरिक युद्धों के इतिहास का अभ्यास अनिवार्य और आवश्यक है ।

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

याद-भाव : शक्ति-स्वरूप

प्रिय स्वजनों को

हृदय से लाड़ला जो, हृदय में याद जगाये वह,
जीवन में भाव प्रेरित करने स्मृति वह काम आती* है ।

हृदय तरसे, हृदय चाहे, 'उड़कर मानों जाउँ पास
और लूँ भेंट हृदय से, कभी ऐसा भाव जागता है ।'

स्वजन का याद भाव जो हृदय हमारे शक्तिरूप है,
स्वजन को मूर्ति में गढ़ने हृदय-आधार एक ही वह ।

स्वजन को भावनारूप से समाये भाव में जहाँ वह,
शरीर दो स्थूल भले भिन्न, मिले क्या एकरस भाव से ।

परस्पर तो ठहरता है जहाँ हृदय रस भाव एकाग्रता से,
पूरा केन्द्रित उसे करते उभय क्या एक लगता है !

सायला ता. २०-९-१९४७

● ● ●

---

* देती है ।

॥ हरिः ॐ ॥

एक पत्र

त्रिचि,

ता. २१-९-१९४२

अति प्रिय माँ, सौ..... बहन,

आप जिस अनुभव की बात लिखती हो वैसे अनुभव जिसे होते हैं, उसे भगवान में ही निरंतर मन रखा करने का अपनेआप हो जाना चाहिए । यदि ऐसे दैवी अनुभव हमें हो और हमारा मन और जीवन यदि वैसा दैवी न बन जाय अथवा तो सतत वैसी अदम्य प्रेरणा जीवन में जलती न रहा करे, तो कहीं तो अनुभव होने की बात में कुछ झंझट हो अथवा तो वह अनुभव सत्य हो तो हमारी आधार भूमिका पूर्ण शुद्ध और पकी हुई न हो संभव है । इन दो में से एक वस्तु होनी चाहिए ।

सब कुछ ईश्वर करवाता है, यह बात तत्त्वज्ञान की दृष्टि से सौ प्रतिशत सत्य है, परंतु वह हम तभी कह सकते हैं कि जब हम हर पल भगवान के भाव में ही रहा करते हों और उसके ही वश होकर जीवन में प्रेरित हुआ करते हों । हमारे मन, चित्त, बुद्धि, प्राण और अहं के अनेक प्रकार के मोड़ों को हम यदि पूरी तरह समझ सकें न हो, तो हमें उसे पूरा-पूरा समझना चाहिए । जगत में सर्वत्र प्रभु की चेतनाशक्ति जलस्थल सभी मे व्याप्त हैं यह बात सत्य है, परंतु जो, भगवान के शरण में रहकर जीवन को संपूर्णरूप से, सर्व भाव

से, आत्मसमर्पण करके सर्वांश में उसके यंत्ररूप स्वयं को बनाना चाहता है, उसे अपनी बात में, अपनी जात का, अपने आगे-पीछे के वातावरण का तथा जिस जिसके संबंध में आया करें उनका दर्शन स्पष्टरूप से होता रहना चाहिए । हमें जो कुछ करना है, वह समझपूर्वक और ज्ञानपूर्वक, भक्तिभावपूर्ण करना है । किसी भी प्रकार की मान्यता या धुन के वातावरण में घिरना नहीं है ।

प्रभु ही सब करवाता है, यह बात यद्यपि असत्य नहीं है । तथापि साधक को ऐसा कहना पुसाय ऐसा नहीं है । हमारे मन में चलते होते अनेक विचार, हमारे में उद्‌भवित होती वृत्तियाँ, हमारा जिस किसी के साथ का यद्वातद्वा वर्तन और हमारे चित्त के संस्कार, हमारे आग्रह, आदत, मान्यता आदि सभी जहाँ तक मन में झाँका करते हो, वहाँ तक हम से कभी भी यह न कहा जाएगा कि यह सब भगवान कराते हैं । इससे तो हम भ्रम में पड़ जाएँगे । जहाँ तक अभी भगवान के भाव में सर्व भाव से दृढ़ नहीं हुए हैं, ऐसी स्थिति में हम ऐसा मानने लग जाएँ तो हमें सत्य वस्तुस्थिति का भान नहीं जागेगा । हम सौ कोस चलनेवाले हो और पाँच कोस ही चले हों, वहाँ हम नब्बे कोस चले हैं, ऐसा यदि माना करेंगे तो इससे कोई नब्बे कोस चल चुके हैं, ऐसा यथार्थ में थोड़े ही होगा ?

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

जीवन सँभालते रहना

(गजल)

स्वजन मीठे वचन कह मुझे कैसे फुसलाते हैं !
कहा हुआ पालन न करते, हृदय में घाव देते हैं ।

जीवन का सुख लेने, जीवन का दुःख देने को,
उल्लासपूर्वक तैयार न देख दिल टूटता है ।

अरे ! कोई न बुझाओ हृदय के प्रेमदीपक को,
हमारी एक आशा वह जगत में जीने के लिए ।

जीवन के साथ मिलने में जीवन उपयोग करने,
स्वजन से राग भी करने दिल हमारा चाहता है ।

जीवन से एक बनने, जीवन के लिए सही कमाने,
हृदय का प्राणपंखेरू तड़पता और तरसता हाय !

हमें भाग लेना है स्वजन के जीवन में,
परंतु कोई न हमें हृदय से सत्कार करता ।

आपके तो हम हैं' स्वजन ऐसा मुख से बोलते,
न आते वे हृदय निकट, निरर्थक खाली क्या बकते !

हृदय विश्वास प्रेरणा देने जीवनवर्तन न वैसा यदि,
होता कैसा होगा हमें ! सोचे कौन ऐसा सभी ?

हमारी दुर्दशा करने स्वजन जीया करें, ऐसा,
हमें देख देखकर हृदय में टूटते रहना ।
जीवन के प्रेम और रंग दूसरे **जीव** को चढ़ाने,
हमारा भेष न्यारा जो, चढ़ाया प्रभु ने है ।
प्रभु देखनेवाला बैठा है, प्रभु सँभालनेवाला है,
जीवन सँभालते रहना स्वजन को प्रार्थना मेरी वह ।

मद्रास (चेन्नाई) ता. २-९-१९४७

● ● ●

आघात और प्रत्याघात

॥ हरिः ॐ ॥

साबरमती आश्रम,
ता. २४-६-१९४३

(उपजाति)

प्रिय भाई,

'आघात होता मन को मुठभेड़ों से,
न स्पर्श करना चाहिए मन को कहीं से,'
ऐसा सदा मन को प्रशिक्षित करना चाहिए वह,
उस आदत से मन अलिप्त सभी से रहेगा ।

जैसे जैसे हम अधिक से अधिक आत्मचिंतन से अपने में गहरे से गहरा प्रवेश करते जाएँगे वैसे वैसे हमें अनुभव होता जाता है कि स्थूल और सूक्ष्म में तात्त्विक भेद कुछ नहीं है । यह तो अंधकार और प्रकाश की मात्राओं की तरह एक उत्तरोत्तर विकसित और चढ़ते दरजे की होती शृंखला है - series and gradation है । आघात और प्रत्याघात की बात में भी यही नियम लागू होता है । 'जैसा आघात वैसा ही प्रत्याघात' यह जड़ वस्तुओं में प्रचलित नियम है । दीवार पर हाथ पछाड़े तो जितने जोर से पछाड़ेंगे उतने जोर से हमें लगेगा । रुई की बात में वैसा नहीं होता, पर वहाँ भी जितने जोर से रुई को दबायेंगे उतनी मात्रा में वह सिकुडेगी । इच्छापूर्वक का प्रत्याघात करना यह जड़ वस्तु का स्वभाव या गुण नहीं है ।

पर जैसे एक दृष्टि से देखते सृष्टि में 'जड़' जैसा कुछ भी नहीं, सभी कमज्यादा प्रमाण में चैतन्यमय हैं, उसी तरह आघात-प्रत्याघात संबंध में भी विकास, चैतन्य के विकास के प्रमाण में होता जाता है । पशुओं में खास कर नर नहीं पर नारी जाति में, अनजाने में हुए या खेल में किये अपने बच्चों के दुःख देनेवाले आघात माँ प्रेम से सह लेती है, पर वही माँ दूसरों के आघातों के प्रति उलट विशेष जोर से प्रत्याघात करती है । पशुओं में जो वैरवृत्ति साधारणरूप से देखने में आती है, वह भी आघात-प्रत्याघात के भौतिक सिद्धांत का सूक्ष्म स्वरूप है । मानवी में भी वैरवृत्ति है और उतने अंश में वह पशु है । मानवी में भी जैसे नीची कोटी वैसे, आघात जैसा ही प्रत्याघात और शक्ति हो और चुभता आघात हो तो अधिक दुःख देनेवाला प्रत्याघात ऐसा नियम व्याप्त है ।

भला करनेवाले का भी बुरा करनेवाले के किस्से मानवी में होते हैं, क्योंकि मानवी में बिलकुल हलकी जाति से ऊपरी ऊँची जाति तक के स्तरों की संभावना है । फिर, ऐसा बुरा करनेवाले पर संस्कार, प्रारब्ध, इतर जनों के कर्म आदि का ऐसा आघात पड़े हुए होते हैं कि उसके प्रत्याघात के रूप में ही वह व्यक्ति-व्यक्ति में अंतर नहीं देखता और स्वभाववश सदा ही रहकर, उपकार का बदला अपकार द्वारा देता है, पर आमतौर से मानवी, पशु से आघात-प्रत्याघात के नियम से कम वश होता है । अपनी वैरवृत्ति शांत करने और

आघात से होते दुःख को झेलने मानवी ने अनेक तरह के दूसरे बल उत्पन्न किये हैं। रूढ़ि, अपना ही जागृत प्रयत्न, संस्कारादि से मानवी उस नियम से थोड़ा बहुत भी मुक्त रह सका है।

ऐसे ही कारणों से मानवी **जीव** का भी जैसे जैसे ऊर्ध्वगमन होता जाता है, वैसे वैसे आघात के साथ उसके प्रत्याघातों में भी अंतर पड़ता जाता है। दुःखद आघात के सामने तुरंत बैर जैसा प्रत्याघात यह उसकी प्रकृति की प्रेरणा है, पर उसी प्रकृति में स्वविकास का गुण रहा हुआ होने से मानवी का ऐसा निर्माण (Destiny) होने से, उसमें दूसरी सामने भी प्रेरणा रही हुई होती है और उसके बल द्वारा उस नियम को मानवी अपने को वश रखने में उत्तरोत्तर विशेष शक्तिमान होता जाता है। अनेक बार मन में अत्यंत तिरस्कार और द्वेष हो पर बाहर से मीठा वर्तन करते हम मानविओं को देखते हैं। वे वैसा वर्तन रख सकते हैं, क्योंकि उनमें बुद्धि ने समझ का एक नया बल दिया है और इससे वे जानते हैं कि मीठासभरा व्यवहार न रखने से उन्हें स्वयं ही हानि होगी। यह हुआ केवल विचार के कारण आघात-प्रत्याघात के नियम का नियमन।

मानवी आगे जाकर बुद्धि और हृदय दोनों के बलों का इतना जमाव या विकास करता जाता है कि आघात और प्रत्याघात के बीच इससे अंतर्पटों अधिक से अधिक गाढ़ होते जाते हैं और अंत में आघात और प्रत्याघात ये दो क्रियाएँ अलग ही पड़ जाती हैं। इसमें भी बढ़ता जाता प्रमाण

(Gradation) है । प्रारंभ में आघात के सामने वैरवृत्ति उपजे पर व्यवहार में वह अंकुश में आए उसके बाद वाणी में भी अंकुश आए, उसके बाद मन में भी इतने प्रमाण में अंकुश आए कि वैरवृत्ति उपजे तो न के बराबर ही, पर ऐसे आघातों से दुःख बहुत होता है ।

अनेक बार यह दुःख वाणी में व्यक्त हो जाता है अथवा गहरा रोष किसी दूसरे पर निकल जाता है । एक के ऊपर का रोष दूसरे पर निकलता है, उसमें समझ, भावना आदि का थोड़ासा संयम ही कारणभूत है । संयम ने रचा यह अंतर्पट इतना गाढ़ होता जाता है कि अंत में कोई भी आघात हो, तब उसका बदला कैसे लें, उसके परिणाम से मन में भी कैसी वृत्ति उठने देनी, कैसा भाव होने देना यह सब अपने हाथ की, अपने काबू की बात है, ऐसा साधक को अनुभव होता है । अलबत्ता, इसके पीछे बहुत पुरुषार्थ, एकाग्र चिंतन और कुशल वर्तन, प्रभुकृपा आदि अनेक साधनों की आवश्यकता है, तथापि यह संभव है और साध्य है ।

प्रारंभ में जो आघातों से बहुत दुःख लगे वैसे ही प्रकार के आघातों से कम से कम दुःख लगता जाय और अंत में बिलकुल दुःख न लगे ऐसी मनोदशा अवश्य विकसित कर सकते हैं, पर यह स्थिति और जिसे बुरा (हीन) मानवी कहलाता है ऐसे की मनोदशा, इन दोनों में बहुत अंतर है । मानवी में किसी भी तरह आनंद पाने की अथवा दुःख को

हलका करने की कुदरती प्रेरणा होने से केवल स्वभाव की ऐसी प्रेरणा के ही वश होकर कितने ही मनुष्य अमुक प्रकार के आघात की ओर जड़-मंदबुद्धि-भावहीन हो जाते हैं । अमुक तरह की अमुक व्यक्ति के पास से कठोर वाणी सुनने की उन्हें ऐसी आदत हो जाती हैं कि फिर उन्हें उस बात का दुःख नहीं लगता, पर यह तो कछुआ जैसे अपने अंगों को अपनी ढाल के अंदर समेट लेता है उसके जैसा है । यह कोई आध्यात्मिक दृष्टि से उच्च मानस का लक्षण नहीं है, पर जब ज्ञानपूर्वक सहनशीलता विकसित होती है, तब उद्वेग तो कहीं चला जाता है । इतना ही नहीं, पर प्रसन्नता अत्यधिक रहती है, उसके साथ अपना श्रेय किस तरह, किस प्रकार के व्यवहार से होगा उसकी सूझ उसे आती जाती है और किसी भी आघात का उत्तर वह निचले स्तर के मानवी से अलग तरह ही देता है । फिर तो ज्ञानपूर्वक योग्य ढंग से आघात को प्रत्याघात करने की उसे इतनी सहज ज्ञानयुक्त आदत पड़ जाती है कि वही उसका स्वभाव हो जाता है और आघात देनेवाला व्यक्ति के प्रति प्रेम रखकर उसका कल्याण ही हो उस तरह वह आचरण कर सकता है ।

इस प्रकार, आघात-प्रत्याघात के बीच शुभ हेतु और आंतर्शुद्धि का पट आ जाता है । ऐसा संतात्मा आघात करनेवाले व्यक्ति के प्रति प्रत्याघात के रूप में गुस्सा नहीं ही करेगा और उसे निर्दय - कठोर लगे ऐसा व्यवहार नहीं ही करेगा ऐसा कुछ नहीं है । संतात्मा अमुक आघात के प्रति

किस तरह का वर्तन रखेंगे यह पहले से कहना असंभव है । यह तो परिस्थिति के योग्य और सामनेवाले का कल्याण हो ऐसा वर्तन करेगा । फिर जगत की नज़र से भले यह वर्तन योग्य न दीखे । उसका ऐसा गुस्सा होना या कठोर ढंग से वर्तन करने का प्रत्याघात भी सहेतुक-भानपूर्वक होगा । **वह क्रोध स्वभाववश नहीं होगा, प्रकृतिजन्य नहीं होगा, पर सामनेवाले का कल्याण हो, इस तरह का ही, उतने प्रमाण में ही वह व्यक्त होता होगा और इससे संपूर्ण भान और जागृतिपूर्वक किया हुआ क्रोध होगा ।**

अलबत्ता, इस तरह का आचरण पहचानना सरल नहीं है, पर जैसे जैसे साधक आंतर्शुद्धि प्राप्त करता जाता है, वैसे वैसे उसे प्रकृतिवश प्रत्याघात और संत के सहेतुक कल्याणकारी किन्तु प्रकृतिवश जैसे ही दिखते प्रत्याघात के बीच रहा हुआ गहरा भेद समझ में आता जाता है । और अमुक प्रसंग में किसका किस प्रकार का प्रत्याघात है, उसकी भी समझ पड़ती जाती है । सामान्य रूप से तो मानवी का आचरण इतना अधिक प्रकृतिवश होता है कि ''आघात शब्द का रूढ़ अर्थ तो 'दुःख' या मारना वह' है पर आघात यानी किसी की किसी के साथ मुठभेड़ । संपर्क या संबंध में आना ऐसा अर्थ भी संतात्मा के बारे में हो सकता है ।

सदा ही प्रसन्नात्मा होने से, समुद्र की लहरें चट्टान के साथ टकराकर स्वयं ही 'प्रत्याघात' पाकर बिखर

जाती है, वैसे इस जगत की दृष्टि से दुःख देनेवाले आघात वैसे संत के साथ टकराकर वापिस फिरते हैं और आघात करनेवाले में ही उसका प्रत्याघात होता है । संत के सामने बैर रखनेवाले की वैरवृत्ति इसी तरह वापिस फिरकर बैरी को ही नुकसान करती है । उस संत को शारीरिक हैरानी अवश्य होती है, पर देह से परे होने के कारण उसे यह 'हैरानी' नहीं लगती, और लगे तब भी उसमें वह अपना प्रारब्ध ही भोग लेता है, ऐसा समझकर स्वस्थ रहता है और मन से जरा भी दुःखी नहीं होता । बालक कड़वी दवा पीते हुए रोता है, पर उम्र बढते उसे साधारण रूप से उसका दुःख जरा भी नहीं होता तथा कितने ही तो आदत डालकर अपना मुँह भी विकृत नहीं होने देते, उसके जैसा ही यह है ।

इस प्रकार, आघात-प्रत्याघात का नियम सार्वत्रिक होने पर भी उसके ऊपर जाना संभव है, इतना ही नहीं, पर प्रकृति में ही ऐसा एक दूसरा गुण है कि जिसकी मदद के द्वारा उस नियम के पर हो सकते हैं । आघात का बदला गुस्से में न दें, पर इससे दुःखी होना यह आघात-प्रत्याघात के नियम का हलके प्रकार से वश होनापन है और इतनी यह कच्चाई बतलाता है । इससे भी पर होना कुछ सुसाध्य नहीं है वैसे असाध्य भी नहीं है ।

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

स्वजन को पुकार

(गजल)

स्वजन को याद करने का जीवन अरमान अनोखा है,
और उस याद में कैसे प्रसंग बुने हुए हैं !
कर करके याद प्रिय को रहता हूँ जीवित हृदय से,
स्वजन सामने भी न डाले नजर भी ठीक से मुझ पर !
हृदय झूरता, हृदय झूरता हृदय बेचैन भरे तब भी,
स्वजन स्वयं रहे कैसे अरे ! मिजाजी हृदय भीतर !
नहीं शिकायत करनी हमें किसी के पास,
हमारा अकेला जिगर अहा ! सर्जित है सहने को !
दया किसी को ना जागे, स्वजन निष्ठुर कितने हैं !
मिले हुए कोई, नहीं 'मेरा' कह पुकारते मुझ को ।
हमें चाह चाहकर सभी का प्रेम लेना है,
अरेरे ! प्रेम के बदले स्वजन अवहेलना देता ।
नकारता है स्वजन हमें करता है दूर स्वजन हम को,
हमें तो भी सटके रहना रहा हृदय में ।

कुंभकोणम् ता. २३-८-१९४७

• • •

स्वप्न में चित्त के संस्कारों का क्षय

॥ हरिः ॐ ॥

सायला,

ता. १७-१२-१९४३

प्रिय भाई,

जब हम नींद में होते हैं तब मन के अलावा स्थूल दसों इन्द्रियाँ अपने अपने काम में जागृतरूप से नहीं होती है, परंतु इससे कहीं उन उन इन्द्रियों से सूक्ष्मरूप से रस लेने या भोगने की वृत्ति नींद से चली गयी नहीं होती । उलटा इन्द्रियों की स्थूलता निकल गयी होने से चित्त से उठे संस्कार, वृत्तियाँ और उसमें रहा हुआ रस, हमारी दिन की प्रवृत्तिमान दशा से अधिक बलवान प्रमाण में भोगते रहते हैं । ऐसी स्थिति में जो संस्कार उठे हो, उसमें समय और स्थान का भी लय हो जाता है, और इंन्द्रियों से एकाकाररूप से उसमें हम सविशेष प्रवृत्त रहा करते हैं । इससे, दिन की प्रवृत्ति में होते कर्मों से भी स्वप्न में जागते संस्कारों के उदय में अधिक बंधन में जकड़े रहा करते हैं । दिन की प्रवृत्ति के कर्मों में जो कोई विचार या वृत्ति हो, वह सभी तत्काल फलित होने में अनेक बाधाएँ उसमें रहती हैं । जीव इससे उन सभी विचारों या वृत्ति को पूरा भोग नहीं सकता होता । जब कि नींद में स्वप्न के अंदर जो विचार या वृत्ति उठे, वह तो एकदम आकार ले लेते हैं, उसमें मानवी का मन पूरी तरह भोग भोगता होता है ।

परंतु जैसे 'जागृत' दशा में हमें उठते विचारों की आसक्ति में हम न रहें, और उसके फलस्वरूप उठे विचारों में अपना मन न पिरोये और रस लेना बंध करें, तभी ध्यान में उठते प्रत्येक विचार के साथ उनके आनुषंगिक दूसरे विचारों को जोड़ने से रोक सकते हैं। वैसा ही नींद में स्वप्नदशा का भी है। साधक जैसे जैसे भगवान की कृपा से जागृत दशा में निरासक्त बनता जाता है, निराग्रही बनता जाता है, वैसे वैसे उसके विचारों की शृंखला मन में जुड़ने से बंद होने का हुआ करता है। जो संपूर्ण निरासक्त बनता है, उसे विचार करने के बाद कर्मों में पैठना नहीं होता, वह तो अपनेआप ही, सहजता, सरलता से अपने कार्य करता होता है। तथापि उसको भी प्रारब्ध रहा हुआ होता है। ऐसा साधक उच्चात्मा चित्त में पड़े रहे हुए प्रारब्ध के संस्कारों को स्वप्न में भी स्फुरित कर अथवा उन संस्कारों को अपने स्वभाव अनुसार स्वप्न में उठे तब स्वप्न में भी उनके प्रति जागृतरूप से तटस्थ रहकर, उसमें रस न लेकर उन संस्कारों को अपनेआप बहते जाते और उनके पाट अनुसार का आकार लेते हुए रोकता है।

इस तरह अपनेआप स्वप्न में जो संस्कार उठते हैं, उसके भाव या बहाव में स्वयं जागृतिभरा तटस्थभाव रखा करता होने से वे संस्कार उसमें नया कर्मबंधन खड़ा नहीं करते। इस प्रकार, जब जब विचार या संस्कार हमें स्पर्श किये बिना, हमें लेप लगाये बिना, अपनेआप बह जाता हो,

तब तब हम उतने प्रमाण में खाली होते जाएँगे । ऊपर बतायी हुई स्थिति का साधक इस तरह चित्त में पड़े सभी संस्कारों को खाली कर देता है । अपने प्रारब्ध को भोग डालने का यह भी एक मार्ग है, पर यह एक ही मार्ग हो ऐसा न मानें ।

इससे समझ आता है कि दिन की प्रवृत्तिमय दशा में उठते विचारों के साथ यदि हम शृंखला जुड़ने न दें तो अपनेआप हम में तटस्थता विकसित होती जाएगी और उस तटस्थता का भाव प्रत्यक्षरूप से, प्रत्येक कर्म करते समय उसके अंतर में यदि जीवित हुआ होगा, तो वैसा तटस्थता का भाव स्वप्न की बात में भी उपयोगी हो पड़ेगा । ऐसा होने से हमारी आसक्ति भी कम होगी । **विचारों के साथ शृंखला न जुड़ने दें यह साधना का एक मुख्य अंग है ।**

इससे, कभी कभी इस बात में जब जब वैसी मानसिक स्थिति (शृंखला जुड़ने की दशा में) आ पड़े तब साधक को जागृति रखा करनी है, परंतु उस ओर ही भार उसे देते नहीं रहना है । सहजता से भार तो उसे साधना में ही देते रहना चाहिए । साधना के जोश में या जोश के कारण ही अथवा साधना से उपजते परिणाम के कारण ही अपनेआप उसकी ऐसी स्थिति होती जाने की है ऐसा उसे जानना । **ऐसा होने से पहले भी जब जब विचारों की शृंखला में पिरोते हों, तब उसका तुरंत ही हमें ख्याल आ जाना चाहिए और ख्याल जागकर यदि चेत जाना हो तो ही वह**

शृंखलाओं जुड़ने का कार्य रुक सकेगा । इस तरह प्रत्येक विचार के साथ शृंखला न जोड़ने का भान जिसे जागता है और ऐसी जीवित चेतनापूर्वक की जागृति जिसमें जागी है, वही सच्चा साधक है ।

परंतु जिसने जीवन की साधना का प्रारंभ किया है, ऐसे साधकों से तो नींद में उठते संस्कारों में अपना मन न जाय ऐसी हृदय की जागृति नहीं रखी जा सकती । इससे, साधक दिन के सर्व व्यवहार में सावधानीपूर्वक अभ्यास से वह सब करता होने पर भी उसमें आसक्ति रखे बिना, न मिलने का चेतनायुक्त जागृतिभरा प्रयास किया करेगा । यानी कि उन कर्मों में श्रीप्रभु की भावना और धारणा रखकर प्रवृत्त होने का प्रयत्न करेगा । और उसमें वह जितना सफल होगा उतने अंश में उसके आधार पर रात की नींद के स्वप्न में, एवं उस समय के संस्कारों में अलग रह सकने में वह समर्थ सिद्ध होगा । फिर, नींद की आवश्यकता तो शरीर को ही है, पर 'प्राण' अथवा तो ऐसा जो सूक्ष्म तत्त्व अंदर पड़ा हुआ है और जिसे हम कर्म का प्रेरक तत्त्व कहते हैं, वह तो सोता नहीं है ।

उससे हमें नींद में अपना भान रहे, अपनी सावचेती रहे, ऐसी नींद की स्थिति साधक की हो जाय तभी उसकी साधना होती रहती है ऐसा जान सकते हैं । ऐसा होना अति आवश्यक है । उसकी महत्ता अधिक से अधिक जब हृदय में साधक को समझ आयेगी, तब वह उसे प्राप्त किये बिना

रहनेवाला नहीं है । इसके लिए **वह सोने से पहले और दिन के दौरान भी खूब उत्कट आतुरतापूर्वक भावना से हृदय की गहराई से प्रेरित होकर एक भाव से प्रार्थना करेगा, और एक भी दिन उसकी प्रार्थना किये बिना चैन नहीं पड़ेगा ।** यों तो प्रत्येक कर्म के अंतर में उसके हृदय का प्रार्थनाभाव आगे जाकर तो प्रत्यक्ष जीवित बना रहनेवाला है । ऐसा होते साधक कर्म के नये बंधनों से उबर जाने की संभावना पर आकर खड़ा होता है ।

ऐसे साधक को दिन में जितनी जागृति होती है, उससे अधिक जागृति वह रात में रख सकेगा, और ऐसे रात को चेतनाभरी जागृति से मिला हुआ बल उसके दिन के व्यवहार में तटस्थता बनाये रखने के लिए उपयोगी होता है । इस प्रकार, साधक जब नींद में, रात्रि के समय में, स्वप्न की दशा में, अंतर में अंतर से जागृति अनुभव करता होता है, तब चित्त से उठते संस्कार कि जो स्वप्न द्वारा अथवा दूसरी तरह व्यक्त होते हैं, उन्हें रस से भोगने में कभी नहीं लगा रहेगा, परंतु वह उससे अलग रहने को सतत प्रयत्नशील रहेगा । **ऐसी चेतनाभरी जागृत अलगता तभी संभव है कि जब साधक अपने सभी कर्मों को अपनी साधना की दृष्टि से ही किया करेगा ।**

कर्म के आदि, मध्य और अंत में श्रीभगवान की भावना और धारणा के साथ जुड़कर ही वह सब किया करेगा । इससे, उसमें अपना **अहम्** तथा आसक्ति और आग्रह

कम होने की पूरी संभावना रहती है । जिस **जीव** को कर्म के आदि, मध्य और अंत में अधिक विचार उठते हैं, उस **जीव** ने साधना की पहली सीढ़ी भी नहीं चढ़ी ऐसा जानें और मानें । **स्वप्न में जो *जीव* चेतनाभरी जागृति रखकर स्वप्न को बह जाने देता है अथवा उसके साथ चेतनायुक्त समता धारण कर सकता है, वैसा *जीव* ही अपने कर्मप्रारब्ध को अपने पर असर करते हुए रोक सकता हैं ।**

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

स्मरण वेदना

(हरिगीत)

प्रियजनों का स्मरण वह मेरे हृदय का आधार है,
प्रियजनों का स्मरण में मेरी भावनाओं का देश है,
प्रियजनों का स्मरण वह जीवन प्रवेश की पल मिले,
प्रियजनों का स्मरण में कई चित्रपट उगे, मरे ।

प्रियजनों के स्मरण में हृदय रसीला नहाता है,
नहाने पर भी न संतुष्ट स्मरण पीड़क, प्रिय वह,
सुमेल जीवन की मज़ा कोई भाग्यशाली पाते,
ऐसे स्वजन ! तुम्हें हृदय में चाहूँ भोगने को सदा ।

रखो कृपा, रखो दया, दामन में पड़ा पामर मैं तो,
'तुम्हारे जीवन सुख की चाहना' - वह सुख मेरा-देना,
हृदय में मुझे बेचैनी होती कोई कोई तुम्हारे स्मरण में,
मैं क्या लिखूँ ? और समझेगा कौन गूढ़ मेरी ये वेदना ?

कुंभकोणम् ता. १७-८-१९४७

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

प्रेम का अद्वैत

(शार्दूलविक्रीडित)

आज एक बने तुम जीवन में 'पत्नी' 'पति' भाव से,
उसे वर्ष बीते कितने सारे, तब भी एक ना अभी,
है **यह** विश्व समस्त एक बनने इस लिए संसार है,
उस हेतु का ज्ञान, भान जीवंत रख जीओ जीवन को ।

सच्चे प्रेम का होते उदय जहाँ टूटती दीवारें सभी,
पाओ जीवन एकता सभी में रे' देखना उस भाव से,
सद्भाव से जीते जीवन का लाभ कुछ और है !
ऐसा जीवन बिताते जगत में वे धन्य **जीव** सच में ।

यह प्राणार्पण तो होना सहज है, किन्तु पूरे भाव से,
हृदय से मन एकाकार जीना यह दुष्कर कर्म से,
सभी अंतर के पट हटने पर एकात्मभाव से होना,
यह तो केवल साधना द्वारा हो सके यह जीना दुष्कर ।

सभी सामान्य पथ पर सभी जगजन चला करें उसमें
क्या पुरुषार्थ रहा महान ? रस कुछ उस जीवन में क्या फिर ?
जिसमें मौलिकता नहीं जीवन वह मिथ्या जीया जानो,
जिसमें है बलिदान, यज्ञ-तप है, वह जीया, जीया भला ।

सच्चा एक ही वह समर्पण हुआ, जिसके द्वारा जीवन में,
शक्ति उद्भव होती अनुभव कर सको यह माप उसका हृदय में,
'जिसने जीवनसाधना पथ पर कूदा है सचमुच,
उसके आवरण होते अलग रे' जागे अनुभूति वह ।

ऐसे लक्षण, माप से, समझ से जो जो जीये सार्थ वह,
भूलने जैसा ना रहे कहीं कुछ उस **जीव** को अंत में,
ऐसा जो जीवित रहे समझकर ना भ्रम में पड़े,
उसे कहीं, विकासार्थ समग्र वह तो करे भाव* क्या ।

जो जो सर्व किया करे सकाम वह स्वयं के लिए करे,
अपना ही विकास भाव रखके वह कर्म जो भी करे,
वह जो जो करता रहे प्रभुपद में भाव रखकर क्या करे !
ऐसा यज्ञ समर्पण में रस होते, वह जीना सत्य है ।

कल जो न थे कुछ समझते वह ख्याल आज आये,
जो ख्याल में आता नहीं था कभी भी वह भाव आज उगे,
वह भी जीवनमाप है जीवन का वह ख्याल रखकर सदा,
हृदय के भाव से तो हिलमिल सदा जीयो सभी ! तान में ।

दोनों एकदूसरे के लिए जीवन में होमाना चाहना भला,
दोनों एकदूसरे के साथ रहकर पथ में बढ़ो वेग से,
दोनों एकदूसरे विषयक हृदय में एकात्मभाव से चाहकर
ऐसी सारी कमाई जो कुछ करो, अर्पो प्रभुपादश्री ।

ऐसी क्या रचना जग में विधि की ! कोई भी न जोड़ा,
भाव से भावयुक्त कहीं दिखता या जो सानुकूल होता,
किसी में गुण एक तो अन्य में लीला दूसरी लगती,
जो है एक विषयक, न अन्य में, ऐसी क्या भरी खूबी !

---

* भाव सहित

ऐसी गूढ रहस्य युग्म रचना न व्यर्थ, खाली दिखे,
उसका हेतु परस्पर जीवन को स्वयं गढ़ने सही,
जहाँ नहीं है समानता जरूर वहाँ संघर्ष होते हैं
ये संघर्षण **जीव** को उभय को उच्च पथ पर प्रेरणा देगा ।

ऐसी सब मुठभेड़ उभय से जहाँ जहाँ होती देखोगे,
वहाँ हेतु का ज्ञान जागृत हृदय से पाने पर, कमाओ,
और मिलाप होना परस्पर जग में दो **जीवों** का व्यर्थ ना,
'यह तो सर्व विकास योग्य रचना', यह जान भोगो **कृपा** ।

दोनों जीवन ध्येय में रत हो उस पथ में जीवित रह,
सहने का कुछ आने पर तप समझ उसे स्वीकारो सदा,
कोई किसी से ऊँचा नीचा नहीं, जो जो मिले सर्व वह,
अपने विकास हेतु मिले, वह सभी ग्रहण करो जीवन में ।

जो जो सब हुआ करे जीवन का हेतु वहाँ देखोगे,
तो मिथ्या वह न जाएगा, पर नया जीवन में पाओगे,
और आभार प्रभु का हृदय से उस लिए क्या मानोगे ।
भाव से क्या कृतकृत्य होकर वहाँ उसे गहरा सोचोगे ।

जो जो सर्व हुआ करे प्रभु का जो हाथ वहाँ नीरखें,
उसे वह सब प्रेरणात्मक बने और जीवन में वह बढ़े,
जहाँ जहाँ विघ्न, कृपा वहाँ प्रभु की मान सदा जीते,
अपनेआप होता जायेगा जीवन का कल्याण तब, भला !

(गजल)

'जीवन यह तो तपस्या' जीवन की यह समझ जिसे,
जीवन की, दुःख से, उसे समस्या गूढ़ हल होती ।

(शार्दूलविक्रित)

ऐसा जीवन हर्ष से प्रभुपद में जो जो समर्पित करे,
उसे जीवन में रस पड़े सही, भाव से हृदय से जीने में,
'ऐसा जीवन तो होने उभय का' वह भेंट आज चाहूँ,
ऐसा जीवन का समर्पण कर दोनों जियो एक* क्या !

(अनुष्टुप)

जीवन में नित्य और नित्य त्याग-यज्ञ-समर्पण,
स्वभाव से, प्रकृति से, क्या दिया करे सभी **जीव**,

विकास प्रकृतिजन्य ऐसे सभी का हुआ करे,
विकास प्रकृतिजन्य से न ज्ञान उद्‌भव हो,

भावना ज्ञान है जिसके त्याग-यज्ञ-समर्पण में,
हेतु जीवन का उसमें लगे, वह बदलता है ।

जीवन में देते रहना त्याग-यज्ञ-समर्पण,
भावना ज्ञान से युक्त; तो रूपांतर पाओगे ।

सायला ता. १७-४-१९४६

● ● ●

---

* एक के जैसा

अनुष्ठान का महत्त्व

॥ हरिः ॐ ॥

त्रिचि,

ता. ९-२-१९४३

किसी भी विषय या कार्यक्षेत्र में कोई अच्छा और सहृदयी सिखानेवाला प्रत्यक्षरूप से मिल जाय तो उस विषय या कार्यक्षेत्र में कुशलता प्राप्त करना सीखनेवाले के लिए बहुत सरल हो जाती है। अपने कुटुंब के ही किसी व्यक्ति को व्यापार सिखाना होता है, तो व्यापारी उसे एक की एक रूढ़ि में नहीं रखता। नया नया काम सीखने के मौके और प्रसंग ऐसे निजी संबंधी को व्यापारी देता है, वैसे मौके और प्रसंग अनेक वर्ष से काम करते हुए गुमास्ताओं को भी वह नहीं देता। गुमास्ते अनेक बार उस निजी संबंधी से बुद्धि और अनुभव में बढ़कर होते है, तब भी उन्हें वैसी आगे जाने की सुगमता नहीं मिलती है, क्योंकि गुमास्ताओं को हेतुपूर्वक सिखानेवाला नहीं मिला होता। उसी तरह विद्यार्थी को शिक्षक प्रत्यक्षरूप से सिखाता है और बालक को मातापिता। संसार में जहाँ जहाँ नजर डालेंगे वहाँ पता चलता है कि हर व्यक्ति किसी न किसी सिखानेवाले के पास से स्वयं को जो चाहिए वह सीख लेता है। उस विषय में सीखने के क्रम से सिखानेवाले को पसार होना ही पड़ता है, परंतु वैसे विषय सीखने में मनुष्य का प्रत्यक्ष स्वार्थ रहा होने से वह सीखते समय होते कड़वे-मीठे अनुभवों को बहुन ध्यान में नहीं रखता है।

जो हकीकत संसारव्यवहार में प्रचलित है, वही आध्यात्मिक क्षेत्र में भी रही हुई है । जिनके बारे में हमारे मन, बुद्धि, चित्त में श्रद्धा और विश्वास बैठें गयें हों – फिर भले ही प्रारंभ में वह थोड़े अंश में बैठें हों, उसके साथ हमारे जीवन का संबंध, संपर्क बढ़ाया करने से हमारा दृष्टिबिन्दु, प्रवृत्ति और भाव जरूर रूपांतर होते जाते हैं । नया नया सीखने को मिलता है । जैसे पीढ़ी के संचालक के साथ के संबंध के कारण से उस आत्मीयजन को व्यापार की सूक्ष्म से सूक्ष्म बाबत से उसे लाखों रुपयों के व्यापार करने की कला सीखने का मौका मिलता है, वैसे ही जिज्ञासु को भी अपने जीवन को किसी संतपुरुष के साथ जोड़ देने से और उसके हृदय के साथ अपने हृदय के तार जोड़ लेने से इस क्षेत्र में भी आगे बढ़ने के अनेक मौके मिलते हैं और परिणाम स्वरूप शीघ्रता से आगे बढ़ते हैं ।

उसमें संत के हृदय के साथ हमारे हृदय का मेल होने की प्राथमिक शुरूआत, उसीका नाम है अनुष्ठान ।

अनुष्ठान द्वारा वह संत, साधक के जीवन में प्रवेश करने का आरंभ करता है । ऐसा हुए बिना उस संत का लाभ हमें पर्याप्त नहीं मिल पाता । जहाँ तक एक ही व्यापारी की पीढ़ी में रहकर सीखने का न करें, तब तक जैसे वह व्यापार की कला नहीं सीख सकते वैसा इसमें है । एक का एक प्रकार का व्यापार का सूक्ष्म तत्त्व अधिक समझने के लिए

कभी पीढ़ी का संचालक उसके सिखाऊ स्वजन को किसी दूसरी पीढ़ी में भी अधिक अनुभव के लिए भेजता भी है, परंतु ऐसे थोड़े समय के लिए का बदलाव संचालक स्वयं भी ही करता है, इतना ही नहीं, पर वह दूसरी पीढ़ी के संचालक को अपने सिखाऊ स्वजन के गुणदोषों भी पहले से चुपचाप बतलाता है और किस बात में उसे विशेष सिखाना है, वह भी सूचित करता है। **जैसे ऐसा असाधारण लाभ संचालक के निजी व्यक्ति को ही मिलता है, वैसे ही संतपुरुष के साथ ऐसे हमारे जीवन का निजी अपनापन विकसित करने की शुरूआत करना उसका नाम ही अनुष्ठान है ।**

आत्मीय भाव जैसे जैसे बढ़ता जाता है वैसे वैसे साधक का विकास शीघ्रता से होता जाता है। संत के जीवन के साथ अनुष्ठान हुए बिना ऐसा लाभ नहीं मिलता । उस अनुष्ठान द्वारा वह संतपुरुष हमारे में प्रवेश करता है और हमारी प्रकृति-स्वभाव, हमारे जीवन के निचले स्तर के बहाव, हमारा प्रारब्ध तथा हम किस किस में फंसे हुए होते हैं, उन सबका खयाल करने का मौका उसे मिलता है, किसी के भी जीवन में बिना कारण के वे कभी प्रवेश नहीं करते । उन्हें ऐसी किसी प्रकार की गरज भी नहीं होती। साथ ही यह भी सत्य है कि संत के अपने जीवन के, साधक के जीवन का, गूढ़ प्रारब्ध कर्मसंयोग से यदि कोई साधक उसके प्रति आकर्षित होकर उसके साथ जुड़ना चाहता है तो फिर साधक की

योग्यता-अयोग्यता के बारे में वह कुछ नहीं देखता । साधक के जीवनविकास करने का कार्य भी वह स्वयं ही स्वयं लिए करता है, क्योंकि उनका मन साधक में अपने आपको संलग्न पाता है । ऐसा होने से वह संत, संतपन की कोटि में आने से पहले वह स्थिति प्राप्त करने के लिए अपनेआप के प्रति जैसा निष्ठुर बना होता है, वैसा ही निर्दय वह साधक के प्रति समय आने पर जरूर होगा । प्रत्येक के साथ वह निष्ठुरता से ही व्यवहार करे, ऐसा भी नहीं; परंतु किस साधक के अपने साथ कर्मप्रारब्ध के संयोग कैसे हैं, उसे उसकी जानकारी होने से योग्य व्यक्ति के साथ योग्य समय पर वह व्यक्ति के कल्याण के लिए ही ऐसा आचरण करेगा ।

प्रारंभ में साधक उस संत के ऐसे आचरण को नहीं समझ पाता है, और उससे उनके प्रति वह क्रोध भी करे या मन में अन्यथारूप से सोचे, परन्तु इससे साधक का अपना ही नुकसान होता है । वह सोचे और समझे तो ही उसे पता चलेगा कि इससे तो वह अपना ही कल्याण दूर धकेल रहा है, और कुछ कुछ निवार्य उपाधियाँ, अपने सिर ले रहा है । ये उपाधियाँ एक ही प्रकार की नहीं होतीं, पर अनेक प्रकार की होती हैं । जैसे मिट्टी का बर्तन टीपे बिना गढ़ नहीं सकते, इसीप्रकार व्यापारी का लड़का भी अनेक बार ठोकर खाये बिना नहीं सीख सकता, और बालक भी मातापिता को सहन किये बिना नहीं सीख सकता, वैसा ही इस बात में है ।

हमारी कैसी भी समझ से या किसी स्वार्थ की गिनती के कारण भी यदि कभी एक बार संतपुरुष के साथ हमारी संमति से अनुष्ठान हुआ तो संतपुरुष हमें कभी नहीं छोडेंगे । साधक को कितना भी दुःख और कष्ट हो, तब भी जो कुछ योग्य करना होगा, वह करने से संत हिचकिचायेगा नहीं । जहाँ तक ऐसी गढ़ने की क्रिया को साधक दुःख और कष्ट गिना करेगा, वहाँ तक उसे संताप और क्लेश रहा करेगा । जिस शक्ति का उपयोग जिस तरह साधक के जीवन में कराते हुए संत प्रेरित करता होता है, उसका दुरुपयोग होता देखकर भी वे चुपचाप नहीं बैठेंगे । भले ही साधक का मानस कैसा भी हो, तब भी उसकी वैसी शक्ति किसी न किसी प्रकार से साधक को असर करेगी ही ।

व्यापारी तो भाव के आवेश का लाभ उठाने जितना साहस उसमें न हो तो वह अधिक मिलनेवाला लाभ ही मात्र खोता है । उसकी अपनी पूँजी में से कुछ भी कम नहीं होता, पर साधक को तो विशेष हानि संत के संपर्क का लाभ न लेने से होता है । अपने गढ़ने की क्रिया में साधक यदि सानुकूल मानस न रखा करे और उस प्रकार गुरु का सूक्ष्म विरोध किया करे तो उसे व्यापारी से अधिक हानि उठानी पड़ेगी । ऐसे प्रसंग में वह टूट भी जाये । ऐसी निराशा कोई कोई साधक सहन नहीं कर पाता । उस संतपुरुष को जो भोगने का होता है वह तो, साधक के साथ अपना कर्मप्रारब्ध

जिस तरह संलग्न होता है उस तरह जीवनकल्याण के हेतु से, वह भोग लेता है, उस उस तरह साधक के स्वभाव, चित्त, मन, संस्कारों आदि का रूपांतर करने हेतु ही वह अनेक प्रकार से प्रयत्न करता रहता है । इसलिए वह, उन सभी से निर्लेप भी रहता है । इससे, संतपुरुष के साथ एक बार साधक का जीवन जुड़ा तो वह फिर उसके प्रति जितने अंश में सानुकूल, शरणभाववाला और सर्व प्रकार का समर्पण किया करनेवाला, भावनावाला, हृदय की उमंग से गति किया करनेवाला, साधक रहा करेगा उतने अंश में उसके जीवन का सात्त्विक विकास शीघ्रता से हुआ करेगा । संत के साथ साधक के अनुष्ठान की ऐसी अनोखी महत्ता है ।

किसी को शायद ऐसा प्रश्न उठे कि यदि कोई जीवात्मा का रूपांतर ऐसे किसी पुण्यपुरुष के संसर्ग से भी न हो तो क्या उसके लिए ऐसा संतसमागम बेकार ही जाएगा ? पर संतसमागम यों बिलकुल ही बेकार नहीं जाता । जैसे जीवन के दूसरे संस्कार संसारव्यवहार के क्षेत्र में हुए कर्मों के संस्कार प्रत्येक के चित्त में पड़ते ही रहते हैं, वैसे ही संतपुरुष के साथ के संपर्क के संस्कार भी उसके चित्त में जरूर पड़ेंगे ही । ऐसे संस्कारों का उदय किसी समय तो अवश्य होगा ही* । परंतु उस जीवात्मा के वर्तमान जीवन के तबके उसके कर्मप्रारब्ध के उदयवर्तमान संस्कारों का जोर बहुत होता है । और स्वयं

* पढ़िये 'सत्संग का स्पर्श' इस पुस्तक में पृ. ४४ पर का लेख ।

उसमें अज्ञानता से चलता रहता है । इससे संतपुरुष के जीवन साथ के पड़े हुए संस्कारों ज्यों त्यों उसके चित्त में पड़े रहे हुए हैं । जिस तरह भगवान का भाव सचराचर में सर्वत्र पड़ा हुआ रहता है, पर उसकी असर हमें नहीं लगती है, वैसे संतसमागम के संस्कार वैसे के वैसे पड़े रहते हैं, पर हम यदि जीवंत पुरुषार्थ करने लगें—और वह भी जागृतिपूर्वक और ज्ञानपूर्वक करें—तो उस संत के पड़े हुए संस्कार हमें जरूर प्रेरक तत्त्वरूप में मदद किया करेंगे ।

कर्मप्रारब्ध के बहाव में कितना भी बह जाता व्यक्ति भी संतसमागम से जरूर कुछ न कुछ तो पाएगा ही । उसकी समझशक्ति इस जीवन में भी जरूर ऊँची होती है, और मानवी की ऊँचनीच कोटि का भेद-विवेक उसकी बुद्धि में तो प्रकट होगा ही । उस अनुसार वर्तन न कर सके तब भी दूसरे जन्म में, चित्त में पड़े हुए ऐसे संस्कारों का उदय होने की सरलता उसे प्राप्त होगी । यों, संतपुरुष के समागम की असर किसी न किसी तरह लाभदायी होगी ही । उस असर का लाभ किस तरह और कब लेना वह हमारे अपने हाथ की बात है ।

दूसरा प्रश्न ऐसा संभव है कि इस वर्तमान जीवन में कर्मप्रारब्ध के कारण ऐसी जीवात्मा तो घिसती जाती है, इससे नये-नये संस्कार उसमें दृढ़ हुआ करेंगे और ऐसे संसारी संस्कारों का जोर बढ़ा ही करे । तो फिर संतसमागम उसे

किस तरह फलेगा ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में अधिक गहराई में उतरने से पता चलता है कि ऐसी जीवात्मा भी किसी सच्चे संत के समागम में आयी हो तो वह भी उसके योगानुयोग कर्म का ही परिणाम है। इससे उसे कोई गूढ़ रूप से भी उस समागम की थोड़ी बहुत योग्यता तो प्राप्त की ही है । यों, पूर्व के अनुकूल संस्कारों के परिणाम से उसे संत के समागम का फल मिला तो वह समागम उसे विशेष फलदायी अवश्य होगा। ऐसा मनुष्य भले ही प्रत्यक्ष रूप से पुरानी परंपरा में ही चला करता दिखे, तब भी उसके मन के गहरे स्तरों में हल्की हल्की भी थोड़ी बहुत भी हलचल ऐसे संपर्क के कारण हुआ ही करेगी ।

फिर, **जीव** कितने भी निचले स्तर का हो, तब भी वह उसके जीवन में कुछ भी पुरुषार्थ करता ही नहीं या विकास करता ही नहीं हो ऐसा मानना वह भी अयोग्य है । इसके अलावा, यदि वह केवल कर्मप्रारब्ध के संयोग से संस्कारों के वश पूरी तरह रहकर जीवन बिताता हो, तब भी उसी तरह इन नये ऊर्ध्वगामी संस्कारों के वश होकर भी वह थोड़े बहुत अंश में बरतेगा ही, और यदि अनुष्ठान वश संत के पास उसे विशेष रहना पड़े तो ऐसे संस्कार अधिक से अधिक पड़ेंगे ही । जैसे किसी प्रकार के संस्कार उसमें पड़े बिना नहीं रहते, उसी तरह इस तरह के पड़ेंगे, और वे उन संस्कारों की तरह ही बेकार नहीं जाएँगे । यों परस्पर विरोधी दो तरह के संस्कार उस पर पड़ते हैं, पर संसारी मानवी के चित्त में पड़े हुए या पड़ते दूसरी तरह के संस्कार भले ही कितने भी बलवान हो,

तब भी उन संस्कारों के बल से अधिक संतपुरुष द्वारा पड़े हुए संस्कार अधिक बलवान होते ही हैं ।

यह किसी कल्पना सृष्टि में से उपजाई गई मनोहारी अवास्तविक कथा नहीं है, यह तो सत्य घटना है, और इस घटना को बुद्धि के प्रमाण का आधार भी मिल सकता है । संसारी संस्कार रागद्वेषयुक्त कामक्रोधादि से भरे हुए होते हैं । इससे उसमें आसक्ति होती है, पर चाहे कितनी भी आसक्ति से भरा संसारी मानवी किसी भी आसक्ति के प्रयोजन से उस संत की ओर आकर्षित हो, तब भी संत स्वयं आसक्ति रहित होने से संत द्वारा उसमें पड़ते संस्कार आसक्ति बिना के ही होते हैं । संत का अपना जीवन इतना तो महान, प्रखर, तेजस्विता और ओजस से भरा हुआ भगवान की शक्ति से भरा हुआ होता है कि संसारी मानवी का उसके प्रति आकर्षण होते, वह संत उसकी संसार तरफ की आसक्ति के जोर को भी खींच लेगा, और समय आने पर अपने संस्कारों का उदय उसमें करवाएगा ।

यों, अनुष्ठान की यह गाथा केवल अनुभव का विषय है ।

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

स्वजनजीवन

(गजल)

हृदय की एकता में जो, जीवन का सुख सच्चा वह,
हृदय से हृदय मिलते, जीवन अलग लगता नहीं ।

स्वजन प्यारा हृदय में, वह होते जीवित पिरोये,
स्वजन में गहराई से, जिगर कैसा बुना है ।

हृदय को प्यारा जो कोई हृदय रहे चाहता उसे,
गहरी वह आतुरता प्रेरती है स्वजन में चित्त को, मन को ।

स्वजन की सारी दुनिया को खड़ी कैसी कर दे वह !
स्वजन मिलाप आनंद हृदय में क्या हृदय व्यापता ?

स्वजन के दुःख में दुःख स्वजन के प्रेम में प्रेम,
हृदय कैसा लेता है पूरा-पूरा वहाँ भाग !

तथापि न्यारा रहे स्वयं और यदि भोग तब भी,
नहीं उसमें लिपटता अरे ! उसमें भी मन कहीं भी !

अनोखी उसकी दुनिया है, अनोखी उसकी मस्ती है,
अनोखे में रहना तो भी अलग न वह रहता है ।

रहता है वह स्वजन साथ, स्वजन उसे निहारता जो,
हृदय से प्रेमभाव से कैसा, अनुभव करता रहेगा वह ।

स्वजन पूरा न जो चाहे हृदय के निज स्वजन को वह,
तो भी क्यों हृदय प्रिय स्वजन ऐसा मुझे लगे ?

स्वजन के प्रेमभाव से सदा स्नान पूरा करने,
हृदय वह अकेला चाहे अमीरसपान वह प्यारा ।

अरे ! प्यारे, आप क्यों जगतरस में डूबे रहो ?
हृदय के प्रेमअमृत का मधुर स्वाद क्यों भूले ?

जगत-रस-स्वाद में ऐसा भला वह क्या होगा, प्यारे,
आपका चित्त, मन, प्राण, दौड़ा करे रे वहाँ कैसा !

प्रभु तो हमारा सच्चा जगत में एक प्यारा है,
प्रभु बिना अन्य कोई कहीं भी सच्चा सगा नहीं है ।

'प्रभु को भूलकर कहीं भी न किसी का भी सगापन को,
हृदय से रखना है', हृदय में ख्याल रखना वह ।

प्रभु को भूलकर जहाँ जो जगत व्यवहार में पड़ेगा,
पूरी खता वहाँ खायेगा फिर पछताना मन पड़ेगा ।

प्रभु को जीवन्त रखकर हृदय, मन, प्राण, मति, चित्त से,
जगत में वह प्रभु समझकर करो व्यवहार उस भाव से ।

आपसे हृदय धक्का लगे मुझे हृदय में कैसे !
स्वजन की वह प्रसादी है वहाँ कृपा भाव से मिली !

उपाधि अकेली चिपकती न किसी को जग में कहीं भी,
उपाधि में पिरोये मन उपाधि लगती उसे ।

उपाधि में प्रभु के जो करे दर्शन हृदयभाव से,
उपाधि ना उपाधि है, कृपा उसे प्रभु की वह ।

शरीर में व्याधि भले हो तब भी आ पड़ा जो,
प्रभु के भाव से करेगा प्रभु उसे नवाजते हैं ।

कुछ 'अच्छा' और 'खराब' न ऐसी वृत्ति से देखें,
प्रभु अच्छा और बुरा विषयक वह रहा कैसा !

हृदय से जो प्रभु विषयक सोचे अच्छा और बुरा,
समर्पित वह प्रभु को है जीवन में समझोगे जहाँ तहाँ ।

जगत के सभी प्रसंगों में जगत का अच्छा बुरा जो,
देखे, वह सभी तरह से प्रभु पा नहीं सकेगा ।

झंझट क्यों करते हो जिगर को जीने में वह ?
जीवन के भाव बिना जीना शूल देता है ।

त्रिचिनापल्ली ता. १०-११-१९४५

• • •

गुरु का कार्यक्षेत्र और शिष्य का कर्तव्य

॥ हरिः ॐ ॥

हिन्दु विश्वविद्यालय, बनारस

ता. २१-३-१९४४

साधक के जीवन का सभी सोचने का यदि गुरु अपने ऊपर ले ले तो साधक का जीवन कभी भी फलित हो सके ही नहीं । जीवन के ध्येय के पोषक ऐसे निर्णयों को स्वयं ही करने की कला साधक को अपने में उगानी और विकसित करनी ही होगी, उसके बिना उसका उद्धार नहीं है । स्वयं पानी में गिरे बिना तैरना कभी नहीं आ सकता । अब, पानी में तो अपनेआप तैर सकते हैं ऐसे साधनों के साथ शरीर को जकड़ देने से पानी में पड़े रह सकते हैं, परंतु इसमें तो वैसा नहीं ही चलेगा ।

गुरु, जीवन की दृष्टि दे इतना पर्याप्त नहीं है, वह उसे मार्ग दिखाये, प्रेरित करे इतना भी पर्याप्त नहीं है, जीवन में चेतना जगाने का मार्ग भी बतलाये इतना भी पर्याप्त नहीं है । गुरु को तो इससे भी अधिक करना होता है ।

जैसे दक्षिण में बनती बांस की पेटियों में बड़ी के अंदर छोटी, और उसके अंदर उससे भी छोटी, ऐसी छोटी-छोटी होती अलग-अलग चढ़े उतर पेटियाँ रहा ही करती हैं, वैसे ही साधक के जीवन में अनेक अंग के आग्रह-मत, समझ, गिनती (योजना), आदत, पसंद और नापसंद, पूर्वाग्रह और पक्षपात आदि भी गुरु को तोड़ते रहा करना है । वह भी कोरी समझ अथवा खाली समझ से नहीं हो सके । प्रत्यक्षरूप से अनुभव से वैसा करवाना पड़ता है । जितना साधक ग्रहणात्मक

चेतनाशक्तिवाला, हृदय से जागृतिवाला, उतना उसका जीवन ऊपर उठने में इससे प्रेरणात्मक बनता रहता है, पर उतने से गुरु का काम रुकता नहीं है ।

गुरु का काम, साधक के जीवन की अटूट समझ; वेधक, केन्द्रित साधना के साथ यद्यपि संलग्नत और अवलंबित रहा करता होता है, फिर भी उससे अतिरिक्त रूप से भी साथ साथ वह काम करता ही होता है । पर वैसे वैसे गुरु के काम के साथ के वैसे संबंधों का कुछ निश्चयात्मकरूप आंका नहीं जा सकता । साधक जितना जागृत, विवेकी, आतुरतावाला होगा उसके पर बहुत सा आधार रहा करता है । जागृति, विवेक वह उसके ऐसे जीवन की पंख हैं, हृदयस्थ भाव वह उसका प्राण-हृदय है, सभी में एकरूप होते हुए भी तटस्थ रहा करे वैसा उसे सीखना ही पड़ेगा । जो स्थिति भगवान विषयक समझ में है, वह वह समझ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रत्यक्षरूप से उसी भाव में काम करती रहे ऐसा जीवंत अभ्यास साधक को करना ही होगा । वह कोई ऐसे के ऐसे नहीं होगा, वैसा हो सके ऐसा नहीं है । इससे, साधक को जीवन का विचार एकांगीरूप से भले करना हो, तथापि उसका समग्रपन यदि, उससे अंदाजा न लगा सकता हो तो उसमें जीवनदृष्टि अभी नहीं खुली है ।

जीवन में जिस मनुष्य को एकांगी केन्द्रितरूप से फलता जाता है, वह समग्रता में भी फलित होते ही जाना चाहिए, तो वह यथार्थ गिन सके ।

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

स्वजन भाव

(गजल)

स्वजन का प्रेम हृदय का रहे हृदय विषयक न्यारा,
स्वजन को देह ना है परंतु भावमूर्ति क्या !

स्वजन को दिल मिलने में शरीर तो स्थूलरूप है,
परंतु तार हृदय के मिलाने भावरूप से वह ।

'स्वजन' तो दिल का भाव बढ़ाने को दृढ़ करने,
जीवन में का जीवन के लिए प्रसादीरूप मिला है ।

स्वजन के भाव को हृदय भरा भाव से सदा चाहे,
स्वजन को इस तरह हृदय पिरोया वह रखे ।

स्वजन का शरीर दूर, हृदय की भावना से जो,
जरा भी वह नहीं दूर, हृदय में वह बसा है ।

भले भागे, भले भागे, स्वजन भले पास न रहता,
हमारे दिल के भाव से स्वजन प्रकट करते रहेंगे ।

स्वजन वह ना 'स्वजन' हमें, परंतु **भाव** प्रत्यक्ष,
सचेतन रखने हेतु, मिले क्या चखने के लिए !

स्वजन के दिल के साथ मुहब्बत निराला आनंद,
करते हुए क्या जीवन जन्म लेगा रसीला जानता कोई ।

आप में हमें तो जीवन के भाव से नहाने,
मिला प्रेम का साथ, जीवन का यह सच्चा लाभ ।

स्वजन को दिल से गहरी हमारी आरजू है कि,
हमें चाहते रहना पूरा चिताने हृदय से ।

सायला ता. २५-९-१९४५

श्रद्धा

॥ हरिः ॐ ॥

कराची,

ता. ००-४-१९४४

श्रद्धा अर्थात् आस्था । जिसकी नींव के बिना आगे कुछ संभव ही नहीं है । हमारी जीवनइमारत की चुनाई का यह मूल आधार है । व्यापारी के व्यापार की यह पूँजी है । किसान के ये हल-बैल हैं । कारीगर की यह कला है । लुहार की यह धोंकनी है । चित्त की यह प्रसन्नता है । प्राण का यह चैतन्य है । मन की स्थिरता है । हृदय का यह स्थायी भाव है । आत्मा का यह ओज है ।

पुरुषार्थ का यह चेतनमूल है । स्फूर्ति उसकी थनगनाहट है । आनंद उसकी छाया है । (यहाँ आनंद स्थूल, सहज अर्थ में है, आत्मा का आनंद नहीं ।) प्रेम का यह मूल स्थान है । रस उसका परिणाम है, सतत चिंतन उसका अंग है । यज्ञ का वह अधिष्ठाता देव है और उसमें से निकलती प्रचंड ज्वाला वह उसका प्रकट स्वरूप है । हृदय की गहरी गहरी जिज्ञासा और तमन्ना के ये दिव्य चक्षु हैं । हृदय का मथन कर डाले ऐसी कठिनाईयों और उलझनों के उस पार दर्शन करानेवाली यह परम शक्ति है । पतितपावनी गंगामैया का पवित्र भावप्रवाह हमारे में सतत बहते रखनेवाली—करनेवाली—यह पावन शक्ति है । चेतनशक्ति की यह माता है ।

पुरुषार्थ का मूल भाव और उसे गति देनेवाली वह श्रद्धामाता स्वयं ही है । भग्न होते हुए की हिंमत और साथी है । जीवनपथ का वह पाथेय है । श्रद्धा यह जीवन का ध्रुव तारा है, जिसके द्वारा हमारे जीवन का ध्येय सतत उस ओर ही रहा करता है । वह हमें कभी चलित नहीं होने देती । प्रेरणा उसके सहज पंख हैं । उसकी उड़ान मात्र गगनविहारी नहीं होती परंतु अंतरविहारी होती है और गहरे-गहरे विस्तरित होती जाती है । जीवनपथ में यह उत्साह, चेतन, रस, जोश, वेग, साथ और तनदिही देती है ।

साधना में यह जकड़े रखनेवाली है । जैसे लोहे को चुंबक खींचकर अपनी ओर आकर्षित रखता है, वैसे साधना में मंदता आते ही वह प्रिय स्वजन के स्मरण की तरह हमें मीठी टकोर कर चेतनमय पुनर्जीवन देती है । साधना में सतत रत रखती है । इतना ही नहीं, परंतु उसमें हमें प्रवेश करवाकर, उसमें नयी नयी दृष्टि, शक्ति और समझ दिलाती है । जीवन में चिरस्थायी अनुभवों की चिनगारियाँ प्रकट करती जाती है, हमारे जीवनपथ में छोटे अनोखे पदचिह्नों को बनाती जाती है, और इस तरह हमें नये नये ढंग से आशा प्रेरित करती जाती है । जीवन को वह उत्सव के रूप में संपन्न करवाती है । जीवन वह मात्र वैभवविलास की भोग्य वस्तु नहीं है । किन्तु वह तो एक पवित्र समर्पण यज्ञ है । उसका स्पष्ट भान करानेवाली यह प्रचंड सूर्य-समान चेतन दीपिका है ।

श्रद्धा तो माता है । वह तो हमें अपना अमृतमय दूध पिला पिलाकर हमें जीवन में जीवन से सदा ही पुष्ट करती है । प्रभु के पास में बिठानेवाली अथवा अधिक सच रूप से कहें तो प्रभु की गोद में ही बिठानेवाली वह जीवनसखी है । उसके (श्रद्धा के) प्रेमभाव से तो हमारी कल्याणमय भावना और आनंदस्वरूप की ज्योति प्रकट होती जाती है, हमारी बहन की तरह यह हमें शुद्ध भाव से हृदय की गहराई से सदा चाहनेवाली है और प्रेम करनेवाली है, लाड़ली है, अमृतमयी है । हमारे जीवन का वह अमृत है । उसके सगापन का भाव कोई अनोखा और अमूल्य है । उसके द्वारा रंग जाने पर-उसके द्वारा ओतप्रोत होने पर, जीवन में जो सुवास-महक प्रकट होती है, इससे हमारा जीवन तो धन्य होता ही है, इतना ही नहीं, किन्तु जाने-अनजाने अपनेआप स्वभावतः उसकी सुवास से अन्य को भी वह उल्लास देती है ।

श्रद्धा हमें—हमारे सत्त्व को—संपूर्ण रूप से जागृत कर, उसे परिपूर्ण स्थिति में प्राप्त करवाकर, दिव्य ज्ञानज्योत के दर्शन करवाती है । श्रद्धा हमारी जीवनसाधना एवं पुरुषार्थ के स्वाध्याय में आनेवाली बाधा डालनेवाली कठिनाइयों में जीवन को टिकाये रखती है । इतना ही नहीं, ऐसे समय में हमारे सामने ध्रुवतारा के समान ही सामने ही रहा करती है । हमारे लक्ष्य से कभी हमें वह चलित नहीं होने देती, उसकी धारणा में वह हमेशा ही हमें स्थिर रखती है । वह हमेशा

परोपकारी है । हमारे ही भले में (श्रेय में) अपना चिंतन वह रखवाया करती है । तथापि वह हमारी नौकरानी नहीं है । हमें उसकी प्रेमभरी मेहमानदारी (भक्ति) करनी भी होती है, उसका अंतर की गहराई से सेवन करना होता है, तो ही वह हमें आत्मलक्षी रखा करती है ।

अंत में जीवननौका की वह कर्णधार है । ज्ञानदीपक की वह परमज्योति है । भावसरिता का वह मूल है । जीवन के ऊर्ध्वारोहण के उन्नतगिरि की वह मूल तलहटी होने पर भी प्रत्येक ऊर्ध्वारोहण की श्रेणी में उसके पदचिह्न अंकित हुए रहा करते हैं ही और इस प्रकार, जैसी और जितने प्रकार की श्रद्धा वैसा और वैसे प्रकार का जीवन मनुष्य का बनता है, और अंत में श्रद्धा वही जीवन है ।

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

प्रिय प्यारे स्वजनों को

(गजल)

हृदय से चाहा और चाहा सदा करने में गहरा,
मिले न सुख जो पूरा, अहा ! वह सुख तो कैसा !

सदा चाहा करो तब भी वहाँ चाहने को दिल
हुआ करता सतत लगे, हृदय क्या प्रेम का मर्म !

हृदय को चाहने में क्या हृदय में दुःख लगता है !
तो भी उस दुःख से उसे हृदय में भाव जगता है ।

और उस भाव से हृदय टिक, हृद विषयक रहता है,
सदा जुड़ा रहने हृदय प्रेरित करता है उसे ।

खड़ी है भेद की दीवारें, न टूटे या न तुड़वाये,
अभेदानंद की मस्ती का क्या भान चुकाये ?

हृदय आनंद तैयार हृदय के लिए खड़ा क्या वह !
झुकाओ क्यों न, दिलबर को तपाया वहाँ करो क्यों ?

तुम्हारे में समाना है, तुम्हारे में बंद होना है,
तुम्हारे में होकर मेरा तुम्हारे में ही मरना है ।

जीता है विश्व आनंद से, हृदय आनंद तो क्यों
हृदय ना झंखता पूरा ? खड़े खाली रहे क्यों ?

अरे ! सँभालते रहते हो तुम्ही हद को सभी तरह,
रहते हो वहीं अटके खेलते हद विषयक जिस-किसी ।

मिले आनंद दो हद का कभी भी हद विषयक न वह,
न आये कल्पना ख्याल में पूरा आनंद ऐसा वह ।

तथापि हद में रह, बेहद का आनंद आदर्श से
झुकाया जो हृदय रखे, जाएगा वह किसी दिन पार ।

हृदय हद के रिवाजों को जाने बेहद के भाव से,
पार करे प्रेम के ज्ञान से, प्रवेश करता दो हद में वह वह ।

कृपा करना, दया करना, होते सभी कर्म के अंतर,
प्रभुभाव से भीगा हुआ निरंतर रखना अंतर ।

पाले मैं पड़ा हूँ डूबाओ या तैराओ
तुम्हें जो पसंद अच्छा, भले उसका करो वह वह ।

सायला ता. ३१-८-१९४५

● ● ●

आत्मविश्वास

॥ हरिः ॐ ॥

कराची,

ता. ००-४-१९४०

साधक के लिए आत्मविश्वास अति महत्त्वपूर्ण है। जिसमें आत्मविश्वास प्रकट हुआ है, उसे कहीं भी कभी भी पीछे पड़ना नहीं होता। ऐसा विश्वास यह मिथ्याभिमान की भावना नहीं है, पर यह तो आगे ही आगे बढ़ानेवाली, ध्येय की ओर ले जानेवाली आवश्यक भावना है। जिसमें यह विश्वास की भावना ज्वलन्तरूप से प्रकट हुई है, वह अपने निश्चय से मरणान्त तक भी नहीं डिगेगा। निराशा उसकी गति को मंद नहीं कर सकती। उसका जोश तो उसके अंतर से प्रकट हुआ होता है। आत्मविश्वास की भावना वह तो उसके प्राण की सुवास-महक है। उसके पंख वह उसमें प्रकट होता थिरकता चेतन है। उसका हृदय श्रद्धा है। उसका मूल नम्रता है और उसका परम पुनीत गंगाजी का प्रवाह वह उसका सतत होता रहता पुरुषार्थ है। विश्वास उसके जीवन का पाथेय है। बालक की यह चलनेवाली गाड़ी है, युवक का यह उमड़ता जोश है, अंधे की यह लकड़ी है और वृद्धावस्था का वह अकेला आधारस्तंभ है।

विश्वास यह जीवनपथ का सच्चा साथी है। प्रेरणा का मूल है। उत्साह तथा उल्लास का वह मायका है। संसाररूपी जंगल की भुलभुलैया में यह सूक्ष्म पगडंडी है। भटके हुए

का वह आश्वासन है। आँखों का वह नूर है। हिंमत और साहस की वृत्ति वह उसके हाथ-पैर हैं। जैसे जैसे हम साधना में रत होते जाते हैं वैसे वैसे उस विश्वास ज्योति से नये नये अनुभव होते जाते हैं, उसका आनंद बढ़ता जाता है और उसके प्रकाश द्वारा हमें नये प्राण मिला करते हैं। आत्मविश्वास हमें सतत हमारे काम में जोड़कर रखता है। हमारी साधना के पुरुषार्थ को कभी मंद नहीं पड़ने देता। वह तो बस, आगे बढ़ना ही जानता है। उसके मन में कभी पीछे हटना है ही नहीं। विश्वास की भावना हमें क्या करना है, कहाँ जाना है उस ओर सतत हमारी दृष्टि बनाये रखती है। उसके मन में कोई छलकपट नहीं है। उसके मन में कहीं भी उलझन या कठिनाई है ही नहीं। स्वप्न में भी वह ऊर्ध्वगामी ही रहता बना हुआ रहता है।

आत्मविश्वास जैसे जैसे आगे बढ़ता जाएगा वैसे वैसे वह अधिक विश्वास संपादन करता जाएगा। यह विश्वास की दृढ़ होती जाती भावना जो ध्येय उसने निश्चित किया होगा उस ध्येय तक पहुँचने के लिए नयी नयी सीढ़ियाँ या साधन उसे बताया करेगा। अनुभव यह उसकी सीढ़ी है। उसमें वह बल पाता है और स्वयं उसके द्वारा पुष्ट होता जाता है। विश्वास की भावना को कहीं कोई काम कठिन नहीं, वैसे ही कहीं कोई काम असाध्य नहीं है। उसके निश्चय को ब्रह्मा भी नहीं डिगा सकते। ऐसी भावना के कारण हमारे आवरणों से कहाँ कहाँ और कैसे कैसे विघ्न - अड़चनें - रुकावटें रहें हुए हैं

अथवा आनेवाले हैं, उसका उसे स्पष्ट भान रहता है और वह अपनी ऊष्मा के बल पर उसे दूर कर डालता है । मार्ग में आते सभी कांटों-झंखाड़ों को वह जला देता है और पगडंडी या मार्ग के स्वच्छ, सुन्दर, शिव, मंगल, सुलभ दर्शन कराता है और वह मार्गदर्शन देता है । विस्मृति या कठिनाई आने पर वह साथी हमारे साथ मानो खड़ा ही है, वह नित्य का जीवनसाथी है । इतना ही नहीं, पर संकट समय के साथी की गरज प्रत्यक्षरूप से हमारे जीवन में पूरी करता है । ऐसी उसकी भावना दूसरों की शिथिलता को भी उड़ा देगा, दूसरों को नवांकुरित बनाएगा, नवपल्लवित करेगा । ऐसी आत्मविश्वास की भावना जिसे मिली, उस पर भगवान की परम कृपा उतरी ही समझें ।

● ● ●

पूरा झुकाना प्यारे

(गजल)

अत्यधिक प्यारी पूज्य बा,

प्रभु में पूरी तरह, हृदय जिसे शांत करना है,
जगत संसार में भाव प्रभु का देखना पड़ेगा ।

प्रभु बिना दूसरा कुछ न देखे या न सोचे,
प्रभु का ख्याल जहाँ तहाँ सभी में युक्त, वह माने ।

करो व्यवहार मानकर धारणा प्रभु की हृदय में,
प्रभु का साथ करते हो, खेलो उस तरह रस से ।

पिता प्रभु और प्रभु माता, प्रभु बालक, सगा भी वही,
पूँजी, व्यापार भी वह है, उसी तरह सभी में खेलो ।

निमित्त से जो मिला हो वहाँ जो धर्म, उसके प्रति,
दृढ़कर भाव प्रत्यक्ष प्रभु का, आचरण करें वही ।

कुछ भी संसार की तरह नहीं सोचना है,
प्रभु को वहाँ कर खड़ा करो वह उसे जो पसंद ।

प्रभु बिना कुछ भान कहीं किसी विषयक न रखो,
प्रभु के साथ व्यवहार करते भाव में खुश रहो ।

फिर संसार सारा और सगे संबंधी मिले हैं,
प्रभु प्रकट करने हृदय बिना उसके अर्थ न कोई है ।

सगे संबंधी, प्रभु के—प्रभु के लिए—प्रणयरस को,
हृदय प्रकट करने क्या मिले निमित्त सुन्दर वे ।

सर्वत्र प्यारा प्रभु शोभित, सर्वत्र वह तो विलसता है ,
होती अंतरमुखी दृष्टि वहाँ संसार अलग है ।

भिन्न- भिन्न अनोखी जो रही कामना मन में,
प्रभु साथ खेलने में खिलौने रूप मानो वहाँ ।

रही हैं मानवी **जीव** की सभी वृत्तियाँ जो जो,
प्रभु का भाव शृंगार, करो उपयोग सज्जने वह ।

हृदय नैवेद्य प्रभु को सुंदर क्या प्रेम भोजन
रिझाने लाडले को करो वह उत्तम तरह से अच्छे ।

रीझे प्यारा सभी तरह जीवन में बरतना वैसा,
प्रभु को दुःख किसी तरह कुछ न लगने दें ।

न इच्छा हमारी किसी के बारे में न संग्रह करने की,
प्रभु जिस तरह रखें रहें उस तरह से खुश होकर ।

सदा संतोष आनंद से रहना निर्मल चित्त से,
प्रभु के प्रेम की मस्ती अनुभव करते रहें वह ।

कभी ग्लानि किसी बारे में उपजे तो जागे हृदय से,
'अरे ! क्या **जीव**भाव से तू खेले' ऐसा ख्याल चेताना ।

कभी किसी के वचन से कहीं दुःखता चित्त, वहाँ चेतें,
प्रभु के भान में हृदय प्रकट करना चाहकर ।

कोई वृत्ति दूषित जो, 'प्रभुभाव से खेले उसे
न भाग लेवें जीवन में' समझें अच्छी तरह उसे ।

चढ़े यदि क्रोध मन में तो प्रभु पर प्रेमभाव से,
निकालते रहे पूरा उसे प्रभु को वैसा संबोधन करते ।

सकल वृत्ति का ऐसा, हृदय में जीवित करके,
प्रभु को पूर्ण रूप से, करो उपयोग उस ज्ञान से ।

पूरी भक्ति प्रभु पर हृदय में प्रकट हुए बिना गहरी,
प्रभु वह न प्रकट होगा, करो चाहा प्रभु इससे ।

सर्वत्र जिस किसी में प्रभु भाव से जो रहेगा,
हृदय में भक्ति प्यारे की झरने सी फूटकर बहेगी ।

प्रभु तो भाव से रीझे, भाव जीवन में अनोखा,
प्रकट करने विश्व सर्जित, बसे कैसा छिपा वह वहाँ !

होता इससे जीवन में जो रहे वह सभी प्रभु का,
मिला हुआ जानकर हर्ष से स्वीकार कर वैसा चिंतन करें ।

न अच्छा या न बुरा, सभी वह प्रभु का
रसीला भाव दिल में रख, उसे ही रिझायें ।

गिनता है मानवी जिसे न पसंद दुःख वह भी वह,
प्रभु में चित्त प्रेरित करने कृपा कर वह तुम्हें दे ।

परंतु *जीव* अज्ञानी न उसे उस तरह देखे,
डूबकर संसार के भाव में प्रभु को वहाँ न वह नीरखे ।

सदा ही दुःख और सुख में प्रभु का भाव रखता है,
न उसे वह स्पर्शे मन में, प्रभु में मस्त वह रहता है ।

'हम तो मानवी **जीव** हम से वह बने कैसे ?'
सोचे ऐसा जो **जीव** चढ़ सके वैसा कैसे ?

सभी में ही तो प्यारा बसा है पूरा जानो,
सभी में ही वह शक्ति बसी हुई उसे हृदय से पहचाने ।

जीवन का धर्म जो जो है सब वह वह प्रभुभाव से,
रहें वर्ततें, उसमें न्यूनता रस रहे न वह देखें ।

रही शक्ति प्यारे की हृदय में जो बिराजी हुई,
करता है जो प्रकट कर्म में, प्रकट उसे हो श्रीजी ।

माता के पीछे जाने को मथता है बाल अंतर से,
न लेते वह रोये कैसा ! चहो वैसे ही प्यारेपन से ।

हृदय के भाव पहचानने प्रभु ने तो खेल खेला,
खेल जो देखते प्यारा खेले, उसे रीझे श्रीजी ।

खेल खेलते भुलावा से भुलाये, छिपकर वह,
क्या आँखमिचौली खेले । लीला निज रूप देखने ।

न देखते प्रभु प्यारा खेल के जीवन में जिसे,
न दिल में शांति या चैन, प्रभु उसे भेंट* देते हैं ।

---

* प्रेमपूर्वक स्वागत करते हैं ।

प्रभु से दूर होते जरा भी, वहाँ प्रभु को जो
पुकारे आर्त व आर्द्र वहाँ साद वह देता है ।

प्रभु को प्रेम की भावभरी छटपटी हृदय की
–पसंद, इससे ही अपनों को खेलाये भक्त को वह क्या !

कैसा भी भले हो जाय भूले प्यारा कभी न जो,
न भूलता है प्रभु प्यारा, कभी उसे जीवन विषयक ।

प्रभु को जो रहे प्यारा, प्रभु को वही प्यारा है,
भिन्न सभी भाव से वह तो खेलाया करे क्या गहरे में !

कृपा रखकर, प्रभु में पूरा सब चित्त पिरोना,
हृदय के आतुर भाव से प्रभु को खोजते रहना ।

खो जाये कुछ कीमती होती क्या धड़क हृदय में,
प्रभु को खोजते जिसे पड़े वह धड़क, पाये ।

तैरता भाव प्यारे को रिझाने जो जगत विषयक,
हृदय रखा करे जीवित, प्रभु रीझाता उसे ।

प्रभु को तो हृदय चाह रिझाने भक्त को कैसे !
होते भक्त प्यारे के, हृदय समझ आती स्वयं वहाँ ।

कैसी भी स्थिति भले आ पड़े तब भी उसमें,
प्रभु का जो स्मरण करेगा, रहे उसे हृदय शांति ।

किसी भी बात में उसे कोई उलझन न रहने दे,
प्रभु का जो बने प्यारा सहज वह रहेगा ही उन्मुख ।

प्रभु रहित किसी प्रकार की जीवन में कल्पना उसे,
किसी विषयक न उठती है, प्रभु को वह मिले अपनेआप ।

जीवन का धर्म आचरते, प्रभु सत्संग दिल से करना ।
प्रभु सत्संग मन धरना, प्रभु सत्संग दिल करना ।

जगत से वह न अलग है, जगत में क्या रहा मिला !
रखे हुए हैं वहाँ से रिझाते उसे देखो ।

होते विह्वल हृदय गहरी भरी छटपटी जहाँ भाव,
प्रभु में लगातार, वहाँ होता है आप प्रत्यक्ष ।

फिर अधीरता क्यों है ? बनकर जाकर उसके पूरे,
प्रभु प्रत्यक्ष करने में पिरो दो चित्त प्यारे !

स्वजन प्यारे, प्रभु मेरे, प्रभु प्रकट करने,
निमित्त से मिले मुझे वे होना अंतर्मुखी पूरे ।

'प्रभु पीछे खड़ा नित्य' हृदय विश्वास मानकर वह,
संपूर्ण झुकाना प्यारे ! प्रभु को पाने के लिए ।

सायला ता. ३०-८-१९४५

● ● ●

उदार मानस

॥ हरिः ॐ ॥

कराची,

ता. ००-४-१९४०

जैसे प्रभु और मानवी को जोड़नेवाली सूक्ष्म डोर प्रभुकृपा है, वैसे मानवी-मानवी को संलग्न करनेवाली इतनी ही और ऐसी सूक्ष्म और ऐसी डोर है - उदार मानस । प्रभुकृपा और उदार मानस ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । ईश्वर, मनुष्य और विश्व इन सब में व्याप्त रहनेवाले प्रेम के ही ये दो स्वरूप हैं ।

प्रेम सांसारिक जीवन में उदार मानस के स्वरूप में अवतरित हैं । एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति प्रति तभी प्रेम हो सके कि जब पहला व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की तमाम विशिष्टताओं, विचित्रताओं, अरे ! इतना ही नहीं, पर घृणा उपजाये ऐसी विकृतियों को भी प्रेम से सहन करने को तैयार रहे । यानी कि दूसरे व्यक्ति के प्रति उसका मानस उदारभाव रखता हो, उसी तरह उदार मानस भी प्रेम न हो तो असंभव है । इस प्रकार, प्रेम और उदार मानस परस्पर अवलंबी हैं । प्रेम क्या है वह समझने के लिए, जानने के लिए, उसका अनुभव करने के लिए, उससे हृदय को सराबोर करने के लिए और अंत में प्रेमस्वरूप हो जाने के लिए यदि किसी को भी अनिवार्य आवश्यकता हो तो वह हार्दिक मानसिक उदारता की ।

प्रेमपात्र का सब कुछ सह लेने की तत्परता की जैसे-जैसे यह सहनशक्ति बढ़ती जाती है, उसकी अनिवार्यता की समझ आती जाती है, उसके अनुसार व्यवहार की सूझ बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे हमारे ज्ञानचक्षु खुलते जाते हैं और नयी नयी सृष्टियाँ, नये नये भव्य दृश्य हमारी उस नजर के आगे खड़े होते जाते हैं और हमने एक नया जन्म धारण किया हो, तात्त्विक अर्थ में द्विज बने हों ऐसा अनुभव हमें होता है ।

यों, मानसिक उदारता या सहिष्णुता का अभ्यास हमारे समस्त सूक्ष्म शरीर में नवजीवन का संचार करता है और हम में रहे जड़त्व को हटाने लगता है । हमारे में जिस जिस प्रकार की संकुचित मनोदशा रही हुई हो, स्वार्थवृत्ति रही हो, 'ममत्व' रहा करता हो, उन सभी को वह हमारे मनप्रदेश से हाँक कर निकालने लगता है और हमारे जीवन को सार्थक तथा आनंदमय करता है । **हमारे में भाव के कारण आ जाते आवेगों को मंद करता जाता है और इस तरह हमारी स्थूल एवं सूक्ष्म नाड़ियों में बहते रक्त का योग्य रूप से नियंत्रण करता है ।** इसके अलावा, जिस-जिस प्रकार की कल्याणकारी आनंदप्रद असर वह हम में पैदा करता है, उसी प्रकार की असर कमज्यादा प्रमाण में वह हमारे संबंध में आते सभी किसी में पैदा करता है । इस प्रकार हमारी सहिष्णुता द्वारा आनंद, शांति, सुख फैलानेवाली हिमरश्मि (चन्द्र) बन सकते हैं और **जितने अंश में हम सहिष्णु होते हैं, उतने अंश में**

हम भगवान के यंत्र बनकर उसके दिव्य हेतु के साधन बनते हैं ।

जीवन के किसी भी क्षेत्र में मानवी मानवी के बीच में सहकार और संमिलन बिना किसी को भी नहीं चल सकता । हार्दिक उदारता बिना यह सहकार और संमिलन असंभव है । पति-पत्नी के बीच स्वभाव, दृष्टिकोण, बुद्धि या ऐसे किसी भी प्रकार के विभाजक भेद हो, तब भी यदि दो में से एक में भी ऐसा हार्दिक उदारता का गुण विकसित होगा तो अंत में तो वे एकदूसरे में मिल ही जाते हैं और पृथ्वी पर स्वर्ग उतार सकते हैं । **दुनिया अपनी ही राह चले अपने ही विचारों का अनुसरण करे, अपने ही मूल्यांकनों का स्वीकार करे, अपनी ही रहनी करनी को अपनाये और अपनी ही भावनाओं को मान दे ऐसी आशाएँ रखने से हम ही दुःखी होते हैं और हम मृगजल के पीछे दौड़ रहे थे, ऐसा कड़वा अनुभव अंत में हमें हए बिना नहीं रहता । दुनिया से तो क्या पर हमारे स्वजनों के पास भी ऐसी आशा रखनी व्यर्थ है । और इसीलिए हमें केवल अपने भले के लिए भी उदार मानस रखने की जरूरत है ।**

किसी को शायद लगे कि संसारत्याग करनेवाले संन्यासियों को ऐसी सहिष्णुता या उदार मानस की जरूरत नहीं रहती है, पर यह भी सत्य नहीं है । हम हिमालय की चोटी पर जाकर चढ़ें या घने जंगल में या समुद्र तल में जाकर

बसें तब भी हमें यह देह पार्थिव होने से इस पृथ्वी और उसके मनुष्यों का किसी न किसी तरह के समागम में—स्थूल या सूक्ष्म समागम में—तो हम रहेंगे ही । इस सत्य का इनकार करने से कोई यह सत्य असत्य नहीं हो जायेगा । केवल हमें ही ऐसा इनकार नुकसान करता है । यों, यदि समष्टि की असर व्याष्टि पर होती ही है, तो फिर प्रत्येक व्यक्ति—वह योगी हो या भोगी हो पर प्रत्येक व्यक्ति को—अपनी जीवननौका इस तरह चलानी चाहिए कि जिससे स्वयं भी सुखी आनंदमय बने और दूसरे को भी थोड़े-बहुत अंश में सुखी और आनंदमय करें । इस तरह वह अन्य कोई नहीं पर हार्दिक उदारता अथवा ऐसी रीतियों में से एक तो हार्दिक उदारता है ही ।

हार्दिक उदारता अर्थात् ही *जीव* मात्र के प्रति मैत्रीभाव । इसीसे ही हम विश्वबंधुत्व के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच सकेंगे और 'सर्व' और 'स्व' रूप से पहचानते तथा अनुभव करते हो सकेंगे । इस सृष्टि में मनुष्य का समूहजीवन एक महान सारंगी जैसा है, वह कमज्यादा अगणित लंबाई के एक असंख्य प्रकार की ध्वनि पैदा करनेवाले तार हैं । जैसे सारंगी के तार ठीक से मिलाये हो और बजानेवाले में गज को फिराने की कुशलता हो तो सुंदर संगीत जन्म लेता है, वैसे हम भी अपने संपर्क में आये संबंधियों द्वारा पैदा किये संयोगों में हार्दिक उदारतारूपी गज के कुशल उपयोग से मधुर, आह्लादक, हृदयंगम जीवनसंगीत को जन्म दे सकते हैं ।

इस सृष्टि की रचना ही ऐसी है कि प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ विशिष्टता तो होती ही है और इससे दूसरी व्यक्ति से भिन्नता रहती ही है, पर हमारे में यदि उदार भाव या सौजन्य हो तो हमें स्पर्श करते सारे जीवनप्रवाहों को हम प्रभुसागर की ओर बहती हमारी जीवनसारणी मोड़ सकते हैं और वैसा करके हमारी आध्यात्मिक उत्क्रांति में वेग ला सकते हैं ।

दूसरी उच्च भावनाएँ झेल सकने की और वे हमारे में मिश्रित कर देने की शक्ति भी हमारे में यह भाव कितने अंश में हैं, उस पर आधार रखता है । हमारे स्वजन या विरोधियों को हम यदि समझ न सकते हों तो उसका कारण भी यह भाव हम में नहीं है वही है । जिसमें इस भाव का अंश बहुत कम होता है, उसका उस वातावरण के साथ का संबंध योग्य नहीं रह सकता और वह मनुष्य भ्रमजाल और दुःख में भटकता रहता है, पर यदि संयोगी तंतु मजबूत हो तो इस संसार में हमारा स्थान कहाँ है, हमें प्राप्त होते संयोगों किस हेतु से मिले हैं, हमारे जीवन का उद्देश क्या है, हमारे आसपास बनते प्रसंगों और हमारे संपर्क में आते व्यक्तियों के स्वभाव का रहस्य क्या है, वह सभी हमें समझ आता है । प्रत्येक के साथ कुशल कर्मयोग के अनुसार आचरण करने की सूझ हमें मिलती है और इसप्रकार प्रभु के महान विश्वसंगीत में हम अपने जीवन के सुर का सुमेल साध सकते हैं ।

प्रभुसेवा में ही मानवसेवा समा जाती है, यानी कि वह अपनेआप हो ही जाती है, यह सत्य भी हमें इस **भाव** के अभ्यास से समझ में आता है ।

अन्य के स्वभाव, वाणी, जीवनदृष्टि, मानस, भावना, वृत्ति, जीवनव्यापार को, संक्षेप में अन्य के समग्र व्यक्तित्व को सम्मान देना उसका नाम ही हृदयसौजन्य अथवा मानसिक उदारता है, पर इसका अर्थ ऐसा नहीं कि वैसा करने जाते-योग्य रूप से करने जाते—हम दूसरों के दोष भी अपना लेते हैं । अनिष्ट के प्रति उदार मन अर्थात् उसकी उपेक्षा पर यदि दूसरे हमारे अपने क्षेत्र पर हमला करें, हमारे जीवनविकास के आड़े आकार खड़े रहे तो उनको वंदन करें, उनके वश हो जाएँ भेड़ जैसे होकर उनके आक्रमणों से हम तेजोवध होने दें या परास्त हो जाएँ यह उदार मानस का लक्षण नहीं है । उस समय तो आत्मश्रद्धापूर्ण, शांत और सबल विरोध करना और हमें सफलता मिले उतनी दृढ़ता से और उतने प्रमाण में विरोध करना ही उदारभाव का लक्षण है । सत्य, सौंदर्य और सौजन्य के आविर्भाव के प्रकार अगणित हैं और वह प्रत्येक के प्रति हम, अपनी तरह से बिलकुल भिन्न हो तथापि संपूर्ण रूप से उदार भाव रखना चाहिए, पर अनिष्ट के प्रति तो उपेक्षा और अनेकबार उपर्युक्त प्राणवान प्रत्याघात भी आवश्यक है, पर उसके साथ ही, प्रत्येक के

प्रति, हमारा अनिष्ट चाहनेवाले या यत्न करनेवाले के प्रति भी तिरस्कार की वृत्ति को उदारभाव का लोप ही बतलाती है ।

आरोग्य की तरह यह गुण भी 'संक्रामक' यानी प्रवर्तक है । यह उदार भाव रखनेवाले का ही कल्याण करता है ऐसा नहीं है, पर जिसके प्रति ऐसा भाव रखा हो उसका भी थोड़े-बहुत अंश में कल्याण करता है, और दोनों को परस्पर सद्भाव और प्रेम की बहुत उच्च कक्षा में पहुँचाता है । **जो आनंद और आत्मीय सुख आत्मोन्नति के साथ सर्वोन्नति नहीं कर सकते, उसकी प्राप्ति के लिए प्रयास करना निरर्थक है ।** उनकी किरणों की ऊष्मा उसके संपर्क में आनेवाले सभी किसी को लगनी ही चाहिए, क्योंकि **उदार भाव अर्थात् स्वार्थी सुख की भावना का त्याग ।** किसी के भी परिग्रह से उदारभाव से उद्भव होनेवाला आनंद नहीं मिल सकता ।

कितने ही ऐसा मानते हैं कि जो न्यायप्रिय बहुत हो, वह दूसरों के प्रति सहिष्णुता नहीं रख सकता । हार्दिक उदारता और न्यायप्रियता उनकी दृष्टि में विसंवादी है, किन्तु वह मान्यता भ्रममूलक है । ऐसे न्यायप्रिय व्यक्ति में सच्ची न्यायप्रियता नहीं है, पर उसकी योग्य समझ न होने से उसका आभास अथवा अतिरेक है । ऐसे मनुष्य को गहरा आत्मनिरीक्षण करके न्यायप्रियता का योग्य मर्म समझकर, मानसिक उदारता लाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि मानवसमुदाय की

दृष्टि में निहित सत्य, सौंदर्य और सौजन्य के अमुक आकार और प्रकार में रहे गुप्त सुमेल देखना यह सच्ची न्यायप्रियता का भाव है। मनुष्यजीवन की प्रत्येक दिशा में अमुक मर्यादा तो रहेगी ही । अमुक बंधन तो आवश्यक ही है । उन मर्यादाओं का जानेअनजाने उल्लंघन करना वह तो केवल पागलपन है। उसकी अवगणना करनी वह मूखर्ता है, पर उसे समझकर सहजभाव से निभा लेना यही सच्ची न्यायप्रियता है।

हृदयसौजन्य तो एक सूक्ष्म और इससे भी भारी शक्तिशाली बल है। विराट प्रकार की अनेकविधता भगवान का वह एक लक्षण है। सृष्टि में असंख्य प्रकार की अनेकविधता हैं । भगवान स्वयं उन सभी ही स्वरूपों को सह लेते हैं । उसकी धीरज को हद नहीं है। यदि वैसा न होता तो इस विश्व का पालन असंभव होता, उसकी उत्पत्ति भी उनके द्वारा ही संभव हुई है। मनुष्य की अनेक परिमितता को भगवान सह लेते हैं । इससे तो हमें सदैव अधिक से अधिक प्रभुमय, आनंदमय, प्रफुल्ल होने का क्षेत्र मिला है और वैसे हो सकते हैं। भगवान की सृष्टि का मध्याह्न का सूर्य वह तो प्रखर, तेजस्वी 'प्रेम' है। उसे तो कोई ही देख पाता है इतना वह ज्वलन्त है । पर उदार भाव यह तो उसका उषाकाल है । इसे तो सभी निहार सकते हैं और उसमें प्रसन्न हो सकते हैं । यह भी उषाकाल की तरह अनेक वर्णों और अनेक स्वरूपोंवाला है ।

अपनी व्यक्तिगत विशिष्टतानुसार और अपने ध्येय को ध्यान में रखकर विचार, वाणी और आचरण रखना यह योग्य ही है, परंतु उसी प्रकार में संपूर्ण सत्य समाया है ऐसी मतांधता रखना, उसका ही सब अनुसरण करे ऐसा हठाग्रह रखना यह हृदय की अनुदारता ही बतलाती है, क्षुद्रता ही बतलाती है । इससे परिणाम में सभी की हानि ही होती है ।

इससे उलटा, हार्दिक उदारतावाला मनुष्य का मधुर हास्य, उसकी मैत्रीमय दृष्टि, उसकी सौम्य वाणी, उसकी शांतिमय वृत्ति का आविर्भाव करती उसकी सुप्रसन्न मुखमुद्रा कैसा भी क्षुब्ध और गरम वातावरण को शांत और शीतल कर डालती हैं । अस्वस्थ मन और दुःखी उद्विग्न हृदय को वह स्वस्थ और प्रसन्न कर सकता है । समस्त विश्व को ऐसा मनुष्य अपने स्नेही आलिंगन में समा लेता है । सभी को शांति, प्रेम, अनुकंपा से वह सुनता है, सभी को समझना चाहता है और बिलकुल विरोधी दृष्टिबिन्दु की भी कदर करना वह प्रयत्न करता है । उसके मन पर पड़ते सारे संस्कारों को वह अनासक्ति, तटस्थता, अलिप्तता से ग्रहण करने का प्रयत्न करता है । इतना ही नहीं, वह प्रत्येक प्रसंग, विचार, व्यक्ति को समग्र, सर्वतोमुखी विराट दृष्टि से देखने के लिए सतत जागृत रहता है ।

मन को समतोल रखनेवाला, हृदय को अनुकंपा से हिलानेवाला, चित्त को सुप्रसन्न रखनेवाली हार्दिक उदारता

है । हम पर सभी कोई इस भावना के कारण प्रेम रखते हैं अथवा कुछ नहीं तो हमारी विचित्रताएँ सहन कर लेते हैं । इस प्रकार जीवनसफलता की गुरुचाबी इस भाव का परिशीलन है ।

योग्य सोच में इतनी सर्जकशक्ति है कि वह चाहा परिणाम लाने के लिए अनुकूल परिस्थिति पैदा कर सकती है । हमारे जीवन को कल्याणकारी मार्ग पर ले जाएँ ऐसे प्रवाह और बल हमारे अंदर और बाहर पैदा करती है । इससे, संभव उतनी नम्रता के साथ जहाँ जहाँ जो भी शुभ हो, अच्छा हो, उसकी योग्य कदर करें और जहाँ अनिष्ट हो, उसके साथ युद्ध करके उसे पराजय करने की प्रेमार्द्र मानसिक दृढ़ता हमें लानी चाहिए । अन्य के सद् अंश को खोज निकालें और उसका पूरा मूल्यांकन करने का प्रामाणिक प्रयास हम में ही वे वे गुणों के विकास को त्वरित और बलवान गति देता है ।

एक सामान्य मान्यता ऐसी है कि उदार भाव दूसरे के प्रति ही रख सकते हैं, अपने प्रति नहीं, यह भी एक भ्रम है । दूसरों के प्रति जागृतिपूर्वक, ज्ञानपूर्वक उदार भाव का अभ्यास किया हो तो अपने प्रति भी वैसा उदार भाव हम रखना सीख सकेंगे । ऐसा करते करते हमारे मंतव्य, भावना, शक्ति और सफलता एवं निष्फलता के बारे में हम योग्य मूल्यांकन करना सीखेंगे और मतांध, हठाग्रही, कूपमंडूकी वृत्तिवाले होने से रुकेंगे ।

कोई-सा एक सद्‌गुण को योग्य रूप से विकसित ही करने से और इस तरह उसे उच्चस्थ कक्षा तक ले जाने से जीवन का जो एकमात्र योग्य हेतु है—**जीव**मात्र का जो अंतिम ध्येय है—उस ओर अर्थात् आत्मसाक्षात्कार की ओर, प्रकृति के स्वभाव से मोक्ष की ओर हमारी गति कर सकते हैं, वह भी यह एक सद्‌गुण के अभ्यास से सिद्ध हो सकता है। और उससे स्वयं दूसरे सद्‌गुण विकसित होते हैं, इस सत्य का स्वीकार मात्र कल्पना या वाद पर ही हमारे लिए अवलंबन नहीं रहता, पर उसके अनुभव पर अवलंबन करता है ।

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

अब लगनी लगाओ न

(गजल)

जीवन स्वामी के भाव से जीवन में आचरण करे जो,
हृदय आनंद सच्चा वह अकेला अनुभव कर सके ।
रस्म, रीति, सारी समझ, ममत्व अपना छोड़ कर,
चाहता है जो जीवन प्रिय को सचमुच भेंट पाता वह ।
जीवन प्रिय में मिल जानें जीवनप्रिय का इच्छित करते,
उमंग उगती जिसको, बने वह प्रिय का प्रिय हा !
हृदय की नम्रता सच्ची हृदय भक्ति से फिदा करके
उमंग से बोल जो प्रिय का उठाये, वह वरे प्रिय को ।
मिले यदि एक-दूसरे को परस्पर एक बनने को,
फना प्यारे के विषय में अब तो दृढ़ करके मन को ।
समर्पण यज्ञ की वेदी पर बलिदान देकर,
चढ़े जो प्रिय को मिलने बनता है एक प्रिय में वह ।
जगत संसारी लाभ को गिने जो तुच्छ जीवन में,
जीवन रस प्रेम आनंद से शांत हो प्रिय में, मिले प्रिय में
जीवन सर्वस्व कुरबानी करते प्रिय के लिए,
हृदय में जिसे तृप्ति होते वह जीवन का लाभ पाये ।
कृपा कर हृदय समझकर, जीवन का मर्म समझकर,
जीवन प्रिय में मिल जाने अब लगनी लगाओ न ।

कुंभकोणम् ता. २७-८-१९४७

● ● ●

विवेकशक्ति

॥ हरिः ॐ ॥

कराची,

ता. ००-४-१९४०

हमारे पास से प्रभु जिस प्रकार के दिव्य जीवन की अपेक्षा रखते हैं, वैसा जीवन प्राप्त करने के लिए विवेकशक्ति अनिवार्य है । अलग अलग चीज या अलग अलग विचार, भावनाएँ आदि के लक्षण परखकर उनके बीच का भेद और उनकी विशिष्टता देख सकने की शक्ति-वह एक ही लक्षण कोई विवेकशक्ति का नहीं है । अलबत्ता, यह शक्ति का यह एक मुख्य कार्य है, पर उसका विकास होने पर उस शक्ति द्वारा अधिक उच्च, अधिक जटिल और अधिक सूक्ष्म स्वरूपों के दर्शन हो सकते हैं, उनके प्रति सच्चा भाव रख सकते हैं और उसके द्वारा उनका योग्य वर्गीकरण करके उनका सच्चा मूल्यांकन कर सकते हैं । बुद्धि की इस शक्ति का योग्य ढंग से विकास हुआ हो और उसका सदुपयोग करने की ज्ञानपूर्वक आदत पड़ी हो, तो इससे सत्य की सूझ भी आती जाती है तथा किस बात को कितना महत्त्व देना है, वह भी पता चलता है । ऐसी समझ बिना सच्चा जीवन असंभव है ।

मनुष्य चतुर, होशियार हो पर उसमें बुद्धिमत्ता-ज्ञान न भी हो । सच्चे ज्ञान का एक मुख्य लक्षण विवेक है । विवेक न हो वहाँ ज्ञान संभव ही नहीं है । कितने ही मनुष्य बहुत

भावप्रधान होते हैं और उनमें विवेकशक्ति बहुत कम होती है । इसका परिणाम बहुत हानिकारक उत्पन्न होता है । केवल बुद्धि या केवल भाव से या दोनों में से एक के अधिक झुकाव से जो जीवन जीया जाता है, वहाँ विवेकशक्ति न होने से अपूर्ण ही है ।

विवेकशक्ति तो एक न्यायाधीश की और फिर श्रीकृष्ण जैसे सारथि की गरज निभाती है । अमुक विचार या वृत्ति, भाव या भावना या अमुक आचरण योग्य है कि नहीं ऐसा प्रश्न जब उठता है और जब मनुष्य के अंतर में माथापच्ची हो, तब विवेकशक्ति उसकी मदद में दौड़ती है । उस उस प्रश्न से संबंधित सभी ओर का विचार करती है, उस प्रश्न के पक्ष और विपक्ष के लक्षण या तत्त्वों को खोजकर उसकी तुलना करती है और अंत में मानो स्वयं कोई तीसरी ही व्यक्ति हो और माथापच्ची उपजानेवाले प्रश्न के साथ मानो अपना कोई भी संबंध न हो वैसी तटस्थता धारण करने के बाद अपना निर्णय जाहिर करती है । ऐसी तटस्थता के परिणाम से जो निर्णय होता है, इससे ही मनुष्य भगवान द्वारा निषिद्ध किये मार्ग पर भटकने से बच जाता है अथवा भटका हुआ वापिस लौटता है । विवेकशक्ति न हो तो जीवन का कोई हेतु, कोई कारण या ध्येय नहीं रहता है । जीवन में जो कुछ भव्यता है, प्रशंसापात्र लक्षण है, आनंद है, वह इस शक्ति को आभारी है । यह शक्ति जितनी कम

उतनी हमारे जीवनपथ में गिर जाने की और ठोकर खाने की संभावना अधिक ।

विवेकयुक्त मनोदशा और वर्तन के लिए जो तटस्थता की जरूरत है, वह तटस्थता अनासक्ति के बिना असंभव है । तटस्थता और अनासक्ति लगभग पर्यायवाची शब्द है । तथापि उनमें भेद भी है । तटस्थता को एक रीति से अनासक्ति का परिणाम भी गिन सकते हैं । उस अनासक्ति पाने के लिए हमें अपने मन के मोड़ों के अनुसार चलना छोड़ देना होगा और प्रत्येक प्रश्न, प्रसंग या व्यक्ति के सम्बन्ध में उस बारे में जो सही मूलभूत हकीकतें हों वही, केवल वही, देखते सीखना पड़ेगा और केवल उसके आधार पर ही हमारा वर्तन रखने का साहस, हिंमत और शक्ति प्राप्त करने पड़ेंगे ।

जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग आते हैं, खास करके आज के सामाजिक, राजकीय, धार्मिक, आर्थिक आदि प्रकार के उथलपुथलवाले जमाने में कि जब हम भावना की बाढ़ में एक लकड़ी की तरह बहते जाते हैं । ऐसे प्रलय की बाढ़ इतनी प्रचंड होती है कि उसमें से बचने विवेकरूपी नौआ की नौका (Noah's Ark) की जरूरत होती है अथवा हिन्दू धर्म का दृष्टांत लें तो हमारे में प्रभु के कूर्मावतार की आवश्यकता रहती है । इसके बिना हमारी भावनाएँ हमारी चेतना को बढ़ते जाते बल से चिपकती जाती है और घेर लेती है । परिणाम में विवेकशक्ति रूँध जाती है और भावनाओं के सजाये हुए

प्रत्यक्ष रूप से स्वर्ग जैसे भी पर सचमुच फलस्वरूप में विषमय ऐसे सुख में रहा करते हैं । इस प्रकार धीरे-धीरे हमें कल्पना भी न हो इस तरह ऐसी भावनाएँ हमें अपनी मायाजाल में फँसाती हैं और हमारा सर्वनाश करती हैं ।

तथापि यदि कोई हमें अपनी इस मोहनिद्रा से जगाने का प्रयत्न करता है अथवा कोई ऐसा प्रसंग होता है कि जिससे हमारा वह मनोराज्य ताश के पत्ते के महल की तरह एकदम टूट जाएगा ऐसी संभावना खड़ी होती है, तो हम ऐसे अपने सच्चे हितेच्छु स्वजनों या प्रसंगों के सामने गरज उठते हैं और बाघ की तरह उस पर झपट मारने को तत्पर हो जाते हैं, और एक प्रत्याघात रूप में सविशेष जोर से हम उस विनाशक पर मोहक भाव के आवेगों के साथ रहते हैं । अंत में हम अपना पौरुष, अपना सच्चा तेज, व्यक्त्वि खो बैठते हैं, इतना ही नहीं, पर उसे खो रहे हैं उसका भी भान हमें नहीं रहता । हम तो प्रामाणिक निष्ठा, सच्चे दिल से, उस आवेग को ही अपना स्वत्व, अपना जीवन मान बैठते हैं । हम ही सच्चे हैं, अपना लिया मार्ग ही सही है और वही एक सच्चा है, दूसरे हमें नहीं समझते, हमारे संयोगों को नहीं देखते, हमारी भावनाओं और भाव या विचारों को मान नहीं देते और बेकार की दखलअंदाजी किया करते हैं तथा कडुआपन खड़ा करते हैं ऐसा हमें लगा करता है ।

ऐसी हमारी दृष्टि और वृत्ति हो जाने से हमारे सच्चे स्वजन हमें आँख में कणिका की तरह चुभते हैं । हमें ऐसा ही दिखता है कि पूरी दुनिया ने हमारे सामने षड्यंत्र किया है और हमारी मुरादें पूरी न हों उसके लिए ही कटिबद्ध हुए हैं । ऐसी दशा में पड़ने के बाद हमारा जीवन निःसत्त्व या द्वेषमय और खारा हो जाता है । सचमुच में ऐसी भावनाओं से विवश होना वह मनुष्य के विकृत स्वरूप की निशानी है । जब जब कोई मनुष्य या वातावरण के या उससे नीची कक्षा के बल के पंजे में फँसे हों, ऐसा हमें सूझे तब उस दशा में से अपना उद्धार करने के लिए, अपने समग्र बल को केन्द्रित करने के लिए, हमें अंतर की गहराई से प्रभु की प्रार्थना करनी चाहिए कि उसमें से हमें मुक्त करे । विवेकरूपी सूर्य की किरणें भावनाओं को अंध कर देते कुहरे को बिखेर डाले इसके लिए हमें सूर्य का आह्वान करने के लिए प्रचंड पुरुषार्थ करना चाहिए ।

मनुष्य के अंतर्गत रहे हुए परमात्मतत्त्व का पूर्ण आविष्कार होने में भावनाओं का आवरण अवरोध करता है, पर शायद विशेष अवरोध तो बुद्धि का आवरण करता है । **बुद्धि, भावना से अधिक आग्रही और लंबे समय तक अपना जीवन टिकाये रखनेवाली शक्तिशाली है ।** बुद्धि की पकड़ भावना की पकड़ से अधिक मजबूत है । बुद्धि से चलते मनुष्य अनेक बार अपनी कोई मान्यता को ऐसी जड़ता से

पकड़े रहते हैं कि इससे उनका विकास होते रुकता है । विज्ञान, तत्त्वज्ञान या धर्मज्ञान में विशेषज्ञ ऐसे कितने ही विद्वानों के बारे में हम जानते हैं कि वे अपने वाद में ही इतने अधिक उलझे रहते हैं कि उस वाद के विरुद्ध कोई भी विचारसरणी के तथ्य को ये देख नहीं पाते ।

हमारे जीवनपथ में अनेक जटिल और नाजुक प्रश्न उद्‌भव होते रहते हैं । हम अनेक बार उलझन में पड़ते हैं कि अमुक प्रश्नों का हल कैसे निकालें । उस प्रश्न के प्रति उद्‌भव हुए अनेक तरह के मन, भाव, प्राणतत्त्व के बल हमें अलग-अलग दिशा में ले जाने को प्रयत्न करते हैं । ऐसे समय में हमारा संतुलन बनानेवाली विवेकशक्ति है । वह शक्ति तो बलवान है और दृढ़ता उसका एक लक्षण है । हेम्लेट के जैसे 'यह करें कि ना करें' ऐसे शंका के भँवर में ही रत रहने की वृत्ति कोई विवेकशक्ति नहीं है । केवल तर्कशक्ति शंका ही उपजाये या खाली दिवास्वप्न रचे । केवल बुद्धिप्रभाव हमें चकाचौंध कर डालता है । केवल भावनाएँ हमें कहाँ की कहाँ घसीट ले जाती है, पर विवेकशक्ति हमारी सहाय में आ कर इन तीनों शक्तिओं का योग्य प्रमाण में संमिलन करती है । और उसके द्वारा हमें कूट प्रश्नों का हल सूझाती है तथा कुशल वर्तन करने का सरल कर देती है ।

विवेक अर्थात् सम्यग दर्शन करनेवाली हमारी दृष्टि, योग्य भाव रखवानेवाला हमारा हृदय, योग्य कर्म सूझानेवाली

सद्‌बुद्धि । भगवान के मार्ग पर आगे चलते, टकराते-भटकते अनजान प्रवासी को तो वह अंधे की लकड़ी के समान है । मनुष्य की सच्ची सुहृद यह शक्ति है । यह शक्ति ही उसकी श्रद्धा टिकाये रखती है, उसमें नये प्राणों का संचार करती है और अनेक कठिनाइयों का सफल सामना करने की युक्ति बताती है । हमारे आंतर्मानस का पृथक्करण करते करते वह शक्ति हमें आत्मचिंतन तक ले जाती है । अरे, उसे प्रार्थना कहें तो भी चलेगा । **एक आदर्श का खूब भावपूर्ण चिंतन यह भी प्रार्थना ही है न ?** इस प्रकार, वह बलप्रद और ऊर्ध्वगामी है ।

पर इस शक्ति का विकास दंभी और आत्मवंचना करनेवाला व्यक्ति कभी नहीं कर सकता । स्फटिक जैसा स्वच्छ यानी कि निखालिस अंतःकरण की नींव पर ही पूर्ण जीवन का भव्य महल बना सकते हैं । मन की स्थिरता विवेकशक्ति के विकास के लिए आवश्यक है, परंतु अंतर की तीव्र अभिलाषा हो तो वह स्थिरता और विवेकशक्ति दोनों प्राप्त हो सकते हैं ।

विवेकशक्ति कितनी ही बार हम में विषाद की छाया भी पैदा करती है । हमारी मनीषाओं की अयोग्यता, आजतक के प्रयत्नों की दिशाभूल तथा हमारी मान ली गई विजयों की पोल खोलकर कितनी ही बार विवेकशक्ति हमें दुःखी दुःखी कर देती है, पर हमारा आध्यात्मिक प्रगति करने का प्रयत्न

जोरदार होगा और हम में सच्ची जिज्ञासा जगी होगी तो वह विषाद क्षणजीवी ही होगा, और निराशा लानेवाली वह विवेकशक्ति हमारे में साहस और निर्भयता का संचार करती है । हम में आत्मश्रद्धा और आत्मविश्वास बढ़ाती है और दैवी शक्ति के ओजस से हमारा संपूर्ण व्यक्तित्व भर देती है ।

प्रत्येक विचार, भावना, भाव, वर्तन का सत्य जैसी कठोरता और न्याय जैसे निर्दय निष्पक्षपात से निरीक्षण करानेवाला सूक्ष्मदर्शक यंत्र यही विवेकशक्ति है । प्रत्येक वृत्ति, भाव आदि का रहस्य जाने बिना उसका पीछा नहीं छोड़ती । इसीलिए ही वह प्रत्येक का सहीगलतपन या उसके सहीगलतपन का अंश हमारी आँखों के सामने खड़ा करती है । साधारण मनुष्य को तो स्वप्न में भी ख्याल नहीं आए ऐसे, पाताल के गर्भ में घुसे हेतुओं को बाहर खींच निकालती है और उसके द्वारा योग्य मार्गदर्शन देती है ।

विवेकशक्ति हमें बाह्य दिखावे के धोखे से बचाती है । 'पीला यानी सभी सोना नहीं है' उस कहावत की यथार्थता वही सिद्ध करती है । सत्य और सत्य का आभास इन दोनों के बीच तो जमीन आसमान का अंतर है । मोहक दिखावा और सच्च तेज ये दोनों अलग ही तत्त्व हैं, ऐसा सिखानेवाली विवेकशक्ति है । उसी तरह कुरूप अरुचिकर दिखावे से उत्पन्न होती घृणा से भी वही बचाती है । वही समझाती है कि खेतों में खाद कितना भी दुर्गंध फैलाये तब

भी उसका सृष्टि में स्थान है ही और वहाँ उसका उपयोग भी है ही । इस तरह अपने में मानसिक उदारता वैसी समझकला प्रकट करती है । कठोर दिल के मनुष्यों या प्रसंगों के पीछे अमुक हितकारक, कल्याणकारक उद्देश हैं, ऐसा समझाकर कितना धैर्य और आश्वासन तथा बल वह देती है ! उस शक्ति द्वारा ही हमें ख्याल रहता है कि मधुमक्खी दंश देती है, पर शहद जैसा स्वादिष्ट और पौष्टिक खाद्य देनेवाली भी मधुमक्खी ही है । कोयल है तो काली पर उसके कंठ ने किसे मुग्ध नहीं किए ?

परम हितकारी और आनंददायी यह गुण विकसित करना, प्रत्येक के हाथ की बात है । विद्या की तरह वह भी उपयोग से विकसित होता है । जीवन की महान पहेली के समय ही नहीं पर सूक्ष्म से सूक्ष्म दिखते प्रतिदिन के प्रसंगों में भी उपयोग करने की आदत डालनी चाहिए । ऐसा होने पर ही विवेक गुण के द्वारा हमारा दिव्य रूपांतर होता जाता है । हमारा जीवन व्यष्टि से समष्टि तक फैलता जाता है । फिर तो वह शक्ति दैवी प्रेरणा या आर्त नाद में परिणत होती है । तब सत्य खोजने में क्षत्र मात्र की भी देर नहीं लगती । स्थूल चीजों की तरह प्रत्येक का हार्द हमारी अंतर की आँखों के आगे तुरत खड़ा होता है । अंत में वह शक्ति निम्राँत मार्गदर्शक बन जाती है ।

कोई भी विचार, भाव या वृत्ति कितनी भी जोरदार हो, आग्रही हो, व्याप्त करनेवाली हो, तब भी उसके सामने विवेकबुद्धि के दिये शस्त्र द्वारा हमें लड़ना ही होगा । हम अपने हृदय में उसे हमेशा के लिए तो स्थान नहीं दे सकते । ऐसा कर सकने में विवेकशक्ति का विकास अत्यंत आवश्यक है ।

हमें ऐसे अनेकविध दिव्य आयुधोंवाले और बलवान योद्धा को सतत अपनी सहायता के लिए रखने का प्रयत्न किया ही करना चाहिए । विवेकशक्ति की अनिवार्यता तथा उत्तमता का सत्य हमें जितना जल्दी सूझे और उसका ज्ञानपूर्वक उपयोग जितना अधिक कर सकेंगे उतना विशेष लाभ हमें होगा ।

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

हृदय के आँसू

(गजल)

बहुत प्रिय सौ.... बहन,

हृदय के आँसू का मूल्य हृदय वह अकेला जाने,
न मूल्यांकन किसी से भी कभी उसका हो सके ।

पड़े हुए आँसू वे तो अभी मुझ से न भुलाये,
हृदय में भावमूर्ति को अहा ! वे कैसा जन्म देते !

हृदय के आँसू का भाव हृदय से जो रोना जाने,
समझेगा अकेला वैसे अनोखा भाव उसका जो ।

पड़ते न आँसू ऐसे ही, कथा आँसुओं की न्यारी,
बहता है आँसू के अंतर हृदय का मर्म कुछ भारी ।

हृदय की भावना का बहे इतिहास आँसू में,
और आँसू से जो भाव बढ़ाये शक्ति तो उसमें ।

न लूली भावना आँसुओं की, शक्ति महा वह तो,
जगाने को, बढ़ाने को, हृदय का भाव आँसुओं ।

बहाओ आँसू न बेकार, बहाओं ज्ञानपूर्वक उसे,
हृदय के मर्म को बेधने, हृदय में भाव टिकाने ।

पसंद आँसू मुझे प्यारे, प्रभु प्रकट करनेवाले हैं,
हृदय खुल्ला करवाकर हृदय चरण में ठहराये वे ।

बहें जहाँ आँसू अंतर गीला वहाँ हो कैसा वह !
और एकग्रता भाव हृदय में क्या जमता लगे !

हृदय के भाव में किसी तरह संचार* जहाँ लगे,
बनकर आँसूरूप में ऊर्मि हृदय का भाव प्रकटाये ।

जीवन आंतर दशा आँसू द्वारा कैसी पता लगे, जो
ले अंतर विषयक, आँसू महा साधनरूप में उसे ।

महा आनंद से आँसू बहे, अंतर द्वारा जिसे,
सुंदर ऐसे अहा ! आँसू गिरे, वे भाग्यवान हैं ।

बेकार दुःख के लिए बहाये आँसू नयन में जो,
जीवन निर्बल कर डाले, अशक्त क्या बने स्वयं !

जीवन जन्म देने आँसू की जो साधना करेंगे,
जीवन पाकर वैसे महा बड़भागी क्या बनेंगे !

रोया करना, रोया करना, कर खुल्ला हृदय सारा,
प्रभुचरण में निवेदन सब तुम जो भी किया करना ।

प्रभु स्वयं नहीं बहरा सभी सुनता है वह,
हृदय से जो कहे अंतर प्रभु को वह प्रभु सुनेंगे ।

कहने की कला ऐसी प्रभु को तो सूझ न पड़े भारी,
दुविधा व उलझन हो, प्रभु को पुकारों तब ।

---

* आघात

प्रभु को कहने में वहाँ सब तुम्हारी आत्मा उँड़ेलो
कहकर अंतर करो खुल्ला बताकर सब बताकर के ।

प्रभु के साथ जो गाँठ हृदय की बांधेगा भाव से,
प्रभु उसे पहचानकर हृदय अपनाएँगे प्रेम से ।

जीवन के सर्व संबंधों द्वारा संबंध प्रभु का,
हृदय जिसे बहुत प्रिय, प्रभुजी सुने उसे ।

जूठन ना कोई उसे चले, उसे सबसे पहले,
अर्पण करके निज का समग्र, प्रसादीरूप लो फिर सब ।

बहाओ आँसू अंतर के हृदय के आर्त व आर्द्र,
स्फुरित भाव से, ठहरने सब आधार प्रभु पाद ।

हृदय के आँसू से हृदय बिलोयाये गहरा जिसका,
हृदय के भाव की गूँज कराये वे सच में गहरी ।

हृदय पूरा शांत होने प्रभु साधनरूप से आँसू,
महा मौक्तिक अनमोल प्रसादी से मिले वे सब ।

जीवन को जो तपस्यारूप से अंतर विषय में समझे,
'जीवन आनंद काज है', जीवन को यों समझे वह,

सूरत से खार* जाते

* मुंबाई का एक उपनगर

ता. ३०-७-१९४५

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

आध्यात्मिक जीवन का अनुमान

सायला,
ता. ६-९-१९४५

प्रिय भाई.....,

अध्यात्म जीवन की कला जाननेवाला तो सच्चा गृहस्थाश्रमी हो सकता है, साथ ही सहजता के साथ-साथ संपूर्ण संन्यासी भी हो। वह देशसेवक भी हो और आंतरराष्ट्रीय सेवक भी हो, वह जैसे अपनी प्रजा का हो वैसे समष्टि का भी हो। उसमें हृदय से ही सहज समदृष्टि होगी। उसे कुछ भी ऐसा-वैसा होनेपन नहीं है। वहाँ विचार भी नहीं और संकल्प भी नहीं है। जैसी-जैसी उसे जीवन में परिस्थिति मिलती जाय वैसे-वैसे वह उस पर वहन किया करता है। उसे कोई एक दृष्टि, वृत्ति और भाव नहीं होते - वह फिरता भी हो और स्थिर भी, और दोनों में से एक भी न हो और दोनों साथ भी हो। वह एक कार्य करते अनेक कर्म में व्याप्त रहा करता है। और कुछ भी नहीं करता होता तब भी वह सही सच्चे भाव में सहजरूप से प्रवृत्त रहा करता होता है। उसे किसी में प्रवेश नहीं करना पड़ता, क्योंकि वह प्रत्येक के सहज स्वभावरूप से है, वह जैसे एक है वैसे अनंत भी हो सकता है, और तथापि संपूर्ण शून्य भी हो सकता है। वह कर्म है, कर्म के अंतर में है, कर्म के आदि में भी है, और

वह कर्म ही उसमें है । ऐसा प्रत्येक अनुभव उसे ज्ञानपूर्वक आत्मा की सहज शक्ति के भान में हो जाएँगे ही । वह किसी में पड़ता नहीं, क्योंकि उसे पड़ने जैसा है नहीं । वह काल है और काल उसमें है और उससे भी परे है ।

हमारे जीवन का भी यही आदर्श है । उपरोक्त सभी लेखन बुद्धि में न समा सकता हो या बुद्धि से न समझा जा सकता हो तब भी वह हकीकत की बात है ।

हमें जहाँ जाना है, उसका स्पष्ट आदर्श तो प्रत्यक्ष हृदय-दृष्टि के सामने रहा करना ही चाहिए । तभी जीवात्मा अपने कर्म, वर्तनव्यवहार में, वृत्तिविचार में अपनी दृष्टि उसके प्रति जीवंत रखा करे, तभी वह सहजता से तब तब जागृत हो सकता है, जहाँ स्वयं जागृत होता है—दिल में ख्याल आता है तब—जैसे हमें खूब क्रोध आया हो और तब भान नहीं रहता, पर वहाँ जागृत होते वह क्रोध रुकते हुए जरूर अनुभव कर सकते हैं और गुस्सा नहीं टिकता । थोड़ी देर पहले हमें ही उस पल में हम कैसे हुए थे, उसका भान न रहता था, पर वहाँ जो सावधान या जागृत हो वह निर्लिप्त रहता है । उस तरह कर्म में, वर्तनव्यवहार में या वृत्ति-विचार में जागृति का स्पष्ट भान होते जागृति अनुरूप वह वह बना ही करेगा ।

मात्र, हमें उस उस पल में जागृति का भान नहीं होता और यही निर्बलता है । उस जागृति का भान नहीं होता,

उसका कारण हमें ध्येय में निष्ठा नहीं है, उसकी लगन नहीं लगी है, उसकी तीव्र भूख नहीं लगी, यह बात निश्चित है । तो अब भूख लगाने के लिए क्या करना ? जो साधन लिया है उसका सहृदयतापूर्वक सतत अभ्यास किये बिना भूख नहीं लगती है । तुम कहोगे कि वैसे अभ्यास का समय ही कहाँ है ? तो वह भी वाजिब है, किन्तु हम जिस युग में जन्मे हैं, उस युग के कालधर्म के लक्षण अनुसार हमें बरतना रहेगा । हम जिस देश में, जिस प्रजा में रखे गये हैं, उस प्रजा के हम अंश हैं, उस प्रजा को प्रत्यक्षरूप से उठाने के सीधे कार्य में भले न हों, किन्तु हम स्वयं हृदय से ऐसे भावनाशील रूप से उठते जाएँ कि ऐसे उठते जाने में ही समस्त प्रजा उठती हो, तो यह कोई एक प्रजा की मात्र सेवा नहीं है, पर सारी प्रजा की और उससे भी परे समस्त समष्टि की वह सेवा है । हमारे जीवन का कार्य एक के प्रति होने पर भी सर्व कार्य में समा जाता हो ऐसा वह सर्वव्यापक हो सकता है । मात्र, जीवात्मा को अपने जीवनआदर्श के प्रति इस तरह का हृदय से संपूर्ण संतोष-विश्वास होना चाहिए अथवा ऐसी उसमें निष्ठा जन्मी होनी चाहिए ।

हमारे में ऐसी समझ व्याप्त है कि संकल्प-विकल्प होते बंद हुए वह संपूर्ण अनुभवस्थिति, किन्तु यह जो जीवनमुक्ति की आदर्श स्थिति है, वह तो अंतिम मर्यादा है । वैसा हुआ यानी सारे आवरण हटे, आत्मा की चेतनाशक्ति को प्रकाशित

होने का फैलाव हुआ । अभी तक तो बालक जैसे आँवल में उलझा रहता था, तथापि उसमें वह जीवित था, पर बाहर आने पर वह आँवल से मुक्त होता है और आँवल को भी पूरा निकाल देना पड़ता है और बालक सही **जीव**रूप में प्रवेश करता है, वैसे ही उस स्थितिवाला होते ही चेतना-भाव-शक्ति सहजरूप से उसकी कक्षा से अपनेआप प्रकट होती अनुभव होती है ।

उपरोक्त जो सभी वर्णन किया है वैसे अनेक अनुभवों में वह सहजरूप से व्याप्त है, इन सबका उसे प्रत्यक्ष ज्ञान है । मात्र, जीवात्मा की ऐसी जीवनमुक्ति की स्थिति होने तक ही सभी माथापच्ची है । इससे इसमें जीवनमुक्ति पर ही अधिक से अधिक महत्त्व दिया है । जीवनमुक्ति के बिना कुछ नहीं हो सकता । जीवनमुक्ति यह उसकी नींव है । किसी में भी जीवनमुक्ति स्वीकार किये बिना कुछ पा नहीं सकते या आ नहीं सकता । मानवी-जीवात्मा वैसी आत्यंतिक जीवनमुक्ति स्वीकार करने की तैयारी बताता है, क्योंकि वहाँ फल प्रत्यक्ष वह अनुभव करता है अथवा अनुभव का लक्ष्यार्थ मन में जीवित रहा ही करता है पर साधारण मानवी को ऐसी जीवनमुक्ति सहजता से स्वीकारना बहुत अखरता है, जिसे ऐसा अखरता है, वह कहीं तो उसकी अनिवार्यता समझा नहीं है या उसका हार्द-महत्त्व समझा नहीं है अथवा ऐसे जीवनमार्ग में प्रवेश करने का सोचा था, तब उसमें ऐसा ऐसा आयेगा ऐसी कोई कल्पना ही उसे न थी ।

आध्यात्मिक जीवन में पड़ना यह उसके मन का एक प्रकार का व्यापार जैसा ही होगा और 'चलो तब शीघ्रता से उसमें जो कुछ प्राप्त करना होगा वह प्राप्त कर लेंगे' ऐसी वह कल्पना करता है अथवा किसी को ख्याल ही उस बारे में नहीं होता । तथापि उसकी गंभीरता का भान तो बहुत ही कम उच्च मनुष्य को होता है । उसका सच्चा गहरा ज्ञान तो वह जैसे जैसे अंदर प्रवेश करता जाता है वैसे वैसे उसे जागता जाता है, और वहाँ जो नाहिम्मत होता है, वह लड़खड़ा जाता है । वहाँ उसकी मर्दानगी को पुकार देने का सही मौका खड़ा होता है । उसका सर्व पुरुषातन खप जाय ऐसा कोई भारी अलौकिक युद्ध में कूदना होता है । दुनिया के युद्ध में पड़े हुए का तो जगत को पता भी होता है । उसके यश-अपयश भी गाये जाते हैं, किन्तु यह युद्ध तो कोई देख नहीं सकता, क्योंकि जगत को—जगत में ऐसी दृष्टि—वृत्ति उसके सम्बन्ध में होती ही नहीं । जिसकी जैसी दृष्टि होगी वह वैसा ही देख सकेगा । इससे उसकी कदर करनेवाला तो कोई नहीं मिलेगा । उसकी कदर तो उसका हृदय अपने से संतोष कर लेता हो वही सही । बाकी तो उसके आसपास संपूर्ण जगत होने पर भी वह स्वयं अकेला ही रहा करता होता है । भले ही वह हिले-मिले, पर वह स्वयं को अकेला ही पाता है ऐसा सहजता से अनुभव करता होगा । इसप्रकार, एक तरफ पूरा जगत तो दूसरी तरफ स्वयं अकेला । जगत उसे संपूर्ण नकारे

और संपूर्ण स्वागत भी करे सही इन दोनों की परवाह करने से नहीं चलेगा । और ऐसे भी जो साधक पहले 'चलो, इस आध्यात्मिक क्षेत्र में कूदें' इस व्यापारी दृष्टि से इस क्षेत्र में आया होगा, वे कुछ समझ नहीं सकेंगे और 'सेवा का यह क्षेत्र तो राग -द्वेष से पर है, स्थूल सेवा के क्षेत्र में तो रागद्वेष और झगड़े हैं' ऐसा अनुभव होने से जिसे वहाँ असंतोष लगता है - ऐसी सेवा से उसे संतोष नहीं होता और अधिक उच्च क्षेत्र में सेवा करने का मन होने से इसमें वह पड़ता है, वैसे साधक को ही उसके साहस, जोखिम, महत्ता, गंभीरता, उसकी विराटता, अनंतता, अगाधता और अथाहता-ये सब साधना के अविरत कार्य के पल पश्चात् जागता होता है । साधक के हृदयपट-दृष्टिपट के आगे एक कोई अलग सूक्ष्म विशाल प्रदेश जागृत होता है और क्षणभर तो साधक घबरा जाता है । 'ओहो हो हो ! यह तो बहुत हुआ ! यह तो भला कठिन काम है !' ऐसा उसके दिल में होता है ।, अब तो कूदने से ही छुटकारा है और डूबे तो पूरे डूबे' ऐसा करके उसमें संपूर्णरूप में कूद पड़ते हैं । अनधिकारी उसी जगह से वापिस भी फिरते हैं, क्योंकि वे उलझ जाते हैं - अपार, अगाध समुद्र में तैरना न जाननेवाला जैसे घबराहट से मरने से पहले ही मर जाता है वैसे । हमें भी इस तरह नये सिरे से विचार कर लेना है ।

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

'प्रिय स्नेहीजनों जीवन सौभाग्य है'

प्रिय स्वजन प्रिय मुझे प्रिय ही मेरा सर्वस्व है,
प्रिय के जीवन सही ! शृंगार मेरा वही है,
प्रिय से मैं जीने चाहूँ, प्रिय ही मेरे प्राण हैं,
'प्रिय का हृदय-भाव' वह मेरे प्राण का भोजन है ।

प्रिय स्वजन मेरी आत्मा, प्रिय ही मेरी शक्ति है,
'प्रिय होना ऐसे जीवन में' प्रार्थना तुम्हारे चरण में वह,
'प्रिय रखाये स्मरण में' प्रिय स्वजन को क्या हृदय में !
'प्रिय किन्तु स्मरण में रखे न इस **नादान को** ।

तुम्हारे हृदय का भाव वह तुम्हारे कार्य में क्यों न बहे ?
मानो न होऊँ जीवित ऐसा क्यों किया करे ?
हृदय में स्वजन की लगन को जलती रखकर जीयुँ,
किन्तु निराशा स्वजन से ! हृदय में कैसा जला करूँ ?

मेरा होता कैसा होगा वह कौन सूनेगा पूरा ?
टूट टूट हृदय बने टुकड़े स्वजन के मर्म क्या !
प्रिय जीवन का स्वप्न है, प्रिय जीवन-आदर्श हैं,
प्रिय जीवन की रंगभूमि, वही अद्‌भुत प्रेम है ।

प्रिय जीवन का भाग्य है, प्रिय जीवन सौभाग्य है,
प्रिय सदा 'प्रिय' रहकर जीवन को फलित करना रंक को.
सूरत ता. ३०-७-१९४५

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

संतों के दुर्गम वर्तन और उनके कारण

साबरमती आश्रम,
ता. ००-९-१९४२

अपने सत्त्व का शीघ्र पहचान सके ऐसा आविर्भाव संतों सामान्य रूप से नहीं होने देते । इससे, अपरिचित जिज्ञासु और आध्यात्मिक पंथ से बिलकुल अनजान हो, ऐसों को कई बार बहुत उलझन होती है । परिणाम में उनमें अमुक की श्रद्धा संतमात्र पर से उठ जाती है । अपने ही संकुचित और विकृत मानस के माप से संतों को मापने जाते संतों के अमुक वर्तन उनको अगम्य अथवा निंद्य और घृणास्पद भी लगते हैं । संतों के ऐसे कार्यों का गूढ़ किन्तु कल्याणकारी हेतु ऐसों के समक्ष खुला करके उनको समझाने में आये तथापि वे उन हेतुओं की कदर नहीं कर सकते । उनके मन में एक समस्या खड़ी होती है कि जान बुझकर संतों क्यों इस तरह आचरण करते होंगे कि जिससे उनके बारे में लोगों में गलतफहमी और कुशंका फैलती है ? यह तो समाज की उलटी कुसेवा हुई ऐसा लगता है ।

संतों के ऐसे धोखा देने के कारणों को समझना भी सरल नहीं है । ऐसे सूक्ष्म, दुर्बोध वर्तन को समझने के लिए हम पहले तो स्थूल और सूक्ष्म का भेद समझ लें । आँख की

पुतली स्थूल है, दृश्य पदार्थों की जो छवि वह झेलती है, वह सूक्ष्म है, पर वह छवि स्वयं ही उसे ग्रहण करनेवाली और संस्कार देनेवाले मन की तुलना में स्थूल है। एकाग्र चित्तवाला मनुष्य आसपास की आवाज या पदार्थों सुन या देख नहीं सकता, यह हमारा सार्वत्रिक अनुभव साबित करता है कि इन्द्रियों का सूत्रधार तो मन है, इन्द्रियाँ तो साधनमात्र हैं। इससे, स्पष्ट होता है कि स्थूल (इन्द्रियाँ या दृश्य की प्रतिकृति– छवि) से मन (सूक्ष्म) अधिक शक्तिशाली है।

किन्तु हम मन जैसे चमत्कारिक तत्त्व की गूढ़ता में थोड़ा अधिक गहरा प्रवेश करेंगे, तो मालूम होगा कि मन से भी सूक्ष्म कुछ दूसरा है अथवा चर्चास्पद कथन छोड़ दें तो इतना तो जरूर कह सकते हैं कि मन के दो स्तर तो हैं ही:– – उच्च मन और निम्न मन – यह उच्च मन निम्न मन से अधिक सूक्ष्म है और अधिक शक्तिशाली है। यद्यपि साधारण रूप से दीखता है उलटा। अनेक लूटेरों या खूनियों का संतों में हुआ परिवर्तन के ऐतिहासिक उदाहरण पर से ऐसा निश्चित कह सकते हैं कि उच्च मानस कितना भी ढँक गया हो, दब गया हो, मर गया दिखे तब भी वह चिरंजीवी है और निम्न मानस नाशवान है तथा उच्च मानस के द्वारा पराजय पाता है। अलबत्ता, निम्न मानस का पराजय करना अथवा तो उसका दिव्य रूपांतर करना या योग्य नियंत्रण करना सरल नहीं है, पर असंभव भी नहीं है।

इस पर से एक नियम माना जा सकता है कि स्थूल तत्त्व से सूक्ष्म तत्त्व अधिक शक्तिशाली है । सृष्टि के पोषण के लिए दोनों अनिवार्य हैं यह सच है, तथापि सूक्ष्म तत्त्व की ओर यदि कोई अधिक लक्ष दे तो वह अयोग्य है ऐसा तो हम उपरोक्त कारण से नहीं कह सकते हैं ।

मानवी शरीरधारी होने से उसे इस जगत में कुछ न कुछ प्रवृत्ति तो करनी ही पड़ती है । केवल निष्क्रियता उसके लिए असंभव है, पर मानवसमाज में अनेकविधता होने के कारण समाज के अस्तित्त्व और संवर्धन के लिए अलग-अलग स्वभाव के अलग अलग प्रकार की शक्ति के व्यक्तिओं की अलग अलग कार्यक्षेत्रों की आवश्यकता हमेशा रहती है । आज के जमाने में सभी सिपाही हो वह असंभव भी है और अयोग्य भी है । इसलिए जैसे **व्यायामशिक्षक का कार्यक्षेत्र शरीरविकास है और शिक्षक का कार्यक्षेत्र मनोविकास या बुद्धिविकास है वैसे संत का कार्यक्षेत्र मानवीस्वभाव का दिव्य रूपांतर है ।** शील का विकास करना यह भी शिक्षक के कार्यक्षेत्र में आ जाता है ऐसा भाग्य से ही कह सकते हैं । पदार्थविद्या जैसे स्थूल या अर्थशास्त्र या न्याय या फिलोसफी जैसे सूक्ष्म विषयों की जानकारी देने में ही शिक्षक के कार्य की परिसीमा आ जाती है ।

बहुत अधिक तो ऐसा कह सकते हैं कि इससे विद्यार्थी की बुद्धि, अवलोकनशक्ति या अनुमानशक्ति का विकास

होता है । यानी कि मन के स्थूल विभाग का विकास होता है । अलबत्ता, ये सारे गुण आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक नहीं ऐसा तो कहना ही नहीं है, पर इससे जो आध्यात्मिक विकास होता है, वह थोड़ा बहुत और अलग तरीके से होता है । **किन्तु जहाँ शिक्षक का कार्य समाप्त होता है, वहाँ से ही संत या गुरु का कार्य शुरू होता है । बुद्धि, चित्त, संस्कार, सुप्त मानस (Unconcious mind), भावनाएँ, प्रेरणाएँ, प्राण आदि में जो जो गंदी आदतें गले में चक्की के पाट की तरह लटकती रहा करके साधक के आत्मीय विकास को रोकती हो, वे सब दूर करके अथवा उसे शुद्ध करके, आत्मस्थिति में आने में साधक के प्रयास को सहायभूत होना यह काम गुरु का है ।** श्रीमहेरबाबा कहते हैं वैसे 'He comes not to teach but to awaken.'

ऐसे अति सूक्ष्म कार्य के लिए कुदरती रूप से साधन भी सूक्ष्म ही चाहिए । टेबुल जैसे स्थूल पदार्थ के सर्जन के लिए औजार और हस्तकौशल की आवश्यकता रहती है । बुद्धिविकास जैसे उससे सूक्ष्म सर्जन के लिए वाणी-लिखित या मौखिक की मुख्यतः आवश्यकता रहती है । उसी नियम के अनुसार आध्यात्मिक विकास के लिए जो विशेष सूक्ष्म साधन की जरूरत रहती है, उसे शक्तिसंचार या आध्यात्मिक वातावरण या psychic contact ऐसा नाम दे सकते हैं । यह

साधन इतना सूक्ष्म होता है कि शिष्य को प्रारंभ में पता ही नहीं होता कि वह उसकी असर के नीचे वर्तन करता होता है । अलबत्ता, इस विद्या में भी वाणी बिलकुल वर्ज्य नहीं ही है। पर सूक्ष्म संबंध से उपदेशात्मक वाणी कम असरकारक होती है और इससे इसका उपयोग कम होता है ।

इसी कारण से ऐसे संत अनेक बार निष्क्रिय अथवा बिलकुल अलिप्त—जड़ता की हद तक अलिप्त–दिखते हैं, और वे केवल जगत के आंदोलनों के प्रति ही नहीं पर जिन्होंने उन्हें मार्गदर्शन के रूप में स्वीकार किया हो उनके सम्बन्ध में भी । सचमुच तो जगत या अपने ही शिष्य भले न जाने, तथापि वे सूक्ष्म और अदृश्य रूप से खूब ही प्रवृत्तिशील उनके हित के कारण ही रहा करते होते हैं । इससे ही वे वाणी द्वारा उपदेश दे या न दे, अपने शिष्यों को अपने स्थूल सामीप्य में रखे या ऐसे शिष्यों को उनकी आसक्ति के कारण बहुत कड़वा लगे तो भी दूर के दूर रखे, तथापि आध्यात्मिक शक्ति के आंदोलन सतत बहाया करते ही रहते हैं ! ऐसे तरंग साधकों के व्यक्तित्व में गहरे प्रवेशकर उसका परिवर्तन करने लगते हैं । साधकों की तीव्र आकांक्षा और उत्कट प्रेम के प्रति उदासीन रहते दिखने का दूसरा एक कारण यह है कि ऐसी उदासीनता को दिखावा ही साधक को अधिक पुरुषार्थरूप होकर गुरु का प्रेम प्राप्त करने का प्रयत्न करने को प्रेरित करता है। यों, शुष्कता का संतों का स्वांग भी जगत के हित के लिए ही होता है ।

ऐसा संत साधक की निद्रावस्था का सदुपयोग करना भी नहीं चूकता । नींद में हमारा जागृत मन प्रमाण में निश्चेष्ट और अशक्तिमान होता है । हमारी इन्द्रियों की बहिर्मुखता तत्काल के लिए शिथिल होती है । हमारा केवल प्राण जागृत होता है । ऐसे समय में साधक के आंतरसत्त्व (inner being) को पहुँचना कुछ अधिक सुगम होता है ! इससे, संत ऐसे मौकों का लाभ लेना नहीं छोड़ते ।

साधकों की जागृति की दशा दौरान भी गुरु निष्क्रिय नहीं होता । सूक्ष्म तत्त्वों को परखने की उनकी दृष्टि अधिक से अधिक खिलती जाय उसके लिए वे उनको सदा सचेत रखते हैं । जैसे जैसे साधकों की प्रगति होती जाती है, वैसे-वैसे उन्हें भरोसा होता जाता है कि यद्यपि उनके आध्यात्मिक मार्गदर्शन की वृत्ति, भाव और आचरण कोई भी पहले के विचार से प्रेरित नहीं है पर सहसा और स्वतःस्फूर्त होते हैं तथापि—कि इससे ही—उसके एक-एक कार्य में, वाणी में, हावभाव में गूढ़ हेतु भी समाया हुआ होता है । इस समझ उनमें विशेष रूढ़ होते वे ऐसे संत के प्रत्यक्ष रूप से विचित्र या बिलकुल सामान्य प्रकार के वाणी और वर्तन के पीछे छिपे हुए गूढ़ हेतु खोजने अपनेआप मथता है । यों, उनको सतत जागृत तथा चकोर रहना ही पड़ता है । फिर, **प्रत्येक शिष्य के आंतर्मंथन तथा उसके समीप खड़े होती समस्या का**

गुरु को ज्ञान होने से वह ऐसी समस्या का हल बातबात में - कभी तीसरे के साथ बात करते हुए दे देता है ।

साधक जागृत न हो तो उसकी वह समस्या दूसरा ऐसा मौका मिले तब तक हल हुए बिना रहता है और इससे उसकी कठिनाई बनी रहती है । इससे, साधकों को गुरु की विशिष्ट भाषा, व्यवहार, आदि समझने के लिए मेहनत करनी पड़ती है और अपना तथा गुरु के मन का निरीक्षण तथा पृथक्करण ऐसे प्रयास के एक अंग रूप उनको करना पड़ता है । इतने परिश्रम के बाद जब साधक गुरु की वाणी या वर्तन पीछे का रहस्य समझता है और उसमें से अपने विकास के अनुकूल तत्त्व उसे मिलते हैं, तब उसे अति आनंद होता है । फिर तो उसे लगता है कि प्राप्ति या फल के प्रमाण में तो वह परिश्रम बहुत कम था । यह समझ आने पर उसे थोड़ीसी ही पूँजी से अधिक नफ़ा पानेवाला व्यापारी से सवाया आनंद भी होता है । ऐसे दुर्बोध वर्तन की अनिवार्यता भी उसे समझ में आती जाती है । अमुक बार कड़वे अनुभव से ही सीखने देने की अपने गुरु की प्रत्यक्ष रीति से निर्दय पद्धति में सच्ची दया, समझदारी और प्रेम समाये हुए हैं ऐसा उसे भान होता है । और अपने सच्चे और प्रेमपूर्ण हितकारी को वह भ्रमणा में बह जाकर दोष देता था. । ऐसा विचार उसे स्फुरित होते वह फिर अधिक गुरु के प्रति आकर्षित होता है ।

साधक को अब सूझने लगता है कि गुरु ने जानबूझकर कठिन परिस्थिति में डाला था, तो ही उसके अंदर दबी हुई शक्ति जोर से फूट निकली और अथक परिश्रम के बाद मिली हुई प्राप्ति सविशेष लाभदायी और आनंदप्रद हुई । साधक इस कक्षा तक पहुँचता है, वहाँ तक तो गुरु की सूक्ष्म असर का प्रभाव उस पर अधिक सरलता से पड़ता जाता है और ऐसी असर पड़ती है उसका भान भी जागृत होता जाता है । इस भान के कारण ही वह उस फलप्राप्ति फिर भी प्रमाण में नम्र रह सकता है और उसे समझ आती है कि गहरे पानी में धकेलनेवाले भी गुरु और तड़फड़ाते हुए किनारे पहुँचने के उसके प्रयास में गुप्त सहायता देनेवाले भी गुरु हैं । इतना सब शुभ परिणाम केवल साधारण उपदेश से या वर्तन से नहीं ला सकते ।

गुरु अमुक बार अपने शिष्य पर दुनिया के कार्यों का लगभग असह्य बोझ लादकर उसकी प्रगति रोकते अथवा हार भी करवाता दिखता है, पर उसमें भी उसका हेतु कल्याणकारी है और परिणाम भी ऐसा ही आता है । एक तो ऐसे कार्य सौंपे जाते हैं, तब श्रद्धा की भी कसौटी होती है । अनुभवों से उत्पन्न हुई नयी समझ के आधार पर ऐसे आदेश के पीछे गुरु का क्या शुभ हेतु होगा वह खोजने साधक की बुद्धि मंथन करती है । इस कारण से पहले तो ऐसा सूझता है कि इससे स्वयं की धीरज बढ़ी है । **आध्यात्मिक मार्ग में जितनी**

उत्कंठा आवश्यक है, उतनी ही धीरज की और फल के लिए अनासक्ति की है ।

साधक प्रवृत्ति के तूफान में पड़ने पर भी आंतरिक स्थिरता, शांति, स्वास्थ्य भी अपनेआप आता है, इसके अलावा, दुनिया के कार्यों भी करने की कुशलता उसे मिलती है, पर ऐसी प्रवृत्तिओं में साधक को डुबाने में संत का सब से मुख्य हेतु तो अपने साथ उसकी चेतना की कड़ी दृढ़ और अटूट होने लगे वह है, क्योंकि प्रवृत्ति में बह गया साधक सहज आराम मिलते स्वयं अपने जीवनकार्य से विमुख हो गया है, उसका भान होते सविशेष जोर से, तनदिही और उत्साह से उसमें लग जाता है और ऐसी कठिनाई में हमेशा अपने पास खड़े रहनेवाले गुरु की ओर उसकी निगाह रहती है । यों, प्रतिकूल दिखते संयोगों को अपने अनुकूल करने की शक्ति उसे मिलती है ।

गुरु कितनी ही बार जानबूझकर ऐसी वाणी बोलते हैं कि जिसका भावार्थ अलग-अलग कक्षा के सुननेवाले अपनी अपनी शक्ति के अनुसार अलग अलग करते हैं, पर सबसे सच्चा अर्थ तो सबसे आगे बढ़े साधक ही शायद समझते हैं, पर किसी को उसका रहस्य समझ नहीं आता तथापि वह चिंता नहीं करता । शिष्यों के ज्ञानचक्षु इतने शक्तिशाली हो कि वे रहस्य देख सके वहाँ तक वह आराम से राह देखता

है । देवों, दानवों और मानवों ऐसे तीन को विष्णु भगवान ने 'द', 'द', 'द' ही कहा यह बात इसका एक दृष्टांत है ।

साधना के पथ पर प्रथम कदम रखनेवाले को कितनी ही बार अनुभव होता है कि गुरु उनकी योग्य या अयोग्य सभी इच्छाओं को पूर्ण करता है । और उनके दास जैसा होकर रहता है । साधक के मन आदि में घर कर बैठे सभी जड़ मंतव्य और आग्रह बाहर के दबाव से नहीं, किन्तु साधक में ही उद्‌भव होते जाते नये संस्कारों के परिणाम से नाश हो, उस हेतु को ख्याल में रखकर गुरु प्रारंभ में ऐसा करता है । उसे इससे बहुत सहन करना पड़े तो इससे अपना प्रारब्ध भोगा जाता है, ऐसा जानकर वह शांत रहता है । अंत में साधक को अपने स्वभाव का तथा मताग्रहों अनुसार अकुशल आचरण का भान होता है और तब अपने कारण गुरु ने कितना सब सहन किया इसकी सूझ पड़ते उसका गुरु के प्रति प्रेम का फव्वारा एकदम जोर से फूटता है ।

साधक को संत के दूसरे एक लक्षण का ख्याल रखना होगा, नहीं तो वह थोड़े समय के लिए तो जरूर कूटा जाएगा । **सच्चा संत एक मनुष्य व्यक्ति नहीं है, पर जो विरोधाभासी गुणों का वर्णन हम प्रभु के बारे में करते हैं उनका शरीरधारी आविर्भाव है ।** ऐसे एक देह में अनेक व्यक्तियों का उसमें समावेश होता है । इससे, उसके प्रत्येक शिष्य को वह अलग-अलग दिखेगा । इससे, कितनी ही बार

गुरु एक को जो सूचना देता है, वह दूसरे को दी हुई सूचना से उनकी-उनकी प्रकृति भेद के कारण से विपरीत भी हो । इस कारण से श्रीरामकृष्ण परमहंस जब एक शिष्य को कुछ आध्यात्मिक सूचना देते, तब दूसरे को हाजिर नहीं रहने देते थे । इससे, साधक को स्वयं प्राप्त सूचना और गुरु के व्यक्त होते जाते व्यक्तित्व से ही संतोष मानना और दूसरे को दी सूचना की ओर लक्ष न देना वह हितावह है । आगे बढ़ने पर बहुत हो तो वह इतना कर सके कि गुरु के अपने साथ के संपर्क पर खूब लक्ष देकर उसकी जरा भी अवगणना बिना गुरु दूसरों के साथ कैसे विविध ढंग से व्यवहार करता है यह देख, गुरु की महत्ता की इस तरह सविशेष कदर कर वह उसमें से प्रेरणा पाये और आनंद उठाये ।

ऐसा किसी प्रकार का मत या सिद्धांत नहीं होता कि जो गुरु का अपना विशिष्ट हो । यह तो मात्र पलपल बदलती परिस्थिति और व्यक्ति के योग्य जिस प्रकार का जब भाव और व्यवहार कुशल हो वह तटस्थता से रखता है । इससे, उस पर शुष्कता या हृदयहीनता का आरोप ऊपर-ऊपर की दृष्टि से जरूर रख सकते हैं, पर सचमुच तो बिलकुल तटस्थ दिखते उसके आचरण से भी सामनेवाले व्यक्ति को प्रगति के पथ पर एक कदम आगे बढ़ने में सुगमता होती है । ऐसा लाभ उठानेवाले को अनेक बार तो उसका भान भी नहीं, होता, इतना ही नहीं, पर कभी कभी तो उलटा संत के किसी

अलग दिखते आचरण के कारण एक प्रकार की घृणा या विरोध उसके मन में रहता होता है । कभी-कभी जनसमाज संत को न समझ सकने से उसे पीड़ा करे उसका एक कारण संत की यह दुर्गमता भी है । ऐसी पीड़ा उठाता संत तो सदा ही ब्रह्मानंद में निष्ठ होता है । इससे, उसका शरीर दु:खी होता है, पर स्वयं तो अंदर से प्रसन्न ही होता है । देशकार्य के लिए दु:ख उठानेवाला या शहीद होनेवाला में से कितनों का ऐसा अनुभव होता है, उस पर से इसकी यथार्थता समझेंगे ।

बालक की तरह संत क्या रोता होगा ? हाँ, वह हँसे भी सही और रोये भी सही । जब कोई साधक इतने नीचे स्तर का हो (किन्तु कोई प्रारब्ध के कारण संत के साथ संपर्क में आया हो) और सामान्य उपायों से उसकी जड़ता हटे नहीं, तब गुरु स्वयं दु:ख उठाकर और रोकर भी उसकी हमदर्दी लेता है । कोई बार अत्यन्त क्रोधी होकर उसकी भावना को सख्त आघात देता है तथा उसे अपनी भूल सुधारने को एकदम सचेत करता है । परोक्ष रूप से तो ऐसे कार्यों से उन दोनों के बीच अंतर बढ़ता है, पर साधक को हुए गुरु के हितकारी अनुभवों साधक की उत्कट जिज्ञासा तथा गुरु के प्रति अंतर का प्रेम यह गैरसमझ को हटाकर अंत में प्रेम ही बढ़ाता है ।

अमुक नियमों के वश नहीं होने का और शीघ्रता से समझ आये ऐसा आचरण न करने का गुरु को एक कारण दूसरा भी है । वह किसी प्रकार के अभ्यासक्रम में या

आध्यात्मिक उन्नति के लिए अमुक ही तरह के भाव या वर्तन रखना चाहिए ऐसा नहीं मानता । वह तो केवल सर्वव्यापी चित्तशक्ति का सजीव वाहन है । इससे, आज के उसके आचरण से कल का आचरण अलग भी होना संभव रहा करता है ।

साधक को तो इस कारण से अपनी उन्नति करनेवाले के रूप में साबित हुए अनुभवों के आधार पर गुरु के हाथ में अपना जीवन सौंप देना चाहिए । श्रद्धा और हिंमत तथा दृढ़ता रखकर आध्यात्मिक पथ की अनेक पगडंडियों से गुजरते होते या उसे पार करवाने में आता डर या अश्रद्धा को अपने हृदय में पैठने नहीं देना चाहिए । अनुभवों की परंपरा होने पर भी जो शंकाशील रहा करेगा, उसे स्वयं को ही अधिक कष्ट होगा । ऐसे साधकों को उस कक्षा पर्याप्त अपरिपक्व समझवाले गिन सकते हैं ।

साधक को प्रारंभ में पता नहीं चलता कि स्वयं कोई सूक्ष्म असर के कारण गढ़ाता जा रहा है । उस समय पर दुःखद लगते अनुभव भी उसे होंगे ही, पर यदि ऐसे विरोधी दिखते संयागों को वह आनंदपूर्वक स्वीकार कर लेगा तो उसकी प्रगति शीघ्र होगी । यों, मंद या शीघ्र भी उसकी प्रगति तो होनी ही है । एक बार प्रभु के अस्पताल में दाखिल होने के बाद पूर्ण रूप से रोगमुक्त हुए बिना प्रभु नहीं छोड़ते ऐसा श्रीरामकृष्ण परमहंस कहते थे ।

गुरु कितनी ही बार अपनी चमत्कारिक शक्ति का उपयोग भी करता है, पर जादूगर और संत के ऐसे असामान्य शक्तिओं के उपयोग के पीछे रहे हेतु में जमीन-आसमान का अंतर है । जब किसी साधक के भाव, वृत्ति या प्राण, चित्त आदि को उसकी जड़ता के कारण सख्त आघात देने की जरूरत हो अथवा यदि गुरु को लगे कि अमुक असाधारण अनुभव से साधक की आध्यात्मिक मार्ग में श्रद्धा और निष्ठा बढ़ेगी तो ऐसी शक्ति का उपयोग निमित्तयोग से होता है, पर वह अनुभव होने के बाद भी उसका किस तरह मन, बुद्धि आदि में स्वीकार करना वह साधक पर छोड़ता है । गुरु उसके महत्त्व को समझाने की झंझट में नहीं पड़ता, क्योंकि साधक के दिल में अपनेआप जो आयेगा वही टिकेगा ।

यह लेख कुदरती ढंग से सर्वतोमुखी दर्शन नहीं करवाता । यह तो मात्र उंगलीदर्शन का एक नम्र प्रयास है, क्योंकि *लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति ।*

लोक से उत्तम जो होते हैं, चित्त उनके,
समर्थ जानने कौन ? गूढ़ में गूढ़ वे सदा ।

● ● ●

प्रेम

॥ हरिः ॐ ॥

त्रिचि,

ता. ००-९-१९४३

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ऐसा श्रुतिवचन जितना सच है, उतना ही सच **'सर्वं खल्विदं प्रेम'** यह कथन है । अंग्रेजी में तो 'प्रभु वही प्रेम हैं', ऐसी उक्ति है भी सही । स्थूल से स्थूल, सूक्ष्म से सूक्ष्म में प्रेम व्याप्त रहता है । इसके ही कारण सृष्टि का धारण होता है, पोषण होता है । इसके ही कारण मनुष्य, पशु तथा प्राणीमात्र में जिजीविषा की अदम्य प्रेरणा निहित है, क्योंकि जिजीविषा तभी होती है कि जब जीने में रस रहा हो । केवल सचेतन नहीं पर अल्प चेतन अथवा हम जिसे जड़ कहते हैं वैसे पदार्थ भी प्रेमबद्ध हैं । यह कोई तरंगी कवि का कल्पनाविहार नहीं है, पर शुद्ध सत्य हकीकत है । पृथ्वी और दूसरे ग्रह परस्पर के और सूर्य के आकर्षण से और तारें एक-दूसरे के आकर्षण से स्वस्थान और स्वमार्ग से च्युत नहीं होते और इससे सृष्टि का क्रम चला करता है । पृथ्वी पर प्रत्येक जड़ पदार्थ को आकर्षण है । इससे ही वह पृथ्वी पर रह सकते हैं ।

संपूर्ण विश्व कोई निगूढ़ अदृष्ट कड़ी से एक-दूसरे के साथ जुड़ा रहा है । फिर उसे सापेक्षवाद का नियम (Law of Relativity) कहो या दूसरा कोई नाम दो । यह नियम,

नियम होने से सूक्ष्म है, पर इससे ही वह इतना शक्तिशाली है कि समस्त विश्व में वह व्याप्त है । **यह नियम भी प्रेम का ही स्वरूप है, क्योंकि प्रेम यानी एक-दूसरे को जोड़नेवाली सूक्ष्म कड़ी नहीं तो दूसरा क्या है ?** यह प्रेम जब प्रत्यक्ष ऐसे प्राथमिक स्वरूप में आता है कि उसमें प्राण भले न हो ऐसा हमें लगे, तब हम उसे जड़ पदार्थ का नाम देते हैं । उसे सजीव भले वैज्ञानिकों न कहते हों, पर वह शक्ति का स्वरूप है, ऐसा तो वे भी कहते हैं । किसी भी जड़ पदार्थ का पृथक्करण करते करते वैज्ञानिक जहाँ तक परमाणु Atom तक पहुँचे वहाँ तक तो ठीक था, पर सूर्यमाला में श्रीकृष्णरूपी सूर्य और आसपास ग्रहरूपी गोपगोपियों की जो सनातन रासक्रीड़ा हुआ करती है, वैसी ही सनातन रासक्रीड़ा उस *अणोरपि अणियान्* जैसे परमाणु में भी होती है, जब ऐसी खोज हुई तब तो फिर जड़ पदार्थ का जड़त्व न रहा अथवा रहा गिनें तब भी वहाँ पर कुछ ऐसा आकर्षण तत्त्व मालूम पड़ा कि जिसे 'प्रेमशक्ति' ऐसा नाम तात्त्विकरूप से तो दे सकते हैं, फिर भले वह भौतिक विज्ञानशास्त्र अनुसार नाम न दिया हो ।

सृष्टि का धारण और पोषण जैसे प्रेम से होता है, वैसे उसकी उत्पत्ति भी प्रेम से ही हुई है । रसराज भगवान को लीला करने, रस भोगने की इच्छा हुई और *एकोऽहं बहुस्याम्* की वृत्ति उत्पन्न होते ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई । और सृष्टि के

धारणपोषण के दौरान भी सतत उत्पत्ति की जो क्रियाएँ हुआ करती हैं, उसका कारण भी प्रेम या रस ही है, इस हकीकत का कौन नकार कर सकेगा ?

यों, प्रेम विश्वव्यापी है। 'जड़' पदार्थों में वह आकर्षण के नियम रूप से पहचाना जाता है और जीवंत प्राणिओं में वह विषयवासना और उसके उच्चतर स्वरूप में प्रेमरूप में पहचानते हैं ।

मनुष्य में पशुत्व के अवशेष और प्रभुत्व के बीज हैं यह तो सर्वस्वीकृत सत्य है । मनुष्यमात्र (मनुष्य क्या ? प्राणीमात्र, चेतनमात्र) अंत में तो प्रभुमय होनेवाला है। इससे यदि उसे अपने सहज विकास की गति त्वरित करनी हो और उसके द्वारा कितने निवार्य दुःख या चिंता या कर्मविपाक में से बचना हो या उसे हलके कर ड़ालने हो तो और आजकल जिसका सुर प्रधानता से बज रहा है, ऐसी मानवसेवा उसे सच्चे अर्थ में करनी हो तब भी, उसे इस विराटतत्त्व-प्रभुतत्त्व-प्रेम को दिव्य और दिव्यतर बनाना पड़ेगा ।

यह प्रेम 'दिव्यतर' कब बना कहलाएगा ? जब प्रेम के दोनों लक्षण—द्वैत और अद्वैत—उसके पूर्ण स्वरूप में प्रकट हो, तब कुछ भी 'दो' के अस्तित्व बिना नहीं सृष्टि का अस्तित्व है, नहीं प्रेम का । अधम से अधम स्वार्थी मनुष्य भी अपने शरीर या मन को इतना चाहता है कि उसे सुखसुविधा मिले उस हेतु से अनेक नीच कृत्य करता है । इस प्रकार,

शरीर, मन, स्वभाव आदि प्रकृति का आविर्भाव और 'मैं' यह दोनों को जाने अनजाने अलग गिनता ही है । *'सोऽहम्'* या *'सर्वंमिदं ब्रह्म'* यह सत्य समझने के लिए कुछ नहीं तो बुद्धि से 'अहम्' और 'स' का या 'सर्वं इदं' और 'ब्रह्म' का भेद किया इसलिए हुआ ।

सोऽहम् का अनुभव उसे ही होता है कि जिसे *सः* पर प्रेम उपजता है । प्रेम वहीं हो सकता है कि जहाँ प्रेमी हो और प्रेमपात्र हो । इसलिए कोई दूसरा भी हो, पर प्रेम प्रभु का तत्त्व होने से उसमें ऊर्ध्वगति साहजिक है । इससे ही उस द्वैत में भी अद्वैत का आदर्श, उसके प्रति वेगवान या मंद, भानपूर्वक या स्वभाववश होकर होता प्रयाण और अद्वैत में लय या संमिलन - यह सभी प्रेम में निगूढ रूप से या आविर्भूत स्वरूप में रहा है । इस प्रकार, प्रेम यह जोड़नेवाली—बाँधनेवाली—जंजीर भी है और मुक्ति देनेवाला साधन भी है । सचमुच सच्चा प्रेम ऐसी कड़ी है कि जो कड़ी ही नहीं पर मुक्ति का ही लक्षण है कि मुक्ति का ही स्वरूप है । मनुष्य किसके साथ खूब 'खुलकर' के बरत सकता है ? जिसके साथ वह प्रेम की सर्वशक्तिमान कड़ी से बँधा हो उसके साथ । **परम चैतन्य तत्त्व के साथ बँधा हुआ देहधारी यानी जीवनमुक्त ।** इसीलिए ही जो प्रेम द्वैत बिना असंभव है, वही द्वैत उसके जीवनमुक्त शुद्धतम रूप में अद्वैत ही है ।

मनुष्य प्रेम की इस सहज ऊर्ध्वगति को जितने अंश में भानपूर्वक स्वप्रयत्न से वेग देगा, उतने अंश में उसे लाभ

होगा, क्योंकि सच्चा प्रेम पाने में और उसके प्रयास में तथा पाने पर होती मन, प्राण, हृदय, बुद्धि आदि की क्रियाप्रक्रिया में ही मनुष्य आपनेआप अधिक से अधिक शक्ति विकसित करता जाता है और प्राप्त करता जाता है । प्रेम प्रभु का तत्त्व होने से वह हमें अपनी प्रकृति के, जन्मों से पड़े हुए संस्कार पर, हमारे कर्म और प्रारब्ध पर, हमारी प्रतिस्पर्धा और अपना नियंत्रण करने को प्रेरित करता होता है । प्रेम हमें शुद्ध करता है, क्योंकि प्रियजन के लिए हमारी सारी मनीषाओं और मान्यताओं का त्याग वह माँग लेता है ।

प्रेम होता है वहाँ 'मैं' और 'मेरा' नहीं रहता है । जितने अंश में 'मैं' और 'मेरा' होता है, उतने अंश में प्रियजन पर प्रीति कम ही होती है, क्योंकि प्रेम यानी ही मेरापन नहीं पर प्रियजनरूप । 'प्रियजन को पसंद वही मुझे पसंद है ।' ऐसी जहाँ भावना और तदनुसार आचरण नहीं होते अथवा कम होता है वहाँ यह प्रेम कहलायेगा किस तरह ? वहाँ तो केवल स्वार्थ ही गिना जायेगा । प्रियजन को पसंद हो वही करने की उमंग जब हो तब ही प्रियजन के लिए सर्वस्व का समर्पण आनंदपूर्वक हो सके और तभी मनुष्य जैसे मिट्टी के देहवाले से भी पराक्रम, दुःखसहन आदि प्रभुमय या अतिमानव लक्षण प्राप्त कर सकते हैं । बालक के अनेक तरह के त्रास या घृणा पैदा करे ऐसी करणी को माता आनंद से भोग लेती है, इसका कारण प्रेम है । सच्चा प्रेम प्रियजन के पास से कुछ भी

अपेक्षा नहीं रखता है। प्रियजन के पास से प्रेम की भी अपेक्षा रखे तो उतने अंश में यह प्रेम कच्चा है । अलबत्ता, ऐसा केवल निरपेक्ष प्रेम का परिणाम देरसबेर सामने के पक्ष की ओर से प्रेम में परिणाम लाये बिना रहता ही नहीं । तथापि सच्चा प्रेम तो ऐसे किसी प्रकार के परिणाम की इच्छा या आशा नहीं रखता ।

उदार मानस यह तो प्रेम का पहला चरण मात्र है । परिस्थिति अनुसार संबंध में आती अनेक प्रकार के स्वभाववाली व्यक्तियों को सहन कर लेनी यह तो प्रेम का प्रारंभ कह सकते। अनेक गलतफहमी मर्मच्छेदी वाक्यों के घाव, अन्यायी बर्ताव, अहंकारी या केवल नीरस या उदासीन अथवा विरोधी वृत्तिवाला भाव, अनेक प्रकार के गलत आक्षेप, दुःख देने के लिए फेंके हुए लोहबाण से भी कठोर लगते वाक्‌बाण – यह सभी मूक होकर सह लेना अर्थात् मानसिक उदारता, किन्तु मानसिक उदारता में भी थोड़ा बहुत दुःख अंतर्गत रहा हुआ होता है । सच्चे प्रेम को तो ऐसा दुःख नहीं है । अनेक शारीरिक या मानसिक अड़चन प्रेम एक रोम भी फरके बिना शांति से स्वीकार कर लेता है। वह कभी अपनी करणी का बखान करना नहीं जानता ।

प्रेम अपने सर्वपन की और स्वार्पण की बाबत में प्रेम जितना मौन रहता है उतना ही निरभिमानी रहता है। अहंकार-मद और प्रेम इन दोनों के बीच कभी मेल नहीं खा सकता ।

उसके साथ प्रेम और मोह का भी तेज-तिमिर (अंधकार) जैसा संबंध है । जितने अंश में मोह उतने अंश में प्रेम का अभाव । मोह अंधा है, प्रेम विराट स्वरूप भगवान का लक्षण होने से असंख्य आँखोंवाला है । अपने प्रियजन के प्रति उसके कल्याण के हेतु का सतत ख्याल रखकर वह प्रत्यक्षरूप में अत्यंत कठोर हो सकता है, क्योंकि प्रेम कोई बेसलीकापन या केवल कोमल कोमल, मुलायम मुलायम, भाव नहीं है । प्रेम प्रियजन के प्रति वर्तन के बारे में हमेशा एक ख्याल रखता है - प्रियजन का किस तरह श्रेय हो । उसे प्रिय लगे वैसा ही करना यह कोई प्रेम नहीं है, यह तो या तो कायरता है या खुशामत ।

ऐसे एकमात्र कल्याण के प्रति दृष्टि रखकर किये गये वर्तन से अनेक बार वह प्रियजन उलटा समझे, गुस्सा हो, द्वेष भी रखे, अहित करने को तत्पर हो और सचमुच में अहित करे भी सही, तथापि प्रेम तो उसके प्रति प्रत्यक्ष रूप से भले कठोर वर्तन करे, तब भी अंदर से तो अपना हृदय सदा आर्द्र रखेगा, प्रियजन के आघातों का प्रत्याघात हृदय के गहरे प्रेमभाव से ही देगा और सारी विडंबना प्रभु की प्रसादी रूप स्वीकार कर उसका सत्कार करेगा और अपने कल्याण के लिए ही ऐसे आघात उसे मिलते हैं ऐसा ही समझेगा । इस तरह सहिष्णुता से विकसित होते होते द्वेष का बदला प्रेम में परिणित होता है और फिर ऐसा प्रेममय वर्तन एकाध दो

व्यक्ति या अमुक अमुक के प्रति नहीं, किन्तु प्राणीमात्र के प्रति होते, प्रेम भगवान बन जाता है ।

ऐसा प्रेम प्राप्त करने की उत्सुकता रखनेवाले को जगत के सारे प्रसंग अपने कर्मवशात् संबंध में आये हुए सभी प्राणियों, प्रेम का पाठ सिखानेवाले हो पड़ते है, पर वह अपना प्रत्येक वर्तन भानपूर्वक, ज्ञानपूर्वक, अपने आत्मश्रेय का हेतु सतत लक्ष में रखकर करता हो तो । केवल प्रकृतिवश होकर प्रेमपूर्ण वर्तन हुआ करता हो तो विकास कम होता है और कितनी बार पटकाना भी हो ।

इसका भी कारण है । सच्चा प्रेम पूरी तरह अनासक्त है । आसक्ति और प्रेम के बीच का अतिसूक्ष्म अंतर्पट तो केवल संतों ही परख सके ऐसा कुछ नहीं है । साधारणतः प्रेम रूप जो पहचाना जाता है, वह अनेक बार आसक्ति होती है, क्योंकि प्रेम यह एकाएक उछाले मारता और फिर शांत हो जाता आवेग नहीं है, पर यह तो शांत, गंभीर, गहरे जलनिधि की तरह सतत निश्चलता से बहता भाव है । उसमें विस्तार भी है और गहराई भी है । उसे समुद्र से व्योम की उपमा अधिक योग्य रूप से दे सकते हैं, क्योंकि व्योम समस्त सृष्टि में व्यापक है, तथापि अलिप्त है और सृष्टि के पार भी यदि कोई प्रकृति का तत्त्व रहता हो तो वह आकाशतत्त्व है ।

आसक्ति मनुष्य को पटकती है और प्रेम उठाता है । **ऐसा अनासक्त प्रेम पाना और विकसित करना अर्थात् ही**

साधना । उसे साधना का एक महत्त्व का अंग गिनने में आये तो वह भी अल्पोक्ति है । जैसे वह साधना है, वैसे वह सिद्धि भी है । कुशल वर्तन अनासक्ति से प्राप्त होती केवल निर्लेप दृष्टि बिना असंभव है और प्रेम प्रेमपात्र का कल्याण ही चाहता होने से कुशल वर्तन उसके लिए अनिवार्य है । योग्य समय पर योग्य हार्दिक भाव भी उसे रखना ही चाहिए । ऐसे योग्य भाव और व्यवहार का पता होना, सूझ पड़ना यह कोई पुस्तक पढ़ने या संतों के एक रूढ़ि-नियम रूप पहलू सेवन से कभी नहीं प्राप्त होती । संसार में कार्यदक्ष गिनी जाती बुद्धि से भी ऐसी सूझ नहीं मिलती । यह तो अंतरायरूप भी हो पड़े - यदि वह संसारी कार्यदक्षता की प्राप्ति या उपयोग के पीछे साधना की दृष्टि रखा न करी हो तो । वह सूझ तो सतत लगातार केवल शुद्ध प्रेम प्राप्ति का लक्ष्य रखकर तदनुसार वर्तन करने से धीरे-धीरे अधिक से अधिक पड़ती जाती है । फिर, सूझ पड़नी यह एक बात है और उसे जीवन में उतारना, उसे साकार रूप देना वह दूसरी बात है ।

हम अनेक ऐसे पण्डितों को जानते हैं कि जो वेदवेदान्त में सचमुच विशेषज्ञ हो, बात करने बैठे तब पृथ्वी पर पैर ही न रहे, पर उनका जीवनव्यवहार तो कुछ दूसरा ही बताता होता है । मिली हुई सूझ को व्यवहार में उतारने का सावधानीपूर्वक, सच्ची निष्ठा से प्रयास हो, तब ही नयी नयी समझ आती है और उस नयी सूझ अनुसार जीवन गढ़ता जाता है । इस दृष्टि

से देखते प्रेमप्राप्ति का आदर्श कभी भी संपूर्ण आचरण में उतार नहीं सकते अथवा ऐसे कहें कि उस आदर्श की फलसिद्धि तभी हो, जब मनुष्य प्रभु का केवल सर्व भाव से यंत्र बन जाये । ऐसा मनुष्य ही सच्चा प्रेम क्या है वह समझता है और वैसा भाव धारण कर सकता है । सामान्य रूप में हम जिसे प्रेम कहते हैं और जो उत्कट भी दिखे उसमें अनेक मिलावट तत्त्व मिल गये होते हैं । स्थूल वासना से लेकर प्रियजन पर अपना सूक्ष्म पर जोरदार काबू रहे ऐसी गहरी इच्छा जैसी कुछ कुछ वृत्तिओं से मिश्रित प्रेम सच्चा प्रेम नहीं है । मनुष्य का आंतर्मानस ऐसी गूढ़ रीत से आचरण करता है कि उस मनुष्य को स्वयं उसकी कल्पना भी अनेक बार नहीं होती । जिसने आंतर्निरीक्षण संपूर्ण तटस्थ रूप से करने की जीवंत आदत डाली हो उसे ही वह दिखता जाता है ।

अपनी सारी सुखसुविधाओं का त्याग करती माता के उत्कट प्रेम में भी यह बालक 'अपना ही खून है, अपना सर्जन है ।' ऐसा गहरा भाव सदा ही छिपी तरह आचरण करता होता है, उतने अंश में वह शुद्ध नहीं है, संकुचित है । जगत की बहुतसारी माताएँ वात्सल्यप्रेम में से विश्वप्रेम अपने में प्रकट नहीं कर पातीं, इसका कारण यही है । अपने ही देश या अमुक सामाजिक आदर्श के लिए प्राणार्पण करने को तैयार होनेवालों में उच्च कोटि का प्रेम नहीं है ऐसा तो कैसे कह सकते हैं ? तथापि उसमें भी अनेक बार विस्तृत अहंभाव और

पार्थिव माप से ही अन्य जन को समझने की वृत्ति और दृष्टि रही होती है और उससे वहाँ रागद्वेष की मात्रा भी बहुत होती है । शुद्ध प्रेम तो आत्मस्वरूप-प्रभुस्वरूप है । इससे उसमें कहीं ऐसा पक्षपात न हो सके । संत नरसिंह मेहता ने सच ही गाया है कि *'पक्षपात जहाँ नहीं वहाँ परमेश्वर ।*

सच्चा प्रेम अर्थात् शुद्धतम विवेक । संत या प्रभु समदृष्ट है, इसका अर्थ है कि उस संत के मित्र या शत्रु गिनते कोई भी प्रति संत किसी भी अंतर्गत रागद्वेष की भावना बिना वह उसे योग्य भाव से रखे । 'शत्रु' का शत्रुत्व संत को क्षोभ नहीं दे सकता, क्योंकि संत का भाव ऐसे आघात के सामने प्रकृतिवश रहनेवाले से होता प्रत्याघातवाला नहीं हैं, पर अपने जिस तरह के आचरण से सामनेवाले व्यक्ति का आत्यंतिक श्रेय हो उस तरह का भाव संत ऐसे आघातों के प्रति रखता है । **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** का अर्थ मेरी दृष्टि से यह है । इससे ही संत संसार में रचेपचे रहे हुए की ओर जो भाव रखता है, उससे अनेक गुना अधिक भाव वह साधक के प्रति रखता है ।

समदृष्टि अर्थात् निर्लिप्त दृष्टि । ऐसी विवेकभरी समदृष्टि सच्चे प्रेम को ही सूझती है और वही रख सकता है । सामनेवाले व्यक्ति का आंतर्सत्त्व (inner being) को परखकर जैसे वैद्य प्रत्येक रोगी को उसकी उसकी प्रकृति के अनुसार अलग-अलग दवा देता है वैसे उसके प्रति वह कल्याणमार्ग

में कुछ तो प्रगति करे ऐसा शुभाशय सदा ही रहे है और उस अनुसार व्यवहार हो, यह तो सच्चा प्रेम ही कर सकता है । यह शक्ति कोई शीघ्रता से मिल जाय ऐसी नहीं है । इसके लिए अपने आंतर्मानस की संपूर्ण शुद्धि की जरूरत है । प्रेम विकसित होता जाता है वैसे वैसे यह शुद्धि होती जाती है ।

कदाचित् आंतर्शुद्धि के लिए उत्तम से उत्तम साधन प्रेम की उपासना है, क्योंकि प्रेम जितनी समझ देता है, यानी की प्रेम से जितनी ज्ञानप्राप्ति होती है, उतनी दूसरे किसी द्वारा नहीं होती । मात्र, यह प्रेमभाव भानपूर्वक, हेतुपूर्वक विकसित करना चाहिए और उस भाव, भावना या आवेग बीच क्या भेद है उसका ख्याल आंतर्निरीक्षण कर करके प्राप्त करते रहना चाहिए । बालक को माँ या पति को पत्नी जितना समझ सकती है, उतना कोई अन्य जन नहीं समझ सकता, इसका कारण प्रेम ही है । कोई भी विषय, भौतिक या आध्यात्मिक, हस्तगत करना हो, तो प्रथम आवश्यकता तो उस विषय में रस होना चाहिए । यह 'रस' यानी प्रेम नहीं तो दूसरा क्या है ?

इससे, प्रेम अर्थात् ज्ञान । प्रभु का ज्ञान पाने के लिए प्रभु के प्रति प्रेम अनिवार्य साधन है और पूर्णप्रेम तथा पूर्णज्ञान यह तो पर्यायवाचक शब्द हो जाते हैं । सूक्ष्म देह में और उसके बाद स्थूल देह में प्रत्येक शिराओं में शुद्ध प्रेम का तत्त्व बसे नहीं, वहाँ तक शुद्ध ज्ञान भी नहीं होगा । ऐसे प्रेम के

संपूर्ण आविर्भाव के लिए तो जीवन प्रेममय हो ऐसा प्रयास करना चाहिए । यानी कि प्रत्येक कर्म—मन, वाणी, देह का—वह प्रेम के लिए होना चाहिए । यों, कर्मयोग भी ज्ञानयोग की तरह प्रेमयोग या भक्तियोग का पर्यायवाची शब्द हो जाता है । उसी तरह किसी भी विषय में रस उत्पन्न हो तो उसमें हमारा चित्त अपनेआप एकाग्र होता है । इससे, प्रेमयोग, ध्यानयोग भी है । इसप्रकार, शास्त्र में वर्णित चारों मार्ग इस दृष्टि से देखते एक ही हैं ।

जब ऐसा प्रेम प्रकट होता है, तब अपनेआप समर्पण हुआ ही करता है, पर वह आनंद से । स्वयं कोई त्याग या बलिदान करता है, यह वृत्ति भी प्रेम की न्यूनता बताती है । आनंदपूर्वक का समर्पण यह तो प्रेम का स्वभाव है, पर सच्चा प्रेमी तो उसके ऐसे स्वभाव का उपयोग भी ज्ञानपूर्वक, भानपूर्वक करता है, तभी वह प्रियजन का और अपना कल्याण कर सकेगा । फिर तो 'प्रियजन' और 'स्वयं' ऐसे अलग भी नहीं रहते ।

अनेक लोग ऐसा मानते हैं कि सच्चा प्रेम तो अपने आत्मकल्याण की दृष्टि भी न रखे और केवल अपने प्रेमपात्र के भले की ही वृत्ति रखे । यह मान्यता प्रत्यक्ष रूप में बहुत उच्च भावनावाली लगती है, पर कुछ गहरा अनुभव करने से मालूम होता है कि जिसमें आत्मकल्याण की दृष्टि नहीं होती, उसे अन्य का कल्याण करने की दृष्टि नहीं है । वह अन्य का

कल्याण करने की वृत्ति ही सदा ही रखता है ऐसा भले स्वयं माने, पर सचमुच तो कोई खूब गहरा स्वार्थ, खूब गहरा—अर्थात् शीघ्र न दिखे वैसा—पर जरा विस्तृत अहंभाव से ही वह प्रेरित होता है। किस आचरण से या भाव से सच्ची सेवा हो यह सूझना कोई बालक का खेल नहीं है। उसमें तो सर्वतोमुखी और निर्लिप्त दृष्टि की जरूरत है, नहीं तो जिसे हम अन्य का कल्याण मानते हों, वह उसका अकल्याण भी हो। ऐसी दृष्टि पाने और विकसित करने मनुष्य को आंतर्निरीक्षण आदि साधनों से अपनी आंतर्शुद्धि के लिए प्रयास करना ही पड़ेगा। यानी कि चित्तशुद्धि या आत्मकल्याण के हेतु से ही प्रेरित होकर सर्वकर्म करे तभी ऐसी दृष्टि प्राप्त हो।

इसी तरह अनेक ऐसा मानते हैं कि 'दूसरों की सेवा' यही मानवीजीवन का उत्तमोत्तम आदर्श है और आत्मकल्याण की तरफ वृत्ति रखें वह उतरते प्रकार का आदर्श है। उसमें भी स्वयं जिसे सेवा मानता है, उसी प्रकार की 'सेवा वह सेवा' दूसरी नहीं, ऐसी जानीअनजानी अपूर्ण सत्यवाली पर दृढ़रूप से ही आदी मान्यता ही कारणभूत है। सच्चे स्वानुभव में जैसे सर्वानुभव आ ही जाता है, वैसे स्वकल्याण की प्रवृत्ति में सर्वकल्याण की प्रवृत्ति अपनेआप हुआ करती है। इस प्रकार, स्वकल्याण की प्रवृत्ति करने में विश्वप्रेम नहीं है यानी कि वह सच्चा प्रेम नहीं है, ऐसी मान्यता भूल से भरी हुई है। स्वार्थ और स्वकल्याण की इच्छा इन दोनों का कभी मेल

नहीं ही हो सकता । स्वकल्याण की प्रवृत्ति वह एक प्रकार के स्वार्थ की प्रवृत्ति है, ऐसा जो कोई कहता है, उन्हें इस प्रकार के नि:स्वार्थ प्रेम के तत्त्वज्ञान की या उसके अनुभव की कुछ भी सूझ नहीं होती है ।

यों, प्रेम यह तो प्रभु का पैयगंबर भी है और प्रभु स्वयं ही हैं । साधना है और सिद्धि है । द्वैत है, अद्वैत है और उससे भी परे है । **संपूर्ण बंधन तथा संपूर्ण मुक्ति अर्थात् प्रेम ।** सारा विश्व उसमें समाया हुआ है । उसकी उत्पत्ति प्रेम से हुई है, वह पोषण पाता है भी प्रेम से और उसका लय भी प्रेम में ही होता है । ऐसा कोई भी तत्त्व सृष्टि में नहीं है कि जिसमें प्रेम का अंश न हो और जिसे प्रेम अपने में स्वीकार न कर लेता हो । विकृत स्वरूप में भले हो, जड़रूप में भले हो, बिलकुल ही प्राथमिक कक्षा का ही क्यों न हो, पर जहाँ-तहाँ प्रेम ही है । मानवी में धिक्कारवृत्ति तभी उद्‌भव होती है कि जब कोई प्रियजन या अपनी संस्था उससे अरुचिकर रूप से व्यवहार करे, इसलिए वह तो केवल प्रेम की विकृत दशा ही है ।

सर्वत्र व्याप्त यह प्रेम की 'झलक' कि जिससे गगन, पर्वत-नदियाँ आदि आच्छादित रहते हैं, उस प्रेम की भव्य झलक इस पत्र से अणुमात्र भी अधिक आच्छादित हो यही प्रार्थना है ।

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

श्रेष्ठ खलासी के भरोसे

(गजल)

बहने दो, बहने दो, पवन सरपट बहने दो,
हृदय के स्नेह का भाव पवन सरपट बहने दो ।

सारी डोर रखो खोल दो सभी पाल खोल,
रख दो नाव को छोड़ खलासी के भरोसे सब ।

भले तूफानी हो समुद्र, भले चारों ओर हवा फूंके,
भले पटकाती हो नौका, तब भी नहीं चिंता हमें ।

हमारा जो खलासी है, समुद्र की सभी यात्रा कर चुका,
समुद्रों का भी राजा है, हम निश्चिंत उसीसे तो ।

होगा निश्चय गहरा ऐसा हृदय जिसका हुआ वह,
कहीं न वह अटकेगा न तो कहीं रुकेगा वह ।

सायला — ता. १-९-१९४५

● ● ●

ईश्वर ही सब सँभालते हैं

॥ हरिः ॐ ॥

त्रिचि,

ता. सितम्बर १९४३

अमुक जीवात्माओं को थोड़ी परमात्मा की ओर मुड़ने की वृत्ति होती है, तब और वह वृत्ति तमन्ना का कुछ जोश पकड़ती है, तब भी एक विचित्र मंतव्य की पकड़ के कारण उनका विकास रूँधता है अथवा बहुत मंद होता है ।

अब तो स्वयं भगवान की शरण में गया है । इसलिए बाकी का सब सचराचर परम चैतन्यशक्ति सँभाल ही लेंगी अथवा लेती है और अब तो उसे भगवान में दृढ़ श्रद्धा रखे बिना दूसरा कुछ नहीं करना; ऐसी वह कल्पना कर लेता है ।

इस मान्यता की राह पर आगे चलते चलते स्वयं जो कुछ करता है वह और स्वयं को जिन भी संयोगों में आने का होता है, वह सभी भगवान ही करवाता है और स्वयं तो उसका एक निमित्त मात्र है ऐसी कल्पना करने लगता है । ऐसी मान्यता से ही साधक में जो नम्रता होनी चाहिए वह उसमें आती है ऐसा वह मानने लगता है । 'भगवान की इच्छा बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता ।' ऐसे ऐसे श्रुतिवाक्यों तथा सच्चे संतों ने ऐसा शरणभाव रखा तब उनकी कसौटी तो हुई पर उसमें भी उन्होंने श्रद्धा कायम रखी तो उनके दुःख

परमात्मा ने टाले, ऐसे प्रसंगों का भी वह आधार लेता है । इससे उनकी तरह वह भी भगवान के शरण गया है । इसलिए 'जो कुछ सुखदु:ख आ पड़े उन सभी को सहन कर लेना और उन्हें भगवान ने ही भेजा है' ऐसी मान्यता के आधार पर अपना जीवन गढ़ने का प्रत्यक्ष प्रयास वह करता है ।

पर ऐसे संतों की शरणागति में और ऐसी प्रारंभिक कक्षा की काल्पनिक शरणागति में बहुत अंतर है । इसीलिए ऐसे साधक को सहन करना पड़ता है और उसकी प्रगति मंद होती है । हमारे में कर्म के नियम की छिछली समझ के कारण जो एक प्रकार की नि:सत्त्व दैवाधीनता कभी कभी आ जाती है, उसका ही एक स्वांग प्राथमिक कक्षा के साधक की उपरोक्त कल्पना या मान्यता है ।

ऐसी मान्यता से साधक स्वयं साधक है और सिद्ध नहीं है, यह सत्य भूल जाता है अथवा उसका इनकार करता है । ईश्वर सभी के कर्ताहर्ता हैं, यह अंतिम सत्य के रूप में भले ही सच हो, पर साधक यदि अपने सभी आचरण में और अपने सारे संयोगों में ईश्वर पर ही जिम्मेदारी डाल देगा तो इससे उसे ही नुकसान होगा । सब कुछ सचराचर प्रकृति का स्वामी परमात्मा अथवा परम पुरुष है, यह सत्य भले हो, पर मानवीजीवन में तो उसके अनेक पूर्वकर्म के आधार पर पड़े हुए संस्कार, उसकी मान्यताएँ, उसकी भावनाएँ, उसकी बुद्धि के रुझान, उसके प्राण की वासनाएँ, उसका अहंभाव आदि

कई कई अशुद्धि—नीचे स्तर की—प्रकृति के तत्त्वों असर डाला करते हैं । अमुक असर ऐसी सूक्ष्म और छिपी होती है कि उसे परखने के लिए भी कठिन साधना की जरूरत रहती है और उसे मिटाने के लिए तो फिर अत्यधिक परिश्रम चाहिए । जैसे पत्थर में भी ईश्वर का—चेतनाशक्ति का—आविर्भाव है और मनुष्य में भी है, पर दोनों में बहुत वास्तविक अंतर है, वैसे प्रकृति के सभी बलों में चेतनाशक्ति यद्यपि विद्यमान ही है, तथापि उसमें बहुत अंतर होता है । इससे साधक के प्रत्येक काम में या प्रत्येक संयोग में परमात्मा का पूरा आविर्भाव नहीं होता पर साधक की अपनी ही निम्न स्तर की प्रकृति का भी आविर्भाव साथ-साथ होता है । प्रकृति के स्वभाव से वह कौनसा काम करता है, वह खोज निकालना साधक के लिए बहुत जरूरी है ।

इससे जो अंतिम सत्य है, उस सत्य का अनुभव कर सकने की कक्षा में पहुँने से पहले वैसे अनुभवी का अनुकरण करें या वैसी कल्पना करें या मानें यह साधक के लिए जोखिमकारक है । नये-नये संयोग, व्यक्तियों, संबंधों, विचारों इन सभी में से जो नवनीत उसने अनेक प्रयत्न कर और ठोंकरे खाकर निकालना ही पड़ेगा, उस नवनीत को पाने में उसे ऐसी मान्यता से फिर कुछ एक अधिक ठोकरें खानी पड़ेगी । अपनी भूल जहाँ तक सूझे नहीं, तब तक कोई भी उसे दूर करने को कमर कस सकेगा ही नहीं यह तो प्रत्यक्ष

बात है । प्रत्येक संयोग उसे सिखाने के लिए प्रभु ने कृपा करके दिया है और उसमें से उसे अपनी प्रकृति का किस बात में रूपांतर करना है, उसे देखने के लिए सदा ही जागृत रहना पड़ेगा, और इसलिए वैसी दृष्टि से उसे उन संयोगों को देखना चाहिए, तभी अपने आचरण, विचार या वाणी में कहाँ अकुशलता है, उसका उसे पता चलेगा ।

शरणभाव, सही ढंग का शरणभाव, भी ऐसे ही नहीं मिलता । वह भी भानपूर्वक, ज्ञानपूर्वक, पुरुषार्थ से विकसाना पड़ता है । जैसे-जैसे उसका स्वभाव, उसकी प्रकृति, प्रभुभावना संचार के लिए लायक होती जाती है वैसे वैसे ही उसका शरणभाव बढ़ता है । उसके पहले का शरणभाव तो एक मान्यता ही है । जीवन की ठोस हकीकत नहीं । उसके पुरुषार्थ का फल देनेवाली चैतन्यशक्ति ही है ऐसा फिर मन में दृढ़कर, पुरुषार्थ के कारण से आ जाते अहंभाव को उसे टालना है, यह फिर दूसरा ही प्रश्न है ।

प्रभु अवश्य उसे सहायता देने उत्सुक होते हैं, पर वह कल्पना करता है उस तरह सहायता नहीं मिल सकती । प्रभु का उपदेश जीवन में मिलते प्रसंगों द्वारा मिलता है और अनेक प्रकार के अनुभव करवाकर उस उपदेश को पक्का कराने का उसका हेतु होता है । **इसीलिए ही अपनी भूल कहाँ हुई उसे देखने के लिए तत्पर आँख हो वही अनुभव से सीख सकता है ।**

सर्व भाव और सर्व रीति से शरणागति की भावना ज्ञानपूर्वक साधक में प्रकट हो, यानी कि जो उसके आधार के सर्व करण सर्व प्रकार की शुद्धि को पाये हो वह, बालक जैसे प्रकृतिवश निश्चिंतता से और आराम से आनंद पाता माँ की गोद में रहता है वैसी प्रज्ञापूर्वक की भूमिका साधक की हो उस समय में उसका 'इश्वर सब सँभालते हैं ' – यह हकीकत रूप से सच्चा है । वैसी दशा होने से पहले साधक को वैसे मानने की भ्रमणा में कभी नहीं पड़ना है, परंतु उसका सभी प्रकार का झुकाव प्रभु की कृपा का एकमात्र सहारा लेकर उसके सारे करणों की शुद्धि हो, उसमें ही केन्द्रित और एकाग्र होना चाहिए ।

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

जीवनपाथेय

(अनुष्टुप)

एक होने पर भी स्वयं सगे अलग अलग का,
कैसा सगा अलग अलग ! औ'उसका धर्म क्या अलग ।
उन सभी के साथ का धर्म, हृदय में प्रभु की भावना
पिरोकर, योग्यता से आचरण करे धर्म पालन करेगा ।
आध्यात्मिकता सत्य बरतते शुद्ध जीवन में,
उगेगी अपनेआप भी न उसे आमंत्रित करना पड़े ।
मिला हुआ धर्म जो हो उसे छोड़ कर अन्य कहीं,
जो धर्म पाने जाय, उसे धर्म न मिले ।
मिले हुए धर्म में जो तदाकाररूप होगा,
धर्म में ऐसा जो प्रेम से प्रेरित होगा सुखी होगा ।
जहाँ जहाँ जीवन संबंध वहाँ वहाँ धर्म रहा गिनो,
भिन्न जीवन से कहीं भी धर्म का भाव नहीं कोई ।
जीवन में सर्व साथ प्रभु की भावना हृदय में,
दृढ़कर बरतेगा, उसका भाव क्या जीवित बनेगा !
हिलने मिलने में भी गूढ़ निमित्त जीवन में,
इस रीति से मिलना रखकर सार्थ वह करना हृदय में ।
एक एक करके जो अनंत कदम पथ में,
धीरे धीरे रखे, वे पा सके **अनंतता** ।
पूरा एक किये बिना अन्य कहीं जो कूदने जायेगा,
उसका एक बिगड़े, वह दो कैसे पायेगा ?

होंगे जिसमें उसमें उसे पूरा लक्ष पिरोकर
अपना कार्य व धर्म जो करे, तत्त्व पाएगा ।
रेखा जीनव की आंककर फिर आचरण विषयक
चिंतन करता जो रहे ऐसा प्रवेश करेगा पथ में ।
अभ्यास विकसित किये बिना हृदय के प्रेमभाव से,
पहुँचना चोटी पर जो चाहे वह तो मूर्खशिरोमणि ।
प्रभु को छोड़कर टोड़े पर स्वभाव वश कर्म को,
जो किया करना रखे, उसे कैसे कृपा मिले ?
प्रभु का यदि आप रखो, आपका प्रभु रखेगा ।
प्रभु को जो पुकारेगा, उसके साथ प्रभु बोलेंगे ।
कैसा भी करो वर्तन, प्रभु को कुछ न गिनकर
किस तरह वह बेचारा तुम्हारे पीछे रहे खड़ा ?
हमारे अंतर उसे खड़े रहने की चाहना,
और उसे योग्य भूमिका हमें देनी सदा ।
सर्व में ही प्रभुभाव जीवित रखे हृदय में,
लक्ष पुष्ट करते रहना जागृति भाव रखके ।
सद्‌भाव, नम्रता, वर्तन हृदय में शुद्ध सभी,
मान मान के करो जो भी, जाने न दो बेकार कुछ भी ।
धारणा लगातार क्या जीवन में प्रभुभाव की,
रोज के व्यवहार में पिरोकर बरतना चाहके ।
दृढ़ कर ऐसा अभ्यास विश्व की **यह** चक्रमाला,
कृपा से भान व ज्ञान रखके जीना सर्वदा ।
विश्व से वह भिन्न भाव, प्रभु का कहीं है नहीं,
देखे जो प्रभु स्वयं में उसे वह विश्व में मिले ।

अतिरिक्तरूप से भाव विश्व से वह रहा भले,
स्वयं में एक बार तो लो अनुभवकर भाव को ।
उसके बाद का होगा जो भी अपने-आप ही जानोगे,
घोंटना अभी रखो एक ही एक जो मिला ।
एक आता है जिसे ऐसा वह दो को पढ़ेगा,
एक को जो करे पक्का उसे दूसरा मिल रहे ।
एक को करने में जो पक्का अपना जोश सभी,
खर्चे, मात्र वे योग्य होते दूसरे के लिए तो ।
हमारे घर आये हुए के साथ यदि न बर्तेंगे,
योग्य रीत से, तो फिर आया हुआ दुःखी हो जाता ।
प्रभु के भाव को ऐसे जीवन में प्रेमभाव से,
स्वीकार के जो स्वागत करे उसमें भाव खिलेगा ।
प्रभु के भाव को योग्य दिल की भूमिका सारी,
प्रार्थना करके गहरे दिल में शुद्ध से शुद्ध रखें ।
जो भी कुछ करते रहते उसका लक्ष गहरा रखके,
भाव से समर्पण कर दें सभी आया उसका वह मानकर ।
हम तो सब रीति से खाली खाली रहा करें,
प्रभु का केवल भाव रखकर कर्म में बहा करें ।
जीवनसाधना ऐसी जो करे, श्रेय पायेगा,
जो भी उसका सब श्रेय उसका जीवन श्रेय है ।

पंचगिनी ता. २२-१२-१९४४

● ● ●

प्रेमभावना

॥ हरिः ॐ ॥

त्रिचि,

ता. २३-८-१९४३

प्रेम एक ऐसी भावना है कि जिसमें उत्तरोत्तर बढ़ोतरी हुआ करती है । प्रेम में शक्ति है इसीलिए ही गति है । जगत में प्रेम की शक्ति का माप अब तक कोई योग्य ढंग से और संपूर्ण रूप से अंकन नहीं हो सका है । प्रेम यह हमारी दिल की भावना का गतिवाहक यंत्र है । प्रेमभावना ही जीवन निर्माण में और हमारे संबंधियों के साथ सुमेल करने तथा जीवन में एक प्रकार के गहरे आनंद की लहर प्रकट करने में तथा जीवन यह मात्र कष्ट साध्य नहीं है या बेगार भी नहीं है, किन्तु कोई उच्चतर स्थिति का द्योतक है, उस भावना का विकास कराने में और उससे भी आगे जाएँ तो प्रेम हमारे में आत्मीयता लाने में, हम कल्पना भी नहीं कर सकते इतना महत्त्वपूर्ण भाग लेता है ।

जगत में हमारी नजर में भले ही विसंवाद सतत नजर आता हो, तथापि प्रेम का सतत अप्रकट प्रवाह जो बहा करता है, जिसके कारण जीवन में कुछ रस रहता है और हमारे संसारव्यवहार में एवं अनेक प्रकार की संसार की विडंबनाओं की परिस्थिति में हमारी मंथन की पलों में वह प्रेम की ऊष्मा ही हमें टिकाये रखती होती है । हमें उस प्रेम के प्रवाह की

ज्ञानपूर्वक समझ नहीं होती है । बाकी, इस तत्त्व भावना को स्वीकारें तो फिर, भले ही ईश्वर की भावना की हकीकत न कबूल करें तब भी मुझे तो बाधा नहीं है । यदि एक बार हमें अपने में रहे हुए प्रेमतत्त्व की ज्ञानपूर्वक की समझ पड़े और उसकी कार्यसाधकता समझ में आयेगी तथा इसके अलावा, हमने जो मानसिक बाड़े बाँधी हैं और मानी हैं, उसके बाहर के क्षेत्र में उस प्रेमतत्त्व का उपयोग करना सूझेगा ।

इतना ही नहीं, पर उस प्रेमतत्त्व की भावना उत्तरोत्तर कैसे विकसित हो और उसमें से प्रकट होती जाती शक्ति का सतत जागृतिपूर्वक उपयोग करके अपना पृथक्करण करते रहें और ऐसा करते करते हमारे में जो विसंवादी तत्त्व मालूम पड़े उसे दूर करने में भानपूर्वक जीवंत रहा करें तो जो कोई तत्त्व उद्‌भव होनेवाला होगा वह आविर्भाव पाएगा ही । इस जमाने में हम सब (rationally) तर्कशुद्ध बातें करनेवाले गिने जाते हैं और प्रयोगों में हकीकतरूप से जो कुछ सत्य न समझ आये उसे हम स्वीकार नहीं करते । इसलिए हम इस जमाने और इस युग की संस्कृति को यदि प्रामाणिकरूप से वफादार रहना हो तो हमें इसमें भी प्रामाणिकता से प्रयोग करके देखना ही चाहिए और फिर परिणाम जो अनुभव हो उसे योग्यरूप से स्वीकार करने की हमारी तैयारी भी होनी चाहिए ।

जगत में जो भावना युगों के युगों तक टिकी हुई है, उस भावना के पीछे ठोस सत्य हकीकतरूप से रहता होना ही

चाहिए । जिसके पीछे सत्य नहीं है, वह भावना लम्बे समय तक टिकती नहीं है, यह तो अनुभव से स्वीकार की हुई बात है। ईश्वर की भावना मूढ़रूप से कहो या ज्ञानपूर्वक कहो अथवा जड़ता की दशा में कहो पर समाज में यह भावना युगयुग से चली आ रही है, इस हकीकत को नकार सके ऐसा नहीं है। अनपढ़ लोगों से बुद्धिप्रधान या पढ़े लोगों में तर्कशक्ति (reasoning faculty) बढ़ी होने से तथा वे उनके चालू प्रवाह अनुसार अधिक (Selfcentred) स्वकेन्द्रित हो गये होने से स्वयं उपजाये जगत की बाहर उनकी दृष्टि नहीं जाती। इससे ऐसे लोगों का दृष्टिबिन्दु मर्यादित रहा करता है। तथापि स्वयं सब (dispassionately) भावना से खिंचे बिना देख सकते हैं और इससे उनका मंतव्य detatched शुद्ध तटस्थतावाला और इससे सच ही होता है ऐसा वे सचमुच मानते हैं।

अपने मंतव्य से परे होने का उनको या तो सूझता ही नहीं हो अथवा तो उनकी उस दुनिया को तोड़फोड़कर नया सोचने का बल उनमें उद्‌भव नहीं होता है, क्योंकि वे लोग अपने जगत में ही रचेपचे रहे हुए होते हैं। प्रत्येक मनुष्य जो विकास चाहता है, उसे अपने जगत से पर होने की दृष्टि विकसित करनी ही पड़ेगी। उसके बिना जगत के पेचीदे मामले में से निकल पाना लगभग असंभव है। जगत को जो शक्ति गढ़ रही है, उस शक्ति का स्पष्ट ख्याल हमें कभी नहीं आता। हम अपना व्यवहार चलाते होते हैं, उस व्यवहार में

भी जो परिणाम आते हैं और जिस तरह चाहा होता है, उस तरह ही सब होता जाता है, ऐसा हमारा किसी का भी अनुभव नहीं है । यदि हम ही अपने निर्माता हों तो हमारा चाहा होना ही चाहिए, परंतु वैसा नहीं होता । इसका कारण ऐसा भी कह सकते हैं कि हमारे में वैसा निश्चय और उस निश्चय को कार्य में फलित करने के लिए की जिज्ञासा और तमन्ना पर्याप्त प्रमाण और वेग में नहीं होती है । इससे हम वे कार्य करते हैं, उसके पीछे दृढ़ निश्चयभरी अटलता भी हम में नहीं आयी होती है ।

मैं तो यह भी कहता हूँ कि भले ही हम ईश्वर को न मानते हों, तथापि हम जिस कार्यक्षेत्र में आ पड़े हैं, उसी कार्यक्षेत्र में जो जो कार्य करने के लिए आयें, वे यदि ज्ञानपूर्वक, समझ से एवं उसे संपूर्णतः हम चाहते हैं उसी तरह फलित करने के लिए हमें पर्याप्त तनदिही, साहस, हिंमत, निश्चय और कठिनाइयों का सामना करने की शक्ति पूर्ण रखते हों तो हम में एक ऐसी शक्ति प्रकट होती है कि उस शक्ति का हमें जीवन में अनुभव होता है । इतना ही नहीं, पर ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण और उसकी कार्यसाधकता भी हमें समझ आती है । जैसे-जैसे हमारे में रहे ऐसे तत्त्वों को हम स्वानुभव से पहचानते जाते हैं वैसे-वैसे हम में कोई ओर प्रकार की consciousness चेतना जन्म लेती ही है । इस प्रकार की consciousness चेतना प्रत्येक ज्ञानी को यानी समझपूर्वक काम करनेवाले और सतत जागृत लक्ष्यार्थी पुरुषार्थी को मिलती ही है ।

हमारे जीवन में एवं जगत में एक प्रकार की व्यवस्थित शक्ति काम कर रही हुई है, इसका स्पष्ट अनुभव तब हमें अवश्य होता है ही । हम विद्यार्थीजीवन में रत थे, तब भी कभी – कभी भविष्य के जीवन के ख्याल और सपने हमें आते थे । इतना ही नहीं, परंतु एक प्रकार का कोई आदर्श भी रहता था । हम जब से संसारजीवन में पड़े तब से सामान्यतः हमारे में से बहुतों की स्थिति ऐसी हो जाती है कि उससे पर की दृष्टि और ख्याल हमें उद्‌भवित नहीं होते । और यदि किसी धन्य पल में ऐसा ख्याल आता है तो उसे स्वीकार कर अनुभव करने की तमन्ना हम में रही हुई नहीं होती । यों, हम एक प्रकार के सुस्त जोकर वातावरण में जुड़े हुए रहते हैं, परंतु हमारी बुद्धि तीव्र हुई होती है, इससे उस बुद्धि के द्वारा, 'हम अपने जीवनव्यवहार में मंद गति से चलती बैलगाड़ी की तरह नहीं चलते' ऐसा समझाने में हमारी बुद्धि कई बार सफल होती है और इस तरह हमें वह अज्ञान में डूबाये रखती हैं ।

जीवन अर्थात् अनुभव का अमृत अथवा निचोड़ ऐसा कहें तो भी चलेगा । प्रत्येक को संसारव्यवहार चलाते चलाते उनकी कक्षा के प्रमाण में उन्हें वैसा-वैसा अनुभव हुआ ही करता है, पर उस अनुभव से जो सार हमें मिलने चाहिए अथवा हमें निकालना सीखना चाहिए उसकी कला हमारे में नहीं आयी होती है । परिणाम में उस अनुभव के पीछे का रहस्य हमें पूरा समझ नहीं आता और इससे जीवन

की सही मौज हम उठा नहीं पाते । इस प्रकार, हम अपने प्रति, जीवन के प्रति और जिस जगत में रहते हैं, उस जगत के प्रति, हम भी पर्याप्त जागृत नहीं रहते हैं ऐसा कहना चाहिए । हम जिस स्थिति में रहते हैं, उस स्थिति में रहने पर भी, उसका स्वीकार करने पर भी, उन साधनों द्वारा हमें कोई नई दृष्टि, कोई नई सृष्टि और कोई नई ही समझ हम में उद्‌भव करनी है, ऐसा स्पष्ट प्रबल भान हमें आये—जागे—यह आवश्यक है ।

वह किस तरह आए उसके निश्चित दिशासूचक विधिनिषेध नहीं है । जीवन में हम प्रत्येक कार्य विचारपूर्वक करते हो जाएँ तो शायद उसका भान जागना संभव रहता है सही । उसके लिए सतत अभ्यास एवं वैराग्य की जरूरत रहती है । **वैराग्य अर्थात् 'संसार असार है' ऐसी भावना नही, परंतु जो जीवनकार्य करना हो उसमें ही सतत दृष्टि और तीव्र जागृत ज्ञान-भानवाली तमन्नायुक्त तथा उस तरह उत्तेजित रहा करे ऐसे प्रकार के मनोभाव को मैं वैराग्य कहता हूँ । लक्ष्यार्थ की भावना में ही सतत निरंतर लक्ष और दूसरे किसी में भी नहीं उसका नाम वैराग्य है ।** हमारे जीवन में-उस जीवन का कोई स्पष्ट अर्थ है और हेतु है ऐसा मैं तो मानता हूँ । अधिकांश को ऐसा लगता नहीं है ।

हमने किसी महान आदर्श के लिए यह जीवन पाया है ऐसा भी मैं तो मानता हूँ । इससे मेरे लिए जीवन की महत्ता अनेकगुनी है और उसका मूल्यांकन भी मेरी दृष्टि से भिन्न ही

है, इसके अलावा, जो जो संबंध जीवन में मुझे मिले हैं, उनका स्पष्ट हेतु भी मुझे समझ आया है । और भगवान की कृपा से उस हेतु के पीछे भावना का भी दर्शन मुझे हुआ है – हुआ करता है । इससे मुझे तो जीवन यानी अनुभवों की सत्य परंपरा हो ऐसा लगता है । इतना ही नहीं, पर मेरे जीवन में वे सभी किस कारण से मिले हैं, उनका कार्य क्या है यह भी समझ आने से उसमें से मुझे सतत लाभ ही हुआ किया है । इससे, जीवन यह तो कोई उच्चतर भूमिका है ऐसा स्पष्ट अनुभव मुझे सतत हुआ किया है । इसलिए, उसमें से ही, ऐसे अनुभवों में से ही मुझे ईश्वर की भावना का स्पष्ट प्रबल ख्याल जन्मा हुआ है ।

यह मात्र आलसी और निष्क्रिय या तरंगी मनुष्यों का ख्याल नहीं है, परंतु जीवन में सतत आगे धकेलती और प्रेरित करती एक शक्ति है, ऐसा भी अनुभव हुआ किया है । इससे मैंने जो तुम्हें लिखा है ऐसा प्रेमभाव जीवन में विकसित करने एवं जीवन के कार्य विचारपूर्वक करने तथा उसके पीछे तनदिही, साहस, हिंमत, दृढ़ता और उसे योग्य परिणाम में पैदा करने के लिए सतत जागृत तमन्ना मैंने रखा करी है । मैं जिस रास्ते गया हूँ और मुझे जिस तरह समझ में आया है, उस तरह से तथा उस भावना को मैंने तुम्हें समझाने का प्रयत्न किया है ।

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

बहनों के प्रति भाव

(अनुष्टुप)

आदर भक्ति का भाव माता, बहनों के प्रति गहरा,
जगाया करना दिल में आर्त व आर्द्र प्रेम से ।

स्त्रियाँ तो विश्व की माता तुच्छतापात्र वे नहीं,
उनको दुतकारने से हमारा बिगड़े फिर ।

मनुष्य ने बनाकर अपनी लालसा की,
उसे भोग, गुलामी को विश्व में न्यौता दिया ।

जहाँ तक मनुष्य में पवित्र भावना गहरी,
जागेगी न स्त्रियों के प्रति वे रहेंगे पशु वहाँ तक ।

विश्व का क्षेत्र तो स्त्रियाँ उसे जो भावना में,
ऊँचे चढ़ाता सेवा करे अमूल्य विश्व की ।

बनारस ता.६-३-१९४४

● ● ●

जीवनमुक्त

॥ हरिः ॐ ॥

बनारस,

ता. २१-३-१९४४

जीवनमुक्त मनुष्य में इन्द्रियाँ, गुण, भावना, भाव, ऊर्मि नष्ट हो जाती हैं, ऐसा नहीं होता । शरीर है वहाँ तक ये सब रहा करते हैं । मात्र, उनके कार्यक्षेत्र नीचे बह जानेवाली प्रकृति के वश नहीं होते इतना ही । वैसे कार्यक्षत्रों में जब जब वे सब प्रेरित होते हैं, उसमें उसे उसके ज्ञानहेतु का जीवित भान रहा करता होता है । वह वहाँ पर जड़यंत्रवत् खिंचता जाता नहीं । He acts as a master - वह तो परिस्थिति के राजा की तरह व्यवहार करता है । उसके लिए कर्म आवश्यक नहीं है । कर्म की आवश्यकता स्वीकार करने में उसकी मुक्तता में बाधा आती है । वह कर्म करता है सही, पर वे प्रभु प्रेरित होते हैं इस लिए ।

प्रभु के आदेश की समझ कहो या आत्मा के सहज ज्ञान के किसी अगम्य ऐसे सहज हेतु से कहो, वह स्वतः फूल की कली का खिलना जैसे सहज रूप से होता है वैसे उसका उस कार्य में प्रेरित होना होता जाता है । जीवनमुक्त द्वन्द्व से परे भले हो, इससे उसे हर्ष, शोक, भावना आदि नहीं होते ऐसा नहीं है । मनुष्य में वे सब स्वभाव के गुलाम के रूप में होते हैं, तब उसमें जिस जिस के साथ संबंध में आता है,

उस उसके साथ का तादात्म्य भाव से प्रेरित होकर उसके जीवन में उन उन वृत्तिओं के द्वारा वह ज्ञानपूर्वक भाग ले रहा हुआ है । ऐसी वृत्तियाँ उद्‌भवित होते वह उसका भोग नहीं हो जाता, पर वहाँ उसे किस तरह, कहाँ, कितने प्रमाण में पिरोना है – इन सभी का ज्ञान रहा करता है ।

जब तक शरीर है, समाज में है वहाँ तक वे प्रारब्ध कर्मानुसार कर्म भोगने के हो उसमें या आदेश कार्य हो उसमें या समष्टिरूप कार्य हो, उसमें वह स्वयं ही उसका स्वामी है, जन्मदाता है और भोक्ता भी है और तथापि फिर कहीं भिन्न भी है । वह भावयुक्त रहकर वहाँ वहाँ व्याप्त रहा करता होता है । जीवनमुक्त को ऐहिक दृष्टि से कुछ भी विकास पाने का भले बाकी न रहता हो, परन्तु परब्रह्मभाव में तो विकास सहजता से वह प्राप्त करता रहता है । वहाँ प्रयत्न नहीं रहता है ऐसा लगता है । मुझे तो थोड़ा बहुत ऐसा लगता है । यह सत्य ही है ऐसा कहीं आग्रह नहीं है । यह तो जो समझ आयी वैसा लिखा है । जीवनमुक्त का समस्त जीवन पारमार्थिक होता है । उसे कर्म करने ही चाहिए ऐसा नहीं है । इससे, कर्म करनेवाला नहीं है ऐसा भी नहीं है । उसके कर्म भागवती बनते जाते होते हैं, होते जाते होते हैं ।

● ● ●

कर्मवाद और पुरुषार्थ

॥ हरिः ॐ ॥

त्रिचि,

ता. ५-३-१९४३

कर्मवादी मानते हैं कि जगत में सब भगवान ने निश्चित कर रखा है और प्रारब्ध या विधाता ने विश्व के लिए नियत योजना (कर्म के कारण) बनाई ही रखी है, और उसके ही अनुसार हुआ करता है। ऐसी मान्यता में बहुत भ्रांति रही हुई है। भगवान का भाव तो नित्य नित्य नूतन रहा करता है। जीवन को कर्म का पाश रहता है सही, पर फिर उसमें भगवान की शक्ति भी निहित है। इससे, वह नया सर्जन करने के लिए स्वतंत्र है ही। 'कुछ नया हो नहीं सकता' यह भी गलत ही भ्रम है। जैसे हम गुरु को चलाएँगे नहीं और हिलाएँगे नहीं वहाँ तक वे हिलनेवाले भी नहीं हैं और चलनेवाले भी नहीं। वैसे भगवान का भाव भी निष्क्रियता से चेतनरूप में हमारे में पड़ा हुआ है। उसे जो काम में लेता है, उनको ही वह मददरूप, चेतनरूप रहा करता है।

उस भाव में ही वह परम, अनंत, अमर्याद ऐसा सर्वज्ञपन नहीं है, क्योंकि हम उसे सहकारी हुलास से, उत्कट प्रेमभाव से और उसके संचालकरूप में हृदय के ज्ञान-प्रेमभक्ति से प्रेरित होंगे तो वह भाव अपना भाग निभा सकेगा, बाकी नहीं। वह भाव हमारे ऊपर और हम कल्पना न कर सकें ऐसे

ठिकाने बसता है, ऐसा ही मात्र नहीं है, वह हमारे हृदय में भी है । ऐसे भाव का यदि सतत अंत:स्थरूप से रहा करके उपयोग किया करने में आये तो अचानक परिवर्तन जरूर हो सकता हैं । ऐसी सारी संभावनाएँ हैं ही ।

विश्व के विकासक्रम में जो जो विकसित होता जाता है, वह कोई अकेला नया ही नहीं होता है । वह किसी न किसी पुराने का ही रूपान्तर होता है, यह तो हमें समझ में आये ऐसा है । तथापि किसी भी वस्तु का विकास होते-होते उसका रूपान्तर ऐसा हो जाता है कि मानो वह बिलकुल नवीन न हो ? ऐसा भी हो जाने की पूर्ण संभावना रहती है ही, क्योंकि अंत:स्थ भगवान का भाव यह कोई निश्चित नियंत्रित चक्रमालारूप से नहीं होता । वह परम मंगलकारी शक्ति तो अनंत चेतनावाली और सतत विकसित हुआ करने की ही इच्छा करती होती है । इससे विकास होते होते कुछ भी हो जाने की संपूर्ण संभावना वहाँ रही है ही ।

कर्म के सिद्धांत का विचार करके जो पुरुषार्थ छोड़ देने की बात करता है वह कायर पुरुष है । हम सब कुछ करने में शक्तिमान हैं । हम अपने मातापिता की छाया हैं सही पर जैसे उनसे अच्छे या खराब हम हो सकें यह जैसे समझ आये ऐसा है, वैसे ही कर्म के सिद्धांत की बात में है ।

'नाव मिली जिसको जलभीतर,
सो कछु नीर तरे न तरे ।'

स्वामी ब्रह्मानंद की इस कविता अनुसार उस नाव का एक बार अनुभव कर लें फिर नीर में तैरने की उपाधि रहेगी नहीं । (यद्यपि उपाधि शब्द यथार्थरूप में नहीं है ।) फिर तैरो या न तैरो वह महत्त्वपूर्ण ऐसे के मन नहीं है । तथापि नाव को कहाँ ले जाना है, उसका जीवंत प्रत्यक्ष ज्ञान और भान तथा नाव को चप्पु से तथा पाल के योग्य नियमन से अथवा इस तरह के अन्य किसी साधन से सतत चलाया करने का एक-सा परिश्रम तो हमें करना रहता ही है । और ऐसे एक के बाद एक अलग अलग कक्षा में परिश्रम का तो मात्र प्रकार ही बदलता होता है । ऐसा हमारा आदर्श-ध्येय का लक्ष्य-बिन्दु है, वह सतत ख्याल में रखना जी ।

● ● ●

साधकों का परस्पर में वर्तन

॥ हरिः ॐ ॥

त्रिचि,

ता.१८-९-१९४३

ईश्वर की रचना ऐसी है कि एक ही समर्थ पुरुष कितनों को ही तार सकता है और तारता भी है । एक ही गुरु के अनेक शिष्य होते हैं । शिष्यों के सूत्रधार एक ही गुरु होने पर भी उनके परस्पर के वर्तन में बहुत बार साधक के लायक नहीं होता ऐसा वर्तन देखने में आता है । सच में तो **साधक अर्थात् गुरुरूपी विराट शरीर के अलग-अलग अंग ।** जैसे मानवशरीर के प्रत्येक अंग के नाम, काम और प्रकार अलग-अलग होते हैं, वैसे ही गुरु के विराट शरीर के इन अंगों के बारे में है । शरीर के अंगों में आपस में एक बार झगड़ा हुआ और परिणाम में पूरे शरीर को और अंदर **जीव** को भारी संताप और दुःख हुए ऐसी एक बालकहानी संगठन का महिमा गाने के लिए रचित है, पर यह बालकहानी साधकों के परस्पर वर्तन के लिए भी पथ्य और हितकारी है, क्योंकि बहुत बार साधकों को अपने गुरु के प्रति तो कुछ प्रेम होने पर भी एकदूसरे के बीच पर्याप्त सुमेल नहीं होता, उसका भी मानसशास्त्रीय कारण है ।

जब कोई **जीव** साधकदशा में आता है, तब उसके स्वभाव के अच्छे तत्त्वों और अनिष्ट तत्त्वों दोनों जो अभी

तक साधक में पड़े रहे हुए थे, वे ऊपर तैर आते हैं, बाहर दीखने लगते हैं, उसमें भी पहला आक्रमण तो उसके नकारात्मक तत्त्व तरफ से ही होता हो ऐसा लगता है । यानी कि वह सविशेषरूप से जोर ऊपर आते मालूम पड़ते हैं । ईर्ष्या, द्वैष, 'मैं' पन, गुरु पर अपनी मालिकी की वृत्ति आदि एकदम जोर से आक्रमण करते हैं । अनेक वर्षों से बहती किसी नाली में या खारकुएँ में नीचे कचरा पड़ा रहता हो और उसके ऊपर से पानी बह जाता हो तो पानी प्रमाण में बहुत स्वच्छ होता है, पर जब नाली साफ करने का प्रारंभ होता है, तब वह पानी उलटा अधिक गंदा, मैला होता है और बदबू अधिक निकलती है । वैसा ही साधक **जीव** के विषयक होता है ।

इससे ऐसे समय में अनेक बार साधक उसके निचले स्तर के जोर से बहते हुए प्रवाह में बह भी जाता है । यद्यपि फिर जागृति आने पर उसे भान भी होता है । इस कारण के लिए ही बाहर की संसारी दुनिया में लोग जितने झगड़ते न हो, उससे अधिक प्रमाण में साधकों में कभी कभी आपस में झगड़े होते रहते हैं । इससे, ऐसे साधक संसारी लोगों से भी निम्न हैं ऐसा मानने की ओर इतर जन जाते हैं, पर वास्तविक रूप से तो यह मान्यता अयोग्य है ।

साधक में और संसारी मानवी में एक बड़ा अंतर है । उसकी सभी विकृतियाँ होने पर भी साधक भगवान की ओर अभिमुख थोड़े बहुत अंश में होता है । इससे कालक्रम में वह अपने स्वभाव को अधिक गहराई से परखता जाता होता है

और उसके निचले स्तर के वहन के पाट को छोड़ता जाता है । यानी कि वह स्वभाव के वश होना कम से कम करता जाता है । इससे ऐसे साधकों के बीच अंत में तो एक दिन सुमेल आये बिना रहेगा ही नहीं । इससे वह जैसे जैसे जागता जाएगा और उसका जैसे जैसे योग्य क्रियात्मक उपयोग होता जाएगा, वैसे वैसे नयी आयी हुई या खिली हुई शक्ति ही अपनेआप सभी में सुमेल फैलायेगी ।

इसप्रकार, एक बार संसारी जन से भी अधिक झगड़े होने के बाद का मेल स्वभाव के रूपान्तर के कारण होने से तथा कड़वेमीठे अनुभव की नींव पर रचा हुआ होने से उसमें जो मधुरता जमने लगेगी वैसी मधुरता पहले से ही जगत की नजर से सुमेल भोगते रक्त के संबंधियों या संसारी आप्त वर्ग या बंधुवर्ग में नहीं हो । ऐसे संसारी मेल और साधकों के बीच के मेल में आसमान जमीन का अंतर होता है ।

स्वभाव के आक्रमण कितने भी जोरदार हो, तब भी देखभाल रखकर, जागृति से, उससे आकर्षित होकर दूसरे के प्रति अयोग्य व्यवहार न हो ऐसा देखने और व्यवहार करने में प्रयत्नशील उसका नाम साधक । उसे अपने बरताव को प्रत्येक पल समझना होगा और वह कहाँ गलत है ऐसा संपूर्ण ख्याल उसमें जगना चाहिए । साधक अपने आपको ठीक से पहचान गया होगा तो हमेशा उसकी दृष्टि, वृत्ति और भाव उसके प्रत्येक प्रसंग, विचार, वाणी और व्यवहार में अपनी भूल कहाँ है यही देखने का प्रयत्न करेगा ।

स्वयं को हुए या होते कोई भी आघात के बारे में, स्वयं को अन्यायी दिखते व्यवहार के बारे में, जो कोई साधक सामनेवाले का दोष देखेगा अथवा खोजने का प्रयत्न करेगा वह या तो साधक नहीं है या तो कहीं वह प्रसंग तक तो किसी भारी भ्रम में पड़ा हुआ **जीव** है ।

साधक को आगे जाने पर पता स्वयं को भी चलता है कि उसकी अपनी निचले स्तर की प्रकृति अनेक तरह—कभी कभी आश्चर्य कर दे ऐसी जादूगर की जाल फैलाकर भी—अपने सिकंचे में ही साधक को रखने प्रयत्न करती होती है । यह प्रकृति कोई **सजीव** प्राणी की तरह ही अपनी साधक पर की पकड़ कम होते देखती है, तब हाथ जोड़कर बैठी नहीं रहती, पर स्वयं से संभव हो उतना अधिक से अधिक बल लगाकर साधक पर का अपना राज्य टिकाने के लिए युद्ध किया करती है । प्रकृति के ऐसे आक्रमण के रूप भी नये के नये होते ही जाएँगे । रामरावण युद्ध में रामलक्ष्मणादि को शायद सबसे अधिक त्रास देनेवाला इन्द्रजित था, क्योंकि वह अपने सच्चे स्वरूप को मायावी स्वरूप से ढंककर, बादलों के पीछे छिपकर, न दिखे ऐसे स्थानों से अपने बाण फेंकता था । उसी तरह प्रकृति के आक्रमण अधिक से अधिक गुप्त वेश में होते जाते हैं ।

ऐसे मायावी स्वरूप से रक्षण करने का शस्त्र साधक के लिए आंतर निरीक्षण है । उसे अपने आपको अधिक से

अधिक गहराई से जाँचना चाहिए । और ऐसी जागृति और समझ से यदि वह सभी के प्रति बरता करे तो घर्षण कभी नहीं ही होगा ऐसा तो कदापि नहीं कहा जा सकता, परन्तु जीवनतत्त्व को पाने की इच्छा रखनेवाले साधक हमेशा उसमें से लाभ ही उठाया करेंगे । इससे प्रत्यक्ष रूप से हुए अनिष्ट से और प्रत्यक्ष प्रतिकूल संयोगों में भी साधक को लाभ उठाने की कला आती जाएगी । यों, दृष्टि, वृत्ति और भाव विकसित करने साधक प्रत्यक्ष सारे अनिष्ट का भी रूपान्तर किया करेगा । प्रत्येक वृत्ति उठते साधक को उसकी समझ होगी, उसका आक्रमण कितने जोश से है, उसकी भी समझ पड़ेगी और उस आक्रमण को अपने लाभ में किस तरह मोड़ना है वह भी उसे सूझेगा । कभी उसके बहाव में बहते हुए भी उस खिंचाव को भी ज्ञानपूर्वक साधना के हेतु में उपयोग करना—अनेक प्रत्यक्ष हार में भी कोई न कोई प्रकार की छोटी सी जीत पाने—उसे आएगा और ऐसे बहाव में बहने का हुआ तो उसका ज्ञान और भान दोनों उसे होंगे । जिस साधक में ऐसा ज्ञान और भान नहीं आता उस साधन में उतनी कचाई जानें ।

इस प्रकार, जैसे साधक को अपने स्वभाव के योग्य अयोग्य मोड़ों की समझ आती जाएगी और उसे नियन्त्रण में रखकर तटस्थता से उसका साधना के हेतु में योग्य उपयोग लेने का सूझता रहेगा वैसे-वैसे प्रत्येक के साथ उसके व्यवहार में अपना विकास हो रहा हुआ वह अनुभव करेगा । ऐसा होने पर हृदय की सूझ उसे किसी दिन तो जरूर पैदा होगी ही ।

ऐसा भले उसके जीवन में शीघ्रता से प्रकट न हो पर ऐसी कला प्रकटनेवाली ही है ऐसी दृढ़ श्रद्धा रखकर उसे सभी साधकों के साथ अधिक से अधिक प्रेमभाव से बरतने का जागृतिपूर्वक प्रयत्न करना है। तथापि मूल प्रकृति के वश कभी हो जा सके और झगड़ा भी हो जाय तो इससे उसे डिगना नहीं है। उस समय समतारूपी लाभ—मन की शांति रूपी लाभ—लेने को उसे प्रयत्न करना चाहिए और आगे जाने पर साधक वैसा लाभ उठा भी सकेगा। इस तरह निराशा के आवरण के प्रसंगों में भी शांति और धीरजरूपी लाभ उठाने का ख्याल जागृत रहे उसके लिए साधक को तत्परता रखनी चाहिए। यदि पर्याप्त लक्ष रखेगा तो उन सभी में से समन्वय पैदा होते वह अनुभव करेगा। ऐसा अनुभव होने से पहले साधक को वैसा होगा ऐसे श्रद्धा विश्वास रखने चाहिए। प्रत्येक साधक के प्रति गुरु उसकी कालानुसार आवश्यकता देखकर ही रहता और व्यवहार करता है। उसमें किसी प्रकार के व्यक्तिगत पक्षपात या गिनती considerations गुरु को न हो, तब भी साधक अमुक बार गुरु के अन्य साधक के प्रति व्यवहार विषयक अपनी समझ अनुसार गतिरोध बना लेता है अथवा कल्पना करता है। इसमें साधक दोनों को—अपने तथा गुरु को—अन्याय करता है। इसलिए, साधक को उस बात में सावधान और तटस्थ रहना चाहिए।

● ● ●

साधक का नौकरों के प्रति वर्तन

॥ हरिः ॐ ॥

त्रिचि,

ता. ००-८-१९४३

जिसे अपना जीवन साधना में समस्त रखना है, पिरो देना है, वैसे साधकों को अपने घर के नौकरों के प्रति संपूर्ण भाईचारे की भावना रखनी चाहिए । उसके हिस्से आये काम को वह करे इससे वह हलका नहीं हो जाता । उसी तरह कोई करोड़ाधिपति अपने हिस्से आये काम करता हो इससे कोई ऊँचा नहीं हो सकता, काम को लेकर ऊँचनीच का भेद कभी नहीं हो सकता । साधक को ऐसे ऊँच-नीच के भेद कल्पना में भी कभी न होने चाहिए । भूलचूक से भी ऐसी दृष्टि उसमें हो तो उसे दूर करने के लिए उसे प्रयत्न करना चाहिए ।

साधक अर्थात् अंतर में और बाहर, ऊपर और नीचे, सभी जगह जो भगवान का भाव सचराचररूप से व्याप्त है, उसे जीवन में अनुभवरूप से हृदय से प्रामाणिक रूप से उतारने को प्रयत्न करनेवाला । ऐसा साधक अपने नौकर और कुटुंबिओं के बीच व्यवहार के अनुसार या भावना के अनुसार कुछ भी अंतर नहीं देखेगा । वह बीमार होता अगर उसकी कोई असुविधाभरी स्थिति का ख्याल आते ही अपने कुटुंबीजन जैसी उसकी मर्यादा की स्थिति का ख्याल रखके उसकी योग्य सेवा करने को वह नहीं चूकेगा । इसके साथ

साथ जैसे अपने कुटुंबीजन अपने धर्म की मर्यादा चूके या योग्य कर्तव्य न करता हो तो उसे टोकना अपना धर्म माने, उसी तरह वैसा नौकर उसके काम में ठीक से रहा करे इसके लिए देखभाल अवश्य रख सकते हैं । उसके पास से उसकी हैसियत से अधिक काम कभी नहीं लेना है । कुटुंबीजन जैसा ही उसके साथ प्रेमभावभरा वर्तन होना चाहिए ।

साधक ऐसा कभी न माने कि उसके साथ प्रेमभावभरा आचरण रखने से वह 'छक जाएगा ।' उसका कोई भी अयोग्य वर्तन होगा उसे वह बताने का कभी नहीं चूकेगा । साधक के हृदय का सहज प्रेमभाव और उसके साथ का ऐसा नैसर्गिक वर्तन नौकर के दिल में कोई अनोखा भाव पैदा किये बिना नहीं रहेगा । नौकर वह नौकर नहीं है, परन्तु अपने कुटुंब का ही एक व्यक्ति है, ऐसा भाव हमारे हृदय में होना चाहिए । हम नौकर को हो सके वहाँ तक योग्य निमित्त मिले बिना निकाले नहीं । वह अपनेआप जाना चाहे तो अलग बात है ।

नौकर के प्रति साधक संपूर्ण विश्वास रखता है सही, परन्तु अपने ऐसे विश्वासभरे भाव से नौकर यदि अपने स्वभाव अनुसार उलटासीधा चला जाता हो और वफादारी से काम न करता हो, तो उस बात में उसे समझाने और उसे वैसा करते रोकना भी साधक का धर्म है । अपने नौकर के प्रति विश्वास की भावना के कारण वह खराब हुआ करता हो, तो उसका वैसा अकल्याण होने देने में साधक कभी निमित्त नहीं बनेगा । जैसे

अपने भाई को टोकने का या अटकाने का वह प्रयत्न करेगा वैसा उसके प्रति भी वह वैसा होगा, परन्तु कुटुंबीजन और ऐसे नौकर के बीच रहा हुआ सूक्ष्म भेद और परिवर्तन भी साधक को समझना चाहिए । ऐसे चोर या ढीले स्वभाव के कुटुंबीजनों को सुधारने के लिए साधक जैसे प्रेम से हृदय का पूरा सहकार करता है (उस समय अपना भावना का बल अधिक केन्द्रित और तेजस्वी करने का सुयोग्य मौका मिला है, ऐसा समझकर उस परिस्थिति का वैसा उपयोग वह करेगा ।) और तथापि वैसा कुटुंबीजन तो उसे निबाहने से ही छुटकारा मिलता है, उतने अंतिम दोर तक नौकर के साथ साधक को जाना नहीं है । इससे ऐसी ऐसी बात में साधक को विवेक रखने की जरूरत है ।

जिस साधक के पास नौकर रखने जितना साधन है, वह साधक नौकरों को कभी-कभार पैसे उधार देने से पहले सोचेगा । ऐसा नहीं कि अपने नौकर का निजी जीवन उसे देखना नहीं है । उसके यहाँ वहाँ पैसे खर्च करने के व्यवहार में स्वयं कभी भी साथ न दे । अनिवार्य आ पड़े संकट के समय उसे मदद करने का साधक अपना धर्म समझे वह साथ-साथ अपनी सुखी स्थिति का गैरलाभ किसी भी बहाना करके नौकर ले न जाय वैसा साधक को उस बात में देखना तो रहा ही है, परन्तु अविश्वास की नजर से नहीं । **साधक यानी सारी बातों में बुद्धू नहीं, किन्तु साधक यानी सभी तरह चकोर, होशियार और दक्ष ।**

हमारे समाज में भगवान के भक्त की बहुत ही विचित्र प्रकार की समझ और कल्पना बन गयी है । उस समझ और कल्पना के आधार पर या धारणा से साधक को कभी नहीं चलना होता । साधक जिस तरह अपने जीवन में सभी जगह पवित्रता और स्वच्छता रखने प्रयत्न करता होता है उस अनुसार उसके नौकरों भी साफ सुथरा, स्वच्छ और निजी आचरण में भी वैसे रहे वह साधक के ख्याल में रहेगा ही । जानबूझकर अपने नौकर को वह बेदरकार नहीं होने देगा एवं गलत ढंग से उसे बार-बार टोकना भी न करता हो ।

वर्ष में एक महीने की हक़ की छुट्टी और यदि वह न भोगे तो उसका एक वेतन और महीने में कम से कम चार छुट्टी उसे मिलनी ही चाहिए । यदि साधक अपने नौकर को कुटुंबीजन गिनता होगा और यदि वह नौकर कुटुंब में पूरीतरह मिल गया होगा तो कुटुंब के व्यक्ति जैसे छुट्टी नहीं भोगते उसी तरह नौकर भी छुट्टी न भोगता हो तो उसमें कुछ गलत नहीं है, परंतु उसके साथ साथ उसने कोई भी छुट्टी भोगी नहीं है, तो उसका बदला भी साधक को पूरा देना चाहिए ऐसा ख्याल वह जरूर रखेगा । वर्ष की नौकरी के अंत में उसे एकाध महीने का वेतन दे सके तो वह भी योग्य गिन सकते हैं ।

साधक नौकर कितने बजे तक काम करता है, उसका जीवन्त भान रखे । काम के कारण उसे देर तक जागना न पड़े वह साधक देखे बिना नहीं रहेगा । भोजन और रहन-

सहन आदि की सुविधा के बारे में उसके जीवन की मर्यादा की स्थिति अनुसार जरूर वह देखा करेगा । किसी भी योग्य कारण से हमारे यहाँ से उसे जाना हो तो दूसरे के यहाँ कैसे भी संयोग में यशस्वीरूप से अपना काम वह निभा सके ऐसी शिक्षा भी हमारे यहाँ उसे मिली होनी चाहिए ।

साधक के ख्याल में नौकर की खराब आदतें आयेंगी ही । उसके जीवन को सुधारें यह साधक का मुख्य अंग भले न हो, तथापि उस बारे में वह कभी दुर्लक्ष नहीं रखेगा । नौकरों के साथ कभी वह असभ्य नहीं होगा और गलत तरीके से उसे धमकाएगा भी नहीं । नौकर अर्थात् उसे आराम से न बैठने दें और काम ही बताया करना चाहिए, यह तो नीच वृत्ति है । नौकर को भी भावना होती है । उसे भी आराम की आवश्यकता होती है । फिर, अमुक जगह तो घर के मुख्य व्यक्ति न सोये, वहाँ तक नौकर से सोया नहीं जाता । ऐसी जगह स्वयं विचार करके नौकर को भी कम से कम सात घण्टे की नींद मिलनी चाहिए, ऐसा विचार समझदार व्यक्ति किये बिना नहीं रहेगा । नौकर बीमार हो, उस समय उसे काम न करने दें । उसे आराम और दवा मिले उसकी सुविधा, फैलाव और सहृदयता हम यदि रख सकें तभी नौकर हमारे बारे में सद्भाव रख सकेगा । ऐसा करना यह हमारा धर्म भी है ।

यदि किसी व्यक्ति को अपने घर और वस्तुओं को अमुक तरह से सब व्यवस्थित करना चाहिए ऐसा वह चाहता

हो और वैसे काम में तथा घर के दूसरे अनेक कार्यों को घर का नौकर यदि कर ना पा रहा हो तो ऐसे व्यक्ति को दूसरा नौकर रखना चाहिए । और यदि वैसा करने की आर्थिक स्थिति न हो तो नौकर की शक्ति की मर्यादा देखकर उससे हो सके उतना ही काम करवाना चाहिए । नौकरों के पास से तो सख्त हाथ से ही काम लेना चाहिए और हमारे बोलने से नौकर कांपना चाहिए और ऐसा रूआब होना चाहिए ऐसी मान्यता अनेक धनवान कुटुंबों में रही हुई है, परन्तु यह तो निरा अज्ञान है । नौकर गरज के मारे हमारे यहाँ काम भले करे, परन्तु उसके प्रति ऐसे लोगों के कठोर व्यवहार से नौकर के दिल में उनके बारे में कभी सद्‌भाव या प्रेम नहीं जागेगा । हम स्वयं उसके जैसी स्थिति में हों तो हमें कैसा लगेगा, वह हमें सोचना होगा ।

अंत में तो साधक तो नौकर को नौकर की तरह समझेगा भी नहीं । वह तो आया हुआ अपना कोई स्वजन ही है, ऐसी भावना उसके प्रति रखेगा । ज्ञानपूर्वक सद्‌भाव से प्रेरित सद्‌वर्तन का कोई गैरलाभ उठा जाएगा ऐसा संशय रखने की साधक को जरूरत नहीं है, स्वयं उसके प्रति सभी तरह के व्यवहार में सर्व भाव से स्वयं योग्य रहा करता है, वह देखने में ही उसका अपना पूरा संतोष समाया हुआ है ।

● ● ●

साक्षीभाव

॥ हरिः ॐ ॥

कराची,

ता. १८-७-१९४०

साक्षीभाव तीन प्रकार से रख सकते हैं, और बिलकुल अकेला भी वह रह सके और फिर निरपेक्षभाव से भी। हमारे विचार, भाव, भावना, रस, रस की प्रवृत्ति, संबंधों, व्यवहार के क्षेत्र-ऐसे अनेक प्रसंगों में हमें साक्षीभाव यानी उसमें अलगपन तो रखना है ही, पर वह जुदाई बिलकुल अलिप्त नहीं होनी चाहिए, क्योंकि हमें अपने में रूपान्तर करना है अथवा तो वे आवरण हैं, इससे उन आवरणों से पर होकर जिस स्थिति में हम सतत—प्रेमभाव से—रस से स्थित रहा करते हैं और तथापि जो कुछ किया करें उस उस स्थिति के अनुरूप किया करें ऐसी स्थिति हमें पैदा करनी है। इससे हमें साक्षीभाव रखना है उसके साथ और उसमें हमें इतने प्रमाण में रस लेना पड़ेगा कि जो रस की स्निग्धता के कारण हम उसे अपने वेग में मिलाने का यत्न कर सकें। हम उन सभी के साथ यदि Indifferent रहा करें—बेदरकार—बिलकुल बेपरवाह रहा करें, उसे कुछ गिने ही नहीं या पर्याप्त लक्ष न दें या ध्यान न दें तो जो जो सब हुआ करेगा, परिणाम आएगा, उसमें से जो गति उत्पन्न होगी वह हमें मदद करनेवाली नहीं होगी। यह बात निश्चित है।

पर यह बात एक तरफ रखो, पर हम जो 'साक्षीभाव रखा करते है' ऐसा गिनते हैं, वह हमारी मान्यता भी योग्य-वास्तविक नहीं है । हमारा वह भाव हमें सहायक नहीं है, अवरोध करनेवाला है । हमें जो साक्षीभाव रखना है, वह तो इस तरह का है । हम जो जो संबंध में हों या आयें उसमें मिले या मिल जाये या बह जाये यह योग्य नहीं है, पर उसके साथ साथ सामनेवाले (यानी कि व्यक्ति या प्रसंग या वातावरण या जिस किसी के साथ हमारा संबंध है या हुआ है उसके साथ) में इस तरह रस लेना है कि जिससे वह योग्य ढंग से आचरण करे और हमें परिणाम स्वरूप सरलता हुआ करे । हमारे अंदर जो **जीव**स्वभाव है, उसे सूक्ष्मता से जाँचेंगे नहीं और उसे बार-बार उलटेंगे नहीं तो वह तो उसकी पुरानी आदत के प्रभाव अनुसार व्यवहार करेगा और हमारा साक्षीभाव कहीं बह जायेगा । हमें उसका भान भी न रहे ऐसा पूरा संभव है । इससे साक्षीभाव के साथ साथ हमें विवेकवृत्ति भी रखने की उतनी ही आवश्यकता है ।

इसे एक साधारण नियम गिनकर हमें दूसरे सभी के साथ व्यवहार करना है, पर दूसरों के साथ ऐसा व्यवहार करने से फिर आग्रहवृत्ति न आ जाए, ऐसा आसक्तिभरा रस न लिया जाये कि जिससे आग्रहवृत्ति से हम बह जाएँ, यह भी हमें देखना है । हमारी आग्रहवृत्ति भी हो सकती है, यदि उसके साथ साथ ही हम तटस्थता रख सकते हों तो । आग्रह और अनाग्रह या तटस्थता उसका संवाद कैसे हो-सुमेल किस तरह

हो यह फिर अलग प्रश्न है, पर ऐसी तटस्थता के साथ की आग्रहवृत्ति में भी सामनेवाले के हित का ही सवाल मुख्यता से हमारे में भाग निभाता होना चाहिए ।

यह सभी के साथ हमें प्रत्येक परिस्थिति में संतुलन बनाना आना चाहिए । यह सब एक साथ कैसे हो ऐसा विचार आये, पर हम में वैसा वैसा आने लगेगा और हमें वह देखा करना है ।

मैंने कितने ही ऐसे भी देखे हैं और अनुभव किया है कि जिन में साक्षीभाव पूरा होने पर भी दूसरे के साथ मिले या मिल गये लगा करें, पर ऐसों का तो ऐसी वृत्ति में कोई और ही प्रकार का हेतु होता है । इससे हमें तो सब तरफ से देख सोचकर काम लिया करना है ।

जिसे एक बार इसमें रस होता है, पर वह यदि योग्य बहाव में गति नहीं कर सके होते हैं तो उनके अंदर की सारी शक्तियाँ व्यर्थ जाती है और रस मर जाता है ।

● ● ●

अनुभव के स्वीकार विषयक समझ

॥ हरिः ॐ ॥

साबरमती आश्रम,
ता. २१-१-१९४३

जिनको मनुष्यजीवन की महत्ता का भान जागा है और जीवन के उच्चतम क्षेत्रों में विहार करने की और सत्य के परम शिखर पर पहुँचकर जीवन में उसका अनुभव करने की धधकती तमन्ना प्रकट हुई है और हृदय के अंतरतम प्रदेश में डुबकी मार मारके किसी परम गहन, उच्च, दिव्य सत्य अपनी चेतना में उतारने या प्राप्त करने की जिन्हें हृदय की धधकती अभिलाषा प्रकट हुई है, ऐसी प्रत्येक जीवात्माएँ किसी अंतिम गूढ़ सत्य द्वारा अपने जीवन को आंकती रहती हैं और उसे नियत करती रहती होती हैं । जैसे-जैसे साधना के उच्चतम चेतना के प्रदेश की भूमिका में साधक प्रवेश करता जाता है, वैसे-वैसे उसे उसके जीवन में उसकी असर अनुभव होती है ।

यद्यपि उसके लिए निश्चित स्थूल प्रमाण नहीं मिल सके तथापि अपने स्तरों को समझ समझकर जो साधक पलटाने चाहने की हृदय की ज्ञानभक्ति योगभावपूर्वक की प्रार्थना श्रीप्रभु के चरणकमल में किया करता होता है, और स्वयं एकमात्र शरणागति के भाव में रहा करके अपने जीवन के

अनेक स्तरों को, उसकी अंतरबाह्यता, समर्पण किया करता होता है, उसीको ही उस बाबत की कुछ समझ पड़ सकती है । उसके बिना तो, वैसे प्रत्यक्ष भान-अनुभव बिना तो हमें भ्रांति के प्रदेश में भटक जाने की पूरी संभावना रहती है । फिर, दूसरी तरह सोचें तो श्रीरमकृष्ण परमहंस, श्रीचैतन्य महाप्रभु आदि अनेक संत महात्माओं के परिचय में भक्तिभाव से जो जो **जीव** आये, उन सभी के जीवन का कल्याण होने का दृष्टांत भी सामान्य हैं ।

श्रीचैतन्य महाप्रभुजी, श्रीशंकर भगवान, श्रीभगवान ईशु, श्रीभगवान बुद्ध, पैगम्बर हजरत महंमद साहब आदि के जीवन के स्पर्श से अनेक **जीवों** का उद्धार और विकास हुआ है, यह सत्य बात है । चैतन्य की भूमिका के जीवन का परिणाम ऐसा ऐसा या अमुक अमुक था या हो सके ऐसा प्रमाणित करने को प्रयत्न करना निरर्थक है । कोई ऐसा साबित करने की इच्छा न भी करता हो । ऐसी उच्च आत्माओं के साथ संलग्न कोई साधक शंका या संशय करे, तब वह एकमात्र शुद्ध यथार्थ की दृष्टि से उस साधक को स्पष्ट कहने जितना कहे वह समझ सके ऐसा है ।

प्रत्येक को अपना दृष्टिबिन्दु उस बारे में निश्चित कर लेना चाहिए । जब जब साधक **जीव** ऐसे किसी चैतन्य का हृदय से स्वीकार कर लेता है, तो वह बुद्धि की दलीलों की परम्परा, तर्क या वैसे उसके प्रमाण के परिणाम से वैसा नहीं

होता, परन्तु वे तो वैसों के जीवन में परम कृपा करके चैतन्य जब प्रवेश करता है, तभी वह उसके मानने में आता है। फिर, अमुक मूर्ख और जड़वादी साधक को तो (उसे साधक कह सके या क्यों वह भी शंका की बात है।) किसी बुद्धि से पर का (psychic experience) कुछ अनुभव हो तो उसकी अमुक कोई कल्पना के आधार पर उस अनुभव का लाभ भी उसे पूरा नहीं मिलता। **जीव**मात्र अपने अनुभवों के परिणाम से—श्रद्धा के जीवंत होते जाते विकास के कारण—हृदय को प्रेरणाशक्ति के कारण अथवा तो प्रत्येक के पीछे गूढ़ता से काम कर रही हुई चैतन्यशक्ति अथवा तो ऐसे अनुभवों के पार क्या है ऐसा जिसने शुद्ध सात्त्विक बुद्धि से समझ लिया होता है। उसके कारण वह स्वीकार होता जाता है। कोई भी उच्चात्मा अपनी चैतन्यशक्ति के बारे में कोई दावा नहीं करती। उसे वैसे से कुछ लेना भी नहीं होता, परन्तु जबरदस्ती से कोई भी एक बार उसे धमकाकर कोई भी एक **जीव** उसे उस तरह उकसाता है, तब वह वैसा कहता भी होता है। वह तो मात्र अपने जीवन के लिए सत्य यथार्थरूप से वैसा वह कहता होता है। किन्तु वह प्रत्येक के वैसे वैसे स्वीकार के लिए जरा भी स्वयं आग्रह नहीं रखता होता।

● ● ●

यह सब क्या है ?

॥ हरिः ॐ ॥

कराची

ता. १७-१२-१९४३

हम (सचमुच तो शरीर से) सोते होते हैं, तब पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ भी बाह्यरूप से तो जड़ जैसी बनी होती हैं। तब हम कान से सुनते नहीं हैं, आँख से देखते नहीं, नाक से सूंघते नहीं हैं, जीभ से स्वाद नहीं लेते, त्वचा (चमड़ी) से स्पर्श नहीं करते। उसी तरह पाँच कर्मेन्द्रियों से भी कुछ नहीं करते होते, परन्तु उन इन्द्रियों का abstract essence (subtle element) सूक्ष्म भावात्मक चेतनस्वरूप अंतर में सूक्ष्म देह के साथ तब केन्द्रित हुआ करता है। परन्तु मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहंकार भी तब सोते नहीं होते, किन्तु शरीर सोता हुआ होने से उन उनकी तेजस्विता की मात्रा बहुत बढ़ी होती है। इससे, स्वप्न में भी हम सभी इन्द्रियों से काम में पिराये हुए या काम करते हों ऐसा लगता है। उस समय जो इच्छा जागती है, उस इच्छा का परिणाम तत्काल भोगते हों ऐसा भी लगता है।

इच्छा के साथ ही (वह इच्छा चित्त में पड़े रहे हुए संस्कारों अनुसार होती है) हम उस उस परिणाम में पड़े हुए दिखते हैं। हम एक स्थान से दूसरे स्थान पर तत्काल जाते हैं। इसप्रकार, स्थान का भेद रहता नहीं है। फिर, स्वप्नावस्था

में हमने मात्र थोड़ी क्षणों में जो जो भोग किया होता है, वह सभी यदि दिन के जाग्रत समय में उसी तरह भोगने का हमें हो तो उससे तो कितना ही अधिक समय लगे ही । इस पर से समझ आता है कि स्वप्नावास्था में स्थान और काल की मर्यादा अति विस्तृत हो जाती है, यानी कम हो जाती है ।

स्वप्नावस्था में ऐसा हो तो आत्मा की स्थिति में तो स्थल और काल संपूर्ण न रहे यह बुद्धि से समझा जा सके ऐसा है । स्वप्नावस्था में सूक्ष्म देह में (यानी कि वासना देह के) पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहंकार ये सब शरीर के स्थूल जाग्रत स्पर्श बिना के होने से उनकी सूक्ष्मता बढ़ती है । तो यदि भगवान की भावना में वह सब खेलता हो जाये तो उन उनकी सूक्ष्मता का तो तब पार ही न आए । यह सब बुद्धि की कोरी समझ है, परन्तु वह सत्य जैसा होता है वैसा बताने को बतलाया है । ऐसा प्रत्येक जीवात्मा स्वयं अनुभव कर सकती है और बुद्धि से पक्का समझ सकती है । इससे स्थान और काल इन दोनों का लोप हो जाना संभव है, यह बुद्धि में उतर सके ऐसा सत्य है ।

जैसे छोटे बालकों को ज्ञान पाने के लिए खिलौने आदि साधन हैं और उस उस समय उनसे खेलकर वे आनंद पाते हैं, तब वे सभी हकीकत में सत्य ही उन्हें लगते होते हैं, किन्तु

बड़े होते और उसके प्रति का उसका दृष्टिकोण (दृष्टि, वृत्ति और भाव) बदलते उन खिलौने आदि तब आवश्यक नहीं होते, उसी तरह **हमारा शरीर, उसकी रचना और संपूर्ण विश्व ये ज्ञानप्राप्ति के साधनरूप से सत्य है और उसके अनुभव के बाद आत्मा की आनंदलीला विस्तार के लिए भी वह सत्य रहता है ।**

परन्तु पूज्य मामाजी ने पूछा था कि 'यह जगत ही भगवान ने किस लिए उत्पन्न किया कि जिससे ये सभी सुखदुःखादि **जीव** को भोगने पड़ते हैं ? ऐसा किया न होता तो **जीव** भी न होता और जगत भी न होता और ये सब झंझटें ही न रहती ।' अब, यह विश्व उत्पन्न हुआ है कि क्यों यही एक बड़ा ज्ञान का चर्चास्पद विषय है । सचमुच देखें तो यह सब जो दिखता है, वह अणुओं और परमाणुओं का बना है अथवा यह सब अणु और परमाणु ही हैं । परमाणु को वैज्ञानिकों ने तोड़कर देखा तो वहीं तो मात्र दो 'तत्त्व' कि जिसे जड़ यानी कि Matter भी क्वचित् ही कह सकते हैं ऐसे रहें । उनमें से एक (प्रोटोन) Proton मध्यवर्ती होता है और दूसरा (इलेक्ट्रोन) Electron उसके आसपास माप नहीं सकते इतनी गति से सतत फिरा ही करते हैं । उससे भी आगे जाते (न्यूट्रोन) Neutron अर्थात् जिसमें विद्युतशक्ति स्थगित हो गई है ऐसा कुछ मिला, पर वह न्यूट्रोन यानी दूसरा कुछ नहीं पर वह प्रोटोन और इलेक्ट्रोन का स्वाभाविक—खूब

गूढ़—बिलकुल अंतर बिना का ऐसा गाढ़ संयोग । उससे आगे मेरी समझ अनुसार वे लोग अभी खोज नहीं सके हैं । ऐसा गाढ़ संयोग किस कारण से होता है और उसके पीछे क्या हेतु है और इसे कौन कराता है, वह सब उनकी कल्पना में अभी आया नहीं है । इससे यों हमारे शास्त्रानुसार पुरुष और प्रकृति ये दो तत्त्व अनादि हैं और प्रकृति भी पुरुष के केन्द्रवर्ती होने से पुरुष की ही है ऐसा गिन सकते हैं, और पुरुष में लय होने पर प्रकृति भी नहीं रहती और उसके बाद भी जो तत्त्व अगमनिगम का है, जिसे अनेक नामों से हमारे शास्त्रकार, ऋषिमुनि कह गये हैं, उसका भी अनुभव हो सही ।

हमारा मनुष्यदेह उसी परमात्मा ज्ञानप्राप्ति का एकमात्र साधन है, यह बात पूज्य मामाजी के आगे निकली थी । मानवीदेह बिना वैसा ज्ञान प्राप्त करने की संभावना किसी भी योनि में नहीं है, उसे भी जैसा आया वैसा समझाया था । हमारे में चौदह लोक कहे हैं और उस प्रत्येक लोक में अलग-अलग प्रकार की एषणाएँ ही मात्र बलवानरूप से भोगी जाती रही हैं अथवा भोगा करने की वहाँ की जीवात्माओं में तीव्र सूक्ष्म लोलुपता रहा करती है । वैसे वैसे मनुष्य के अलावा दूसरे योनिशरीर में इस योनि के देह पर्याप्त उस काल दौरान की जो कामना होती है, उस कामना से घिरे हुए वातावरण में और उसकी ही बलवान प्रमाण में जीतीजागती कामना उसे रहा करती है और जैसे-जैसे उच्च या निम्न प्रकार की योनि

वैसे वैसे उनका उस उस प्रकार की वैसी वैसी कामना में ही उलझा उलझाकर उलझना रहता है। और एकमात्र उस कामना में वे घिर गए होते हैं। यह सब केवल नीचे के स्तर की जीवात्माओं के लिए ही नहीं है, पर पुण्यशाली जीवात्माओं के लिए भी है। इससे ही हमारे में कहा हुआ है कि पुण्य खत्म हो, तब मृत्युलोक में वे वापस आते हैं। इससे सभी योनि में से वापस मानवदेह में ही आना पड़ता है और उस स्थिति में ही ज्ञान का उदय होने की बारी आती है ऐसा हमारे शास्त्रकारों ने गिना है, 'मनुष्य देह अमूल्य है, दुर्लभ है' ऐसी लोकोक्ति इससे हमारे संस्कार में जन्म लेकर रहा करी होगी।

● ● ●

वातावरण

॥ हरिः ॐ ॥

साबरमती आश्रम,
ता. २३-७-१९३९

साधारणतः हम वातावरण का अर्थ मौसम करते हैं और कितनी बार हमारे आसपास उस समय बहते मनःप्रवाह - Mood को भी वातावरण कहते हैं । जैसे कि 'भाषण के प्रारंभ में तो शांति थी, किन्तु बाद में वातावरण गरम हुआ ऐसा हम कहते हैं, तब उस समय उस समूह की भावना या मन के प्रवाह को 'वातावरण' नाम देते हैं, पर हमेशा हमारे आसपास ऐसे एकाध नहीं पर अनेक प्रकार के वातावरण छाये रहते हैं अथवा कहो कि अनेक प्रकार के भेद से भरा हुआ वातावरण हमेशा छाया हुआ रहता है । उसका पता सभी को नहीं हो सकता । जिसने संपूर्ण एकता साध ली है, उसे इस भेद की कुछ झाँकी हो सकती है ।

वातावरण मनुष्य को हिला देता है । वह वातावरण के बल से निर्मित होता है । **बलवान आत्मा अपने में से ही वातावरण सर्जन करती है ।** इससे, ऐसी प्रबल आत्मा को वातावरण असर नहीं कर सकता । यह सूक्ष्म वातावरण कुछ हमेशा मनुष्य को ऊँची गति में ले जानेवाला नहीं होता । अनेक बार उस असर से उबर जाना चाहिए ऐसा वह होता है । **इस सूक्ष्म वातावरण की असर से उबरने का कुछ एक**

मार्ग भी पारमार्थिक विचार या कार्य में सख्त सतत लगे रहना है । किसी भी तरह से मन को सतत सात्त्विक रूप से प्रवृत्तिशील रखने से हम पर दूसरे वातावरण की असर नहीं होती । 'सात्त्विक रूप से प्रवृत्तिशील' यानी ऐसी प्रवृत्ति कि जिसमें मन आसक्त होने जैसा नहीं रहता है । यह प्रवृत्ति स्थूल कार्य की हो तो उसमें भी सतत भगवद्भाव रहना चाहिए, और उसका हेतु भी उस समझपूर्वक भगवती कार्य का होना चाहिए ।

हमारी सर्व शक्तिओं में मन अतिशय सूक्ष्म वस्तु है । उसे वातावरण सरलता से हिला सकता है । इन्द्रियस्पर्श से खड़े होते स्थूल वातावरण में तो मन पछाड़ खाता है, पर इससे अधिक सूक्ष्म वातावरण में तो वह अधिक टकराता है । सुसंगत या दुर्जन का संग इन दोनों के कारण मन पर होते आघात और हिचकोले मन को अधिक लाभ-हानि पहुँचाते हैं, क्योंकि ऐसे धक्कों और आघातों की असर मन पर अधिक होती है । उदाहरण रूप से कितने भी उग्र संयम से सभी इन्द्रियों को अपने अपने विषय से खींच ली हो, तथापि मन से वे इन्द्रियों के विषय के सेवन का विचार होते, संयम से खड़ा किया हुआ वातावरण निरर्थक और मिथ्या हो जाता होता है ।

साधुपुरुषों के समीप रहने में भी वातावरण की अच्छी असर होती है, पर यदि उस साधुपुरुष के प्रति हमें श्रद्धा, विश्वास और अत्यन्त आदर तथा प्रेमभक्ति हमारे हृदय में

प्रकट हुए हो तभी । और ऐसे परस्पर सद्‌भाव होने से हमारे हृदय का संबंध अपनेआप उनके साथ बंधता है, और यदि हम अज्ञान से इनसे अलग न हों (यानी कि हम सतत प्रयत्न न करते रहें और उनके प्रति सद्‌भाव-आदरभाव-हम से किसी कारणों के लेकर अदृश्य न हो) तो वह संबंध हमेशा के लिए रहता है और उत्तरोत्तर हम उस असर में हमारी उस समय के मनःप्रवाह की इच्छा-अनिच्छा होने पर भी खींचते रहते हैं ।

जीवनविकास के मार्ग में (गुणों की) विशुद्धि जितनी आवश्यक है, इससे अनेकगुनी अधिक इसकी शुद्धि की है । इससे, साधक को तौलने का माप इतर मनुष्य से थोड़ा बहुत अलग है । अपने मार्गदर्शक के प्रति अश्रद्धा या असद्‌भाव के मन की या ऐसे किसी की एक भी लहर-तरंग-न हो यह देखना उसके लिए अधिक आवश्यक है । ऐसी नजर और ऐसी शुद्धि अच्छे वातावरण से ही आती है। **अच्छा वातावरण खड़ा करने के लिए खराब का सामना करने से अच्छे का बल बढ़ाने का प्रयत्न करें यह अधिक सरल मार्ग है ।** जो बलवान है वही अच्छे वातावरण को पैदा कर सकता है, उसके विषय में किसी शंका का स्थान नहीं है, क्योंकि खराब वातावरण को खड़ा करके फैलानेवाली शैतानी वृत्तियाँ उसके मन को पराजित या थका नहीं सकती । अच्छा वातावरण सँभालने के प्रयत्न में भी शैतान की हैरानी मिट जाती होती है ऐसा नहीं है, पर उस अच्छे और बुरे के संग्राम में अच्छाई की विजय होती है और टिकती है ।

हम कितने ही खराब वातावरण की असर में हों, पर यदि प्रभुकृपा के कारण किसी क्षण में अच्छे संस्कारों की लहर हमें टकरा जाए-स्पर्श करती लगे और उसे पकड़ लें और इस तरह ऐसे अच्छे मौके को यानी कि ऐसी तरंगों को पकड़ लेने की कला यदि हमें आ जाय तो हम अपने में नया जीवन सर्जित कर सकते हैं। फिर, विपरीत वातावरण में पड़े हुए होने पर भी किसी संस्कार के बल से हम सत्संग में मिश्रित हुए हों तब भी हमें लाभ होता ही है ।

हमारे सामने कुछ समय के लिए पुराना वातावरण रहा करेगा और उसका गुंजन और असर हम पर रहा करेगी, परन्तु यदि सामनेवाले का खिंचाव होगा और यदि हमने पुराने में से दिल को हटाया होगा (हृदय से भावभरा स्मरण हुआ करते) तो वह सुंदर वातावरण जमते देर नहीं लगेगी । एक बार उसके आस्वाद का मजा दिल में आने लगे तो फिर कोई बल ऐसा नहीं कि जो इस वातावरण को बदल सके । जैसे खराब के प्रलोभन हैं, उससे कहीं अधिक खिंचाववाले उसके आकर्षण होते हैं, यदि हमारे में ऐसी तीव्र उत्कट इच्छा प्रकट हुई होती है तो । सचमुच मानवीमात्र की अंतर्गत वृत्ति तो भगवान तरफ मुड़नेवाली ही होती है । इसप्रकार, वातावरण हमारे सर्जन में अधिक भाग लेता है ।

● ● ●

सुख-दुःख और आसक्ति

॥ हरिः ॐ ॥

साबरमती आश्रम,
ता. २९-७-१९३९

सुख-दुःख के मूल में देखें तो (अरे ! उसके भाव होना वही बताते हैं कि) उसके मूल में ही आसक्ति रही हुई है, ऐसा हमें लगेगा । **आसक्ति अर्थात् कोई किसी तरफ भावनाओं का ममताभरा पक्षपात** । राग और द्वेष उससे जन्म लेते हैं और उसमें से सुख-दुःख के द्वन्द्व खड़े हुए ही करते हैं । सामान्यतः मनुष्य का स्वभाव पड़ गया है कि वह अपना सुख खोजे । अपने सुख की तीव्र खोज में उसे जगत की अनेक वस्तुओं में आसक्ति बंधती है । 'कुदरत के नियम अनुसार भटकने गया जलयान वायु के जोर से महासागर में कहीं भी खिंचकर नाश होता है', वैसा ही मनुष्य का होता है । हम गंभीर भाव से हमारा पृथक्करण यदि शांत चित्त से करके देखें तो समझ आएगा कि हमारे प्रत्येक कार्य में किसी न किसी प्रकार की सूक्ष्म आसक्ति रही होती है ।

शरीरधारी कोई भी मनुष्य यदि अपने अंदर नजर करेगा तो इस बात का इनकार कर सके ऐसा नहीं है, क्योंकि आसक्ति शरीर के साथ जुड़ी हुई ही है । आसक्ति बिलकुल न हो तो अहम् का संपूर्ण लय हो गया हो, क्योंकि अहम् में से आसक्ति जन्म लेती है और जब अहम् का संपूर्ण लय हो गया हो, तब शरीर टिक ही कैसे सकता है ? इससे शंकराचार्य

जैसे ज्ञानियों ने भी ज्ञान-प्रसार के लिए एक प्रकार का सात्त्विक अहम् रखते थे, ऐसा श्रीरामकृष्ण परमहंस ने कहा है। और उसी तरह कर्म—किसी भी प्रकार के कर्म—भी किसी न किसी प्रकार की आसक्ति के बिना नहीं हो सकते। कर्म अर्थात् कि प्रवृत्ति—कभी भी कुछ भी करने की बिना इच्छा के उद्‌भव नहीं हो सकते। इच्छा वह आसक्ति का ही एक लक्षण है।

इसप्रकार, आसक्ति किसी न किसी प्रकार से सूक्ष्म या सूक्ष्मतम रूप से भी रहती होने से मानवी **जीवों** तो सभी इन्द्रियभोग्य वस्तुओं में आसक्ति बढ़ाते जायेंगे और परिणाम में कुछ नहीं तो दुःख ही प्राप्त करेंगे। ऊपर बताये अनुसार आसक्ति में सूक्ष्म इच्छाओं को पोषण करने की वृत्ति रही होती है और इससे मानवी **जीव** हमेशा कोई न कोई इच्छा को पोषण करने में ही जीवन बिताता होता है, किन्तु उसका उसे भान सामान्य रूप से नहीं होता। हम अपने अंदर गहराई से जाँच करेंगे तो पता लगेगा कि हमारे आँख, कान, त्वचा, जीभ आदि सभी इन्द्रियाँ—अरे, इतना ही नहीं, समग्ररूप से जिसे 'हम' कहते हैं वह भी—कोई न कोई न समझ सके ऐसी आसक्ति में खूब पसंद ऐसी मिठास अनुभव करते होते हैं। यह मिठास इन्द्रियजन्य है और इन्द्रियों के संतोष के लिए है। इससे, जहाँ तक हम उसे प्रयत्नपूर्वक निःस्वार्थी न बना सकें, उसकी आदतों के प्रवाह को न मोड़े वहाँ तक इन्द्रियाँ सब वस्तुओं के अपने विषय में स्वच्छंद से राचेगी।

अनेक मनुष्यों को तो भान भी नहीं रहता होता कि उनकी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय उपभोग में राचती ही रहती हैं । साधना में जैसे जैसे गहरा प्रवेश होता है, वैसे वैसे ही पता चलता जाता है कि अभी तक निर्दोष मानी जाती प्रवृत्ति का मूल तो किसी प्रकार की सूक्ष्म आसक्ति में यानी कि इन्द्रियों की उपभोग की वृत्ति के कारण है । इससे ही हम जागृतिपूर्वक इन्द्रियों की आदत के प्रवाह को मोड़ा करना है । जहाँ तक इन्द्रियाँ सभी वस्तुओं के अपने विषयों में स्वच्छंद रूप से राचेगी और हमें उस मकड़ी की तरह अपने आसपास ही बड़ा जाला खड़ा करने में सहायता करेगी वहाँ फिर अंत में बाहर निकलने का मार्ग न रखा हुआ होने से नाश करेगी ।

इन्द्रियों को अपने विषयों में ऐसा प्रबल रस आता है कि ऐसे रस के पीछे रहे भारी दुःख का विचार कभी कभी उठे तब भी मनुष्य उसमें घिसटता जाता है । जिन प्रवृत्तिओं को 'अशुभ प्रवृत्ति' रूप हमारी समझ पहचान सके ऐसी प्रवृत्ति की ओर जब इन्द्रियाँ खींचती हैं, तब सभी इन्द्रियों को हमारी उस समझ के कारण पता तो होता है कि 'यह कार्य करने जैसा नहीं है,' तथापि हमारी अवगणना करके इन्द्रियाँ अपना चाहा कर जाती है और इन्द्रियों का सुख यानी गीताजी में कहा हुआ है वैसा राजसिक सुख । परिणामतः उसके बाद स्वाभाविक रूप से ही दुःख जन्म लेता है । इस तरह जन्म लेनेवाले सुख-दुःख को रोकने के लिए हमें संस्कारशुद्धि करने का समर्थ प्रयत्न करने चाहिए ।

हम में तटस्थरूप से सोचने और समझने की शक्ति विद्यमान ही है, पर अनेक बार वह शक्ति ढंकी हुई पड़ी रहती है । इससे सुख-दुःख के बीज बोये जाते हैं, तब उस परिस्थिति में भी हम लापरवाह रहते हैं और प्रतिकूल संयोगों को अनुकूल हो जाते हैं । हिरन कहीं भी चरते होते हैं, तब भी उन्हें किसी हिंसक प्राणी का भय सतत रहा करता है और इसीसे वे हमेशा सावधान रह सकते हैं और अचानक आक्रमण से भी बचे रह सकते हैं । जैसे यह सतत जागृति का परिणाम है, वैसे ही यदि हमें भी सुख-दुःख के पंजे में नहीं फँसना हो तो इन्द्रियों पर सतत आक्रमण करनेवाले और अनेक बार तो छिपकर आक्रमण करनेवाले, हमारी आसक्त इच्छाएँ, सोच, कर्म आदि का सतत भागवती प्रेम से प्रतिकार करना ही चाहिए । ऐसा प्रतिकार सहज होना संभव है, यदि हम में जागृतिवाली चेतना हो तो । भगवान की कृपा से ही ऐसा प्रतिकार हो सकता है और हम से सतत साक्षीभाव विकसित करने का भी तब हो सकता है ।

इन्द्रियों की सूक्ष्म इच्छाएँ ऐसी तो मीठी और बलवान होती हैं कि वे संतुष्ट हों तभी हमें सुख मिलता है । संसार के प्रतिदिन के व्यवहार में ही डूब गये हुए मनुष्यों की इन्द्रियों की ऐसी सूक्ष्म चालबाजी की समझ ही अनेक बार नहीं हो पाती है तो फिर उसका प्रतिकार करना तो सूझे ही कहाँ से ? इसिलए प्रत्येक मनुष्य को आंतर निरीक्षण का निरन्तर चौकी

पहरा रखना यह प्रत्येक मानवी के लिए आवश्यक और हितकारक है-उसके भले के लिए अनिवार्य भी है । ऐसा करते-करते जब ऐसी स्थिति हो कि प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय के प्रसंग के कारण से स्पर्श करके वापिस यथायोग्य स्थिति में ही रहे और किसी भी प्रकार के हर्ष या शोक का अतिरेक मनुष्य को न हो, तब ऐसी स्थिति आयी कहलाय कि इन्द्रियों के उन उन विषयों के समभोग में दोष नहीं है । इसप्रकार, ज्ञानपूर्वक, स्वार्थ-रहित आचरण हुआ करे ऐसी स्थिति में इन्द्रियों को लाकर रखने के लिए खूब प्रयत्न करने से ही सभी सुख-दुःख का नाश हो सकेगा । इन्द्रियों को अपने विषय में रस लेती बंद करने के बाद ही हम सभी परिस्थिति में यथायोग्य वर्तन रख सकेंगे । इससे, जो विचार आये उसे निकालने के लिए उसके प्रति साक्षीभाव विकसित करने के लिए हमें सतत प्रयत्नशील रहना है ।

हमारे सतत जागृत प्रयत्न के बाद भी, उसका संपूर्ण ज्ञान होने पर भी, इन्द्रियों की उसमें आसक्ति न होने पर भी, इन्द्रियों पर संपूर्ण नियंत्रणयुक्त ज्ञान और भान सतत जीताजागता होने पर भी, हमारी वृत्ति के योग्य न हो ऐसा कोई काम हो तो उसमें पूर्वसंस्कार है, और वह भोगे जाते हैं ऐसा मानें, क्योंकि उस भाव-विचार के पीछे आसक्ति नहीं है, ऐसी हमें अंतर की पूरी प्रतीति है । मात्र, जैसे श्वास लेने की क्रिया

होती है, वैसे ही वह क्रिया होती है, वैसे वह क्रिया तब—वैसी स्थिति होने के बाद—होती है, पर यह बहुत सूक्ष्म बात है और उसे समझना बहुत कठिन है ।

जीवन अर्थात् अनंत जन्मों के संस्कार लेकर आयी (*जीव* की) चेतनशक्ति की मनुष्यदेह द्वारा होती वहन क्रिया । जीवन नदी के प्रवाह की तरह प्रतिक्षण पलटता जाता है और तथापि वह पलटा-बदलाव-पुराने के आधार पर ही होते रहते हैं । पुराने संस्कारों ने नदी के पाट की तरह एक पाट रचा हुआ होता है, उस पाट में बहने की ओर जीवनप्रवाह का भाव और नये संस्कारों का निर्माण साधारण और स्वाभाविक रूप से होता है । इससे, इन्द्रियों के साम्राज्य तले अनेक मनुष्य कर्म की संस्कारों की गठरियाँ बाँधकर जगत में आये होते हैं और अधिक बड़ी गठरियाँ बाँधकर जगत से चले जाते हैं । कोई कोई विरल व्यक्ति को ही उस गठरी को छोड़कर ही किसी प्रकार के बंधन बिना, बोझ बिना इस संसार से प्रयाण हो सके ऐसी स्थिति प्राप्त करने की प्रबल इच्छा होती है । ऐसी प्रबल इच्छा के परिणाम से ऐसी कोई अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों में रस लेने से रोकने लगते हैं ।

इस तरह इन्द्रियों के विषयों के प्रति साक्षीभाव रखते रखते ऐसा धन्य **जीव** निरासक्त होता जाता है, और अंत में उसकी इन्द्रियों की आदत का भाव भी ऐसा रूपान्तर हो जाता है कि इन्द्रियों का भी साक्षीभाव रहना सहज हो जाता है ।

यों, उसकी वृत्ति निरासक्ति के ठंडे भाव के प्रवाह में बहने लगती है । इससे संस्कारों की संपूर्ण शुद्धि होने लगने से उसके कर्मबंधन टूटते हैं । यों, जब इन्द्रियाँ निरासक्त होने लगती हैं और फिर वैसा होता है तभी हमें सच्ची विवेकशक्ति मिलती है । ऐसी विवेकशक्ति की आँख खुलने से पहले के निर्णय हमारी बुद्धि के निर्णय होते हैं । और हमारी बुद्धि अनेक जन्मों के संस्कारों से विविध रंग से रंगी होती है ।

इससे, ऐसी बुद्धि द्वारा सुझाये निर्णय संपूर्ण ही सच हैं ऐसा मान लेना यह अपने भगवान के रास्ते जाने के मार्ग में पत्थर डालने के समान है । इसलिए, ऐसे निर्णयों के आधार पर जीवन निर्माण करना योग्य नहीं है । हमें समझना और याद रखना चाहिए कि हमारी 'मोहकलिल'(मोहरूपी कीचड़) में पड़ी हुई बुद्धि के निर्णय संपूर्ण सच तो नहीं ही हैं । ऐसे विचारों के प्रवाह अनुसार साधना में आगे बढ़ते जाएँगे, तब हमें अनुभव होगा कि इन्द्रियों का खिंचाव होने पर भी उस मार्ग पर न जाते यथायोग्य मार्ग पर वर्तन रखने की शक्ति हमें अधिक से अधिक प्रमाण में मिला करती है अथवा वह सूक्ष्म कला हमें प्रभुकृपा से अधिक से अधिक हस्तगत होती जाती है ।

जगत में योग्य रूप से जीवन जीना उसका अर्थ यह है कि इन्द्रियों के व्यवहार भले जारी रहा करें, पर उस उस समय पर सतत जागृति हो और साक्षीभाव से रहने का प्रयत्न करने की स्वाभाविक रूप से सहज आदत पड़ जाय, अंग्रेजी

में जिसे 'Reflex action' कहते हैं, उसके जैसा एक प्रकार का ताटस्थ्यभाव का रूख अपनेआप सामने उठा ही करे और ऐसा होते साक्षीभाव हम में अंत में सतत रहेगा । तब हमारी बुद्धि प्रभु के चरणकमल में समर्पित होती जाएगी और अंत में पूरी तरह समर्पित होगी । ऐसा सुभग संयोग हमारे जीवन में प्राप्त होने के लिए संपूर्ण नम्रता, श्रद्धाविश्वास की अनिवार्य आवश्यकता है और यह सब जप, धारणा, ध्यान, प्रार्थना, शरणभाव और सतत समर्पणयज्ञ आदि प्रभुकृपा से हुआ करे वैसा होता जाता है और वैसा होते जाने पर हम से होते जाते प्रत्येक कर्म में उसका भाव उतरा हुआ हमें अनुभव में आएगा ही ।

● ● ●

भावना और मनोभाव

॥ हरिः ॐ ॥

साबरमती आश्रम,
ता. ३०-४-१९४२

हमारे में रही हुई स्मरणशक्ति भी भगवान की एक कृपाप्रसादी है । यद्यपि मनुष्य **जीव** ने उसे प्राप्त हुई दूसरी चेतनशक्ति की तरह अमुक बार उस भागवती शक्ति का भी दुरुपयोग किया है और बैरभाव उत्पन्न किये हैं और जारी रखे हैं, तथापि उस स्मरणशक्ति द्वारा मनुष्य ने अमृत के घूंट भी पीए हैं ।

इस शक्ति को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं । इस शक्ति से भूतकाल को वर्तमान में जागृत कर सकते हैं । मनुष्य की जो कुछ भौतिक या आध्यात्मिक प्रगति हुई है, उसमें इस स्मरणशक्ति का भी हिस्सा है । फिर, स्मरणशक्ति कल्पना को भी उत्तेजित करती है और इससे भविष्य को वर्तमान में जीवंत कर सकते हैं । ऐसा भविष्यकाल जब वर्तमान में हम खड़ा करते हैं, तब या तो उसके मधुर स्वप्न में, हमें मानो गुदगुदी न होती हो ऐसा, मोहभरा सुखद अनुभव होता है अथवा दूसरी तरह हमारे आदर्श को नजदीक लाने के लिए वह हम में तमन्ना भी पैदा करता है । **प्रत्येक शक्ति का उपयोग अपने ही विकास में कर लेने की जीवन्त कला प्रत्येक साधक को हस्तगत होनी चाहिए ।**

हमारी स्मरणशक्ति जब जब भूतकाल के संस्मरणों को हमारे आगे जीवन्त खड़ा करती है, तब तब उसमें मिल न जाकर तटस्थ रहकर उसमें से जो बोधपाठ सीखने को मिलता हो, उसे ले लेकर हमारी वृत्ति को रचनात्मक रूप से हमें मोड़ देना होगा । जिन जिन संस्मरणों के पीछे भावना और कुछ मनोभाव रहे हैं ऐसे संस्मरणों में हमारा **जीव** फँस जाना पूरा-पूरा संभव रहता है, पर साधक को तो उसमें थोड़ा भी **जीव** चिपकाना नहीं है और वह इस तरह अलग करना और रखना कि उस रीत में हमारी उदासीनता भले कारणरूप हो पर उस उदासीनता में ऐसी अवमानना नहीं होनी चाहिए । कहीं भी किसी के प्रति हमें लोलुपता या अनुराग नहीं होने चाहिए, तभी ये संस्मरण हमें मददकर्ता हो पड़ेंगे । मुझे तो अभी मेरे स्वजनों के संस्मरण बहुत ही मीठे और आनंदभरे लगते हैं । उनका प्रेम और उसके पीछे का भाव समझने की शक्ति पहले मुझ में न थी । धीरे-धीरे वह हृदय में उद्‌भव होने लगी थी ।

स्मृति यह कितनी बड़ी जबरदस्त शक्ति है कि जो थोड़े काल के लिए के संबंध को अथवा तो संस्मरण को सचमुच मानो कि वे हमारी आँख के सामने जीवित हों वैसे तादृश खड़ा करती है ! स्मृति में यदि इतनी शक्ति है, तो मनोभाव और भावना इससे भी अधिक सूक्ष्म है । उसकी शक्ति तो इससे भी कहीं चढ़ जाय । यह तो बुद्धि से हमें समझ में आये ऐसा है । तो यह मनोभाव और भावना का सतत विकास

किया करने का रखें तो हमारे लिए क्या असंभव है ? **अगम्य और अकल्प्य ऐसी हमारे हृदय की भूमिका को जीवन को सर्व भूमिका के अंदर अवतरण करानेवाला साधन मनोभाव और भावना ही है ।** उसके भी स्थूल, स्थूल और सूक्ष्म के बीच का और सूक्ष्म ऐसे रूप होते हैं । हम भले उसके पृथक्करण में न पड़ें, परन्तु हम में वे बढ़ते जाते हैं या घटते, उसकी हमें समझ पड़नी चाहिए । हम एक साधारण उदाहरण लें । हमें यदि सब्जी काटनी होगी, तो चाकू या छुरी तो चाहिए ही । परन्तु उसकी धार ठीक से तीक्ष्ण न हो तो उसे काटने में कठिनाई होगी और वैसा करने में हमें आनंद-ऊर्मि नहीं रहेगी । पूरी तरह सफलता भी नहीं मिलेगी और उतने अंश में प्रसन्नचित्त भी नहीं रहा जाएगा ।

जैसे हम में मनोभाव और भावना सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम होती है वैसे-वैसे हम यदि देखें तो हमारी समझ और अनुगमन की दृष्टि अधिक से अधिक स्पष्ट होती जाएगी और वह मर्मवेधक भी सिद्ध होगी ही । इससे हम यों साधना में सर्व भाव अर्पण करने का प्रयत्न करके भले उसके परिणाम पर दृष्टि न रखें, तब भी भगवान में हमारी चित्तवृत्ति कैसी रहती है तथा सर्व प्रकार की उथलपुथल की वृत्ति की दशा में हमारे श्रद्धा और विश्वास, शरणागति, तमन्ना और जिज्ञासा आगे ले जानेवाले निकलते हैं कि नहीं वह तो हमें स्पष्ट दिखना ही चाहिए । तभी हम से ऐसा कहा जा सकेगा कि हम सही रूप

से पथ में धँसते जाते हैं । केवल विवेचक वृत्ति रखकर ही भले हम अस्तव्यस्त न करें, लोंदा हो जाय इतना सूक्ष्म पिंजन न पींजे, तब भी अमुक बार मात्र वह वृत्ति भी जीवनदृष्टि के हल में आवश्यक भी है ही । उसके बिना चलेगा ही नहीं इतनी आवश्यक भी है । उसे बिलकुल नकार किये साधक को चलेगा नहीं । जैसे जैसे सूक्ष्मतम क्षेत्र में जाएँगे वैसे वैसे देवासुर युद्ध भी सूक्ष्मतम रूप से हम में खेलाता दिखेगा, उस समय हमें अपनी समझ होनी चाहिए ।

यों, मनोभाव और् भावना यद्यपि जीवनविकास की सीढ़ी चढ़ने पाये हैं सही, तथापि वे विघ्नरूप भी हो सकते हैं, क्योंकि वहीं साधन मन में भी हैं । साधना में जैसे-जैसे आगे बढ़ते हैं, वैसे वैसे मन का हमारे पर का साम्राज्य जोखिम में पड़ता है । इसलिए स्वयं का हम पर का कब्जा जारी रखने के लिए मन यह मनोभाव और भावना के साधन का भी उपयोग करता है । मन को अथवा तो चित्त के संस्कारों को अनेक जीवन तक जो मोड़ में पट मोड़ने में आये हुए हैं, उसी तरह ही रहना उनको अच्छा लगता है । ऐसे संस्कारों की पकड़ यदि उसमें मनोभाव मिल गये हों तो फिर अधिक जोरदार होता है । इसलिए हमें तो इन सभी असरों में से मुक्त होने के कठिन काम के लिए **भगवान की कृपा का सतत अवतरण होता रहे इसके लिए याचना करते रहना है ।** आलंबन मुख्य है भी सही और नहीं भी

सही । आलंबन से भावना का विकास होता हो तो **भाव** के विकास पर ही लक्ष रखकर आलंबन का उपयोग किया करना और तब आलंबन को मुख्य ही गिने । नहीं तो आलंबन की सनक में पड़ जाना संभव रहता है । सनक यह मूर्छावस्था का परिणाम है और मूर्छावस्था में से हम सरलता से जागृत नहीं हो सकते । इससे आलंबन को शुद्ध रूप से और उसके योग्य उपयोग के लिए ही आधार में लिया करें तो हमारा उदय होगा ।

• • •

जगत की वास्तविकता

॥ हरिः ॐ ॥

कराची,

ता. ४-८-१९४२

स्थूल हमें जकड़कर रखता है, पर उसमें भी urge सहज गतिप्रेरक आवेग है । इससे ही उसका रूपान्तर हुआ करता है और urge है वह उसमें रही हुई चेतना के कारण है । उत्क्रांति की भूमिका रच सकें, इसके लिए ही हमें ऐसी रचनावाला देह मिला है । हमें तैरना सीखना होगा तो पानी के साथ संपर्क आवश्यक है, पर पानी तो जैसे पड़ा है वैसे हम वहाँ पड़े रहा करें तो तो डूब ही जाएँगे, पर वहाँ उस पर रहने के लिए हमें भारी परिश्रम करना पड़ता है और वह कला हस्तगत कर लेनी पड़ती है और उसमें पारंगत हो जाते हैं, और उस पारंगतपन में जब सारे प्रकार की संपूर्ण कुशलता आ जाती है, तब पानी पर मानो वैसे के वैसे पड़े रहने का बना करता है और उसमें ही हमारी पारंगतता की पराकाष्ठा है और उसमें ही हमारी कसौटी, खूबी और कला रही हुई है ।

वहाँ तैरने की भूमिका रचने के लिए जैसे पानी की आवश्यकता है, वैसे हमें यह सारे जगत की भी आवश्यकता है, जिससे हम उस साधन से ज्ञान प्राप्त कर सकें और उनके उनके संपर्क से हमारे ज्ञान में वृद्धि भी हो सकती है । इतने

तक ही यह सब reality - वास्तविकता है और उस अर्थ में उसके बाद नहीं है, वह भी हम तक ही । उसके बाद भी उसका अस्तित्व नाश नहीं होता । ऐसी स्थिति प्राप्त होने पर हम में के उन उन तत्त्वों का भी वैसा रूपान्तर होता ही रहता है, और उस भाव के योग्य वे बनते हैं ऐसा मुझे तो लगता है । यह सब समझाना कोई मुझे रास नहीं आता । यही सत्य है ऐसा दावा नहीं है पर जो कुछ लगता है वह नम्रता से बतलाया है । शास्त्र की समझ अनुसार कितना सत्य है वह मैं नहीं जानता । **मैंने तो उसकी कृपा से जीवन में अनुभव को ही शास्त्र गिना है ।** तथापि यही सत्य है और अब उससे परे का सत्य है ही नहीं ऐसी समझ की पकड़ में भी नहीं रहता । भगवान अन्य समझाएँगे तो वह भी अपनेआप ही लगेगा ।

● ● ●

मृत्यु

॥ हरिः ॐ ॥

साबरमती आश्रम,
ता. ००-७-१९३९

हमारी जैसी भावना होगी, वैसा अनुभव हमें देरसबेर हुआ करेगा । इसके अलावा, हमारी जैसी मान्यता होगी वैसी ही रहेंगे या होनेवाले हैं । प्रत्येक मनोभाव भावनागत है । इससे हमारी जिस प्रकार की भावना होगी, उस प्रकार के हमें प्राप्त प्रसंगों पर से भावनाएँ उत्पन्न होंगी । इससे, संसार में भारी उल्कापात प्रत्येक क्षण हो रहा है, उस तूफान की लहरें हमारे साथ टकराये बिना नहीं रहेंगी । हम कितनी ही बड़ी रक्षा की दीवार खड़ी करेंगे तब भी जगत की भयंकर छाया की परछाईं हम पर गुजरे बिना रहनेवाली नहीं है । एक दृष्टि से देखें तो मालूम होगा कि जगत यह मृत्यु का मुलक है । हम लंबा विचार करके देखेंगे तो समझ आएगा कि धूप से धधकती धरती या हरियाली भूमि इन दोनों के एक एक रज में कोई चेतन की राख ही भरी पड़ी है ।

जगत की मिट्टी का एक अणु भी ऐसा नहीं है कि जिस पर मृत्यु की छाया न हो । हम हवा की जाँच करें । वैज्ञानिकों ने परमाणु और इससे भी छोटे 'एटम' आदि खोजे हैं और वे कहते हैं कि उन सभी में स्वयं प्रकाशित शक्ति भरी है । मृत्यु की भयंकर गति में आ गये स्थूल शरीरों का चैतन्यतत्त्व यों

हवा में रहा, तो वह भी मृत्यु की ही छाया नहीं तो दूसरा क्या है ? फिर देखो आकाश ! मृत्यु के नजदीक रहे मनुष्य को पूछकर देखना कि मानवता की अंतिम शांति असीम आकाश में किस तरह पसरी हुई है ? आकाशतत्त्व में जीवनमात्र की आखरी स्थिति फैली होती है, रहती है, इसे हमें कोई महायोगी समझा सके, पर उसकी झाँकी कोई भी साधु-हृदय को ध्यान द्वारा हो सकती है ।

फिर रहे प्रकाशतत्त्व और पानी । उन दोनों में भी पार बिना की चेतनाशक्ति भरी हुई है । वह एक समय पर जगत में **जीव**रूप में व्याप्त थी । पूरे विश्व में प्रतिक्षण नया सर्जन होता लगता है । उसका रहस्य यह है कि एक ही परमतत्त्व के रूपरंग बदलते रहते हैं । तत्त्व तो वही का वही रहता है । उसके अंदर कभी बदलाव या विकसित होना रहा हुआ ही नहीं है । जो परम तत्त्व सर्वत्र फैला हुआ है, वह स्वयं सिद्ध और संपूर्ण है । उसके अंदर बसी हुई गूढ़ शक्ति के कारण परिवर्तन हुआ करता है ।

ऐसे निरन्तर परिवर्तन को हम जगत कहते हैं । हम जो कुछ देखते हैं और दूसरी तरह अनुभव करते हैं, वह सब मृत्यु से लपेटा हुआ है । मृत्यु में से उद्‌भवित होकर मृत्यु में मिटता है । मनुष्य ने जिसे *मृत्यु* कहा वह इस बदलाव के अलावा दूसरा कुछ भी नहीं है । अभी जो पल बीत रही है और भूतकाल की अनंत छाया में जो जा रही है,

वह भी मृत्यु पाती है। एक ही स्थिर, शांत, अचिंत्य, अगम्य ऐसा परम तत्त्व क्षण क्षण में परिवर्तन प्राप्त कर रहा है। इस परिवर्तन को हम मृत्यु कहते हैं।

मृत्यु का स्वरूप जगत ने मान लिया है वैसा भयंकर है ही नहीं। मनुष्य ने अपनी निर्बलता के क्षण में उसे भयानक वस्तु के रूप पहचाना। और उस विचार या भावना को उसने पोषा किया है। इसलिए मृत्यु, मनुष्य की नजर से खूब भयंकर दीखती है, पर उसमें सही वस्तु विषयक अज्ञान ही है। प्रतिक्षण बदल रहे विश्व में जीवन जितना ही महत्त्व रखती वस्तुस्थिति मृत्यु में है। जीवन और मृत्यु, उन दोनों का वास्तविक स्वरूप एक ही है। जहाँ मृत्यु है, वहाँ ही नूतन जीवन भी है और जहाँ जीवन है, वहाँ मृत्यु का परिणाम भी निश्चित है। अथवा ऐसा भी कह सकते हैं कि प्रत्येक वस्तु हर पल में रूपान्तरित होती जाती है। यानी कि उसका पुराना रूप नष्ट होता है और उसी पल नया जन्म लेता है। अर्थात् मृत्यु और जीवन एक ही जीवन तत्त्व के दो दर्शन हैं, पर उसमें हम ने-मनुष्य ने आकाश पाताल का भेद कर डाला है और मृत्यु जैसी एक सामान्य और स्वाभाविक स्थिति को हम ने अप्रिय कर डाला है। इस पर से समझ सकते हैं कि अभी जगत कितनी अज्ञान दशा में पड़ा है। मृत्यु तो जीवनतत्त्व जितना ही मंगलकारी है।

मृत्यु के स्वरूप को ऐसा भयंकर मानने के मूल में अगम्य विषयक मनुष्य का भय रहा हुआ है। मनुष्य अनजाने

में कूदने से अपने स्वभाव के अनुसार डरता है । मनुष्य मृत्यु का सच्चा दर्शन करने का प्रयत्न करता है, पर उसकी लेशमात्र भी झाँकी नहीं होती, तब उसे भयानक रूप से पुकार उठता है । जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात् **जीव** का क्या होता है, वह उसे समझ में नहीं ही आता, तब विविध कल्पना में से जीवन का क्या होता है, वह उसे समझ में नहीं ही आता, तब विविध कल्पना में से जीवन को पलटनेवाली मृत्यु की स्थिति को मनुष्य धिक्कारता है और उससे भय पाता है । **जीव**मात्र को मृत्यु का भय रहता हैं । उस अगम्य परिवर्तन से—न कल्पना कर सके ऐसे परिणाम से—हमेशा काँपता रहता है । फिर, मनुष्य एक की एक स्थिति में रहने का आदी है । इससे, उसे दूसरी स्थिति में बदलना पसंद नहीं आता । उस बेचारे को समझ नहीं आता कि जैसे जन्म यह विश्वक्रम में एक स्वाभाविक स्थिति है, वैसे मृत्यु भी है । वह जानता है कि 'नाम उसका नाश' है, किन्तु फिर भी वह सत्य की सदा ही अवगणना करके स्वयं जीता है ।

मृत्यु प्रति मनुष्य को हमेशा नापसंदगी और उसके प्रति डर रहा करता है, उसका कारण उसकी अपरिवर्तन-शील मनोदशा है । संभव हो वहाँ तक परिवर्तन हुए बिना एक की एक स्थिति में पड़े रहना मनुष्य के स्वभाव को पसंद है । उसकी उस इच्छा के आड़े मृत्यु आती है । हम जानते तो हैं कि समग्र सृष्टि में सभी परिवर्तन हो रहा है, तब भी

हमारे आसपास के जगत को परिवर्तन बिना का रखना चाहते हैं । इस स्थिति में **मृत्यु यानी अनिवार्य परिवर्तन,** यह परिवर्तन हो उसमें मनुष्य का कल्याण हो ऐसा हेतु समाया हुआ होने पर भी ऐसे योग्य परिवर्तन का मनुष्य सत्कार नहीं करता, क्योंकि उसने अपनी परिस्थिति में अपने जीवन की विविध शक्ति खर्च की है, या खर्च करने की योजना की है, उसमें से विविध प्रकार का रस लिया है और बहुत सारी आशाएँ रखी हैं, वह सब एक अनजाने क्षण में संपूर्ण अदृश्य हो जाय यह मनुष्य किस तरह सहन कर सकता है ?

हमारी जीवनशक्ति पर पड़े हुए संस्कार अनुसार हम ने जगत की अपार वस्तुओं में आसक्ति रखी, उसमें रस लिया, उसे अपना सर्वस्व मान बैठे, परन्तु उसके स्वाभाविक क्रम अनुसार वह परिवर्तन पाती है, यह हम सहन नहीं कर पाते, **सतत परिवर्तन पाने की सही और अनिवार्य जगत की परिस्थिति का अस्वीकार करने की मनोदशा में केवल अज्ञान और अंधापन ही है ।** हड्डी औऱ चमड़े के शरीर ने खड़े किये तरंगी जगत में हमेशा रस लेने की आदत पड़ गई होने से जो सही वस्तु है, उसका भान भूल जाते हैं और परिणामस्वरूप यह दशा होती है ।

मृत्यु के पीछे शोक करने की वृत्ति तो कोरी आसक्ति ही है और अनजाने में गहरी स्वार्थवृत्ति भी हो । मृत्यु पानेवाले के साथ बंधी हुई आसक्ति हमारी भावनाओं को

जागृत कर डालती है और अनेक बार तो हम अपने किसी भी प्रकार के स्थूल या सूक्ष्म स्वार्थ का छेदन स्वजन के मृत्यु में देखते हैं । इसलिए हम अपने स्वार्थ के लिए ही रोते हैं - यद्यपि इतना आंतरदर्शन हम में न होने से उसका भान भी हमें तब जागा नहीं होता है । हम तो ऐसा मानते हैं कि हमारा दु:ख हमारे स्वजन के प्रति सच्चे प्रेम का परिणाम से है । यों, हमारी उस शोक की भावना में सात्त्विकता नहीं है । ऐसी शोक की भावना में कुछ नया सर्जन नहीं होता है, यानी कि नकारात्मक भावनाओं से जीवन का कोई विकास नहीं होता है । इसलिए ही तो हमें अपनी रचनात्मक भावनाओं द्वारा जीवनविकास साधने का रखना और हमारी नकारात्मक भावनाओं के प्रति यदि हम सच्ची तटस्थता रख सकें तो उसका भी सदुपयोग हो सके ऐसा हमें सूझता है । पर वैसी तटस्थता हमें आध्यात्मिक मार्ग की शुरूआत में नहीं होती । इसिलए, रचनात्मक भावनाओं द्वारा जीवनविकास साधने का मार्ग अधिक सरल और प्रारंभ के लिए सहीसलामत है ।

मृत्यु अर्थात् एक महान अनिवार्य परिवर्तन । ऐसा देखने पर यदि गहराई से सोचें तो हमारे आगेपीछे का सब कुछ परिवर्तनशील है । 'संसार' या 'जगत' का एक अर्थ ही 'जो सरके, जो जाये या चले वह' । फिर इन सब में से जो परिवर्तनशील नहीं है ऐसा हम ग्रहण क्यों न करें ? कुछ नहीं तो ऐसा ग्रहण करने प्रति हमारी दृष्टि केन्द्रित क्यों न रखें ?

या फिर आँख रहते हुए दीया लेकर हमें कुएँ में ही गिरने का रखना है ? जिसे बिलकुल भी समझ न हो, वह भले जगत के गडरिये प्रवाह में खिंचते जाएँ । उसका दोष नहीं है अथवा कम है, ऐसा एक तरह से कह सकते हैं, पर हम एक बार समझें और फिर भी उसके बाद जीवन में उतारने का प्रयास न करें तो हम कैसे कहलाएँगे ? प्रत्येक क्षण में हम जीवन को चेतन में से मृत्यु में ले जा रहे हैं । उस दशा से चलो हम सब भगवान की कृपा से बच जाने का निश्चय और प्रार्थना करें ।

● ● ●

नामस्मरण

॥ हरिः ॐ ॥

कराची,

ता. १२-११-१९४०

नामस्मरण यह तो हमारा एक मुख्य अंग है ही । यह तो हमें धनंजय के गांडीव की तरह, पतितपावनी गंगा की तरह अथवा बर्फ को पिघलानेवाले सूर्य की किरणों की तरह है । जहाँ नदी समुद्र को मिलती है, वहाँ संगमस्थान पर कितनी ही नदियाँ जोर से समुद्र में अंदर तक पैठ जाती है । उसी प्रकार नामस्मरण सरिता की असर है । यह उपमा भी ठीक नहीं है । नदी की प्रचंड बाढ़ में बहते मनुष्य को कोई लकड़ी मिल जाए उसके जैसा, भूख से व्याकुल हुए को अन्न की प्राप्ति जैसा । तृषित कंठ को जल की ठंडक और मिठास जैसा, कई कठिनाइयों को पारकर अंत में अभिसारिका को मिलनेवाले प्रेमी की तरह, कंजूस के धन की तरह अथवा लाड़ले पुत्र की तरह, हृदय की हिम्मत जैसा, अकाल में वर्षा जैसा, कांक्षी को इच्छित वस्तु प्राप्त हो वैसा, सत्संगी को संगी मिलने जैसा अथवा श्रामित को आराम जैसा है, किन्तु यह तो सारा साहित्यिक वर्णन कहलाएगा । मिठाई का वर्णन पढ़ने या सुनने से वह मुँह में थोड़े ही आ जाती है ? ऐसे वर्णन से हमारी तृषा तृप्त नहीं हो सकती ।

नामस्मरण, यह हमारा एक प्रकार का जीवन है । किसी दिन भोजन किए बिना रहे जी सकते हैं, पर जिसे भगवान

की शरण में जाना है, वैसे को नामस्मरण के बिना एक दिन भी नहीं चलना चाहिए । **स्थूल रूप से, प्रत्यक्ष रूप से, नामस्मरण के बिना स्थूल जीवन चल सकता है पर प्रभुमय जीवन के लिए नामस्मरण प्राण समान है ।** वह न हो तो कुछ भी नहीं है । अर्थात् ध्यान आदि करते हुए भी उसका सविशेष ध्यान रखना तो हम में प्रधान रूप से है ही । किन्तु जब से हमें उसका विशेष ख्याल आए, तब से इस विषय में उत्साहित होकर, लग जाएँ तो अच्छा ही है । भगवान के नाम की महिमा तो अपरम्पार है । नामी से भी नाम बढ़कर हो जाय, यों कहा जाता है ।

भगवान के नाम की महिमा अपरम्पार है । उसका कारण यह है कि हमारे में रहे हुए तत्त्वों को विकसित करने की अजब शक्ति नामस्मरण में है । जितना अधिक भगवान का स्मरण रहे, इतना अधिक भाव हमारे में अपनेआप उसके प्रति बढ़ता है । क्योंकि नाम के पीछे जीतेजागते संकल्प का बल जो होता है, वह प्रेरणात्मक बल नामी की भावना को हमारे में मूर्तिमंत कर देता है । किसी भी काम को करते समय यदि हमारा नामस्मरण रहा करे तो वह काम भगवान के एक साधन रूप में ही करते हैं, वह ऐसी भावना हम में गहरी उतरती ही जाती है, क्योंकि हमें गहरा भान तो नामस्मरण के कारण रहता है कि हम वह काम करते हुए भगवान की शक्ति का आह्वान जानेअनजाने कर रहे हैं । इससे वह शक्ति

थोड़ी-बहुत भी हम में उतरेगी ही । उस शक्ति को जब हम नामस्मरण से ज्ञानपूर्वक जाग्रत करते हैं, तब वह शक्ति फिर अधिक शक्ति के लिए हमारे अंदर भूख जगाने लगती है, तमन्ना जगाती है । हमारे जीवन में और जीवन के प्रत्येक कार्य में अपनी सुगंध फैलाती है और अपने प्रति प्रेम जगाती है तथा पैदा करती है । इसप्रकार, ब्याज का भी ब्याज जुड़ता ही जाय तो जैसे पूँजी कई गुना बढ़ जाती है वैसे नामस्मरण एक छोटा झरना अपने जैसे अनेक झरनों को अपनी तरफ खींचकर अपने में समाविष्ट कर एक बड़ी नदी बन जाता है, जो अंत में भगवानरूपी अनंत सागर में समा जाता है । इस नामस्मरण की महिमा का वर्णन मात्र अनुभवी ही कर सकता है । इसका आनंद तो मात्र इसे लूटनेवाले ही चख सकते हैं । इसकी महिमा विषयक एक भजन है । उसमें लिखा है —

'गाया तुलसीदास ने इसे, भक्तजनों ने लिया;
रंक वह उसे मैं क्या जानूँ, मैं तो छोटा बालक ।'

नामस्मरण की महिमा संसार में अनेक बार साबित हो चुकी है । यह कोई कपोलकल्पित नहीं है, पर प्रसिद्ध बात है । अनेक संतभक्तों ने उस पर जीवन न्योछावर किये हैं । और वर्तमान में ऐसे हैं कि जिनका जीवन नामस्मरण से धन्य हुआ हो । महात्मा गाँधीजी ने भी स्वयं को प्राप्त शक्ति का आधार नामस्मरण है, ऐसा अनेक बार घोषित किया है । वे तो शरीर के सुख के लिए भी नामस्मरण का उपचार बतलाते थे, वह

प्रसिद्ध बात है । यों नामस्मरण एक रामबाण इलाज रूप में सिद्ध हुई वस्तु है । वह प्रारंभ में दिल को ओप चढ़ाता किन्तु बाद में पूरे आधार का दिव्य रूपान्तर-परिवर्तन वह करा देता है । ऐसी अवस्था में पहुँचने से पहले भी वह दुःखी दिल को आराम देता है, उसकी तप्त भावनाओं को शान्त करता है, उसका प्रेम विकसित करके तथा गहरी करके प्रेमी में परिवर्तन कर देता है । वह सब कुछ है ।

अमुक प्राचीन भारतीय संस्कृति विषयक अभिमान करनेवाले कितने ही यों कहते हैं कि वेद के समय में विमान भी थे और इंजन भी थे । सभी कलाएँ और शास्त्र वेदों में लिखे पड़े हैं, वे ऐसे दावे करते हैं । किन्तु नामस्मरण के विषय में तो ऐसे दावे का प्रश्न ही नहीं रहता । सारी वस्तुओं का समावेश इसमें हुआ है और भिन्न भिन्न देश के तथा काल के असंख्य संतों का इतिहास उसका साक्षी है । जगत में दिखाई देनेवाली सारी समृद्धि भी उसके प्रभाव के सामने धूल के समान है ।

ऐसा नामस्मरण जब हमारे हृदय में लगातार होने लगे, तब हमारा सूर्य उगने लगा है और हमारे सच्चे जीवन का प्रारंभ होने लगता है, ऐसा गिन सकते हैं । जिसे हृदय में जिज्ञासा और तमन्ना जागी होगी, उसे ऐसा ही होगा । जिसे ऐसी वृत्ति भी जागी है, उसे भी यथाश्रम से प्राप्त होगा ही, इसमें भी शंका नहीं है । भगवान अपना प्रागट्य उद्‌भव होने

हेतु हम से अधिक आतुर हैं, यह बात निश्चित है । इसीलिए, हमें अधिक जागृति और देखभाल रखने की आवश्यकता है, क्योंकि हमें ऐसी भूमिका के निर्माण में लगे ही रहे हुए होना चाहिए । हमारे जीवन में कोई अन्यथापन नहीं रहना चाहिए ।

बीज बोने के लिए जमीन को जिस प्रकार एकरस कर दी जाती है, वैसे हमें करते रहना है । सचमुच में तो भगवान को प्रकट होने जैसा रहता ही नहीं है । अमुक ढंग से हो तो वे अपनेआप प्रकट होंगे ही अथवा प्रकट होते रहते हैं, किन्तु हमारे जीवन का क्रम और जीवन की दृष्टि का क्रम ये दोनों विपरीत दिशा के होते हैं । मूलतः इतनी ही बाधा है । एक जगह गाया है, *'संतकृपा से छूटे माया, देखो काया निर्मल होती रे !'* किन्तु वहाँ भी संतकृपा अर्थात् भगवान की कृपा, उसकी कृपा हो, मिले तभी ऐसी कृपा उससे मंत्ररूप में प्राप्त होनेवाली ही है, वह निश्चित बात है । मात्र हमें सभी कार्यों में अपना मन लगाकर, यज्ञरूप से उसकी शरणागति से किया करें और उसमें विश्वास रखें कि योग्य समय पर योग्य करेंगे ही । बस इतना हुआ इससे हमारा काम निपटा । ऐसा हम हृदय से निश्चित रहा करके अपने हिस्से का जो कुछ भी हो, उसे पूरी दक्षता से किया करें और उसमें किसी को भी कहना बाकी न रहे इस ढंग से करें । ऐसा आचरण किया करें तो हमें भी आराम है ।

● ● ●

मंतव्यों की पकड़

॥ हरिः ॐ ॥

त्रिचि,

ता. ९-४-१९४३

हमारे मन में परम्परागत, संस्कारगत, अभ्यासगत, बहुत कुछ श्रीप्रभु विषयक ख्याल और उनके दैवी गुणों की कल्पनाएँ पड़ी हुई रहती ही होती हैं । श्रीभगवान के दैवी गुणों की धारणा जीवन को विकासरूप है । श्रीभगवान के तो कोई गुण नहीं है । प्रत्येक भक्त को श्रीभगवान के अमुक अमुक गुण का अनुभव हुआ, इसलिए उसने श्रीभगवान में वैसा गुण है ऐसा माना और अमुक गुण का अनुभव हुआ इसलिए उसने श्रीभगवान में वैसा गुण है ऐसा माना और यथार्थरूप में माना । जैसे कि किसी भक्त को भगवान स्वयं 'अंतर्यामी' हैं, ऐसा अनुभव हुआ, इसलिए भगवान का नाम अंतर्यामी रखा । भगवान के जितने जितने नाम हैं, उन प्रत्येक नामों के पीछे जीवन में उस प्रकार का अनुभव रहा हुआ है ।

बाकी, इससे अतिरिक्त रूप से भगवान में वैसा कुछ नहीं है, परंतु यदि किसी साधक ऊपर के प्रकार का अनुभव के ख्यालों को भूतावेश की तरह लिपटना ही रहा करे और श्रीभगवान की चैतन्यशक्ति में बस इतना और ऐसा ऐसा ही हो सके उसे ही एकमात्र पकड़ करके बैठा रहे, तो वैसे साधक की प्रगति आगे होनी संभव नहीं है । वे ख्याल भले ही सत्य हों, किन्तु यदि उसे केवल भिन्न लें और अकेले गिनें तो उसमें कुछ

मिलावटवाला रहा हुआ है । जैसे कि श्रीकृष्ण भगवान की कल्पनाएँ अथवा अन्य अवतारों की समझ । वे वे ख्यालों में ये उस काल के मनुष्यों के अपने अनुभव, संस्कारों की छाप है सही, परन्तु उसके साथ उनकी मर्यादा भी रही हुई है । उसमें संपूर्ण सौ प्रतिशत सत्य है ऐसा नहीं है । और यदि कोई साधक **जीव** जो सत्य निम्न भूमिका का सत्य है, उसे ही मुख्यतः मानकर उसे ही योग्यरूप से स्वीकार करके उसमें जकड़ा रहे तो वैसी जीवात्मा उतने में और वैसे में ही जकड़ा रहनेवाला है ।

प्रभु सत्य है यह बात सच है, परंतु कहाँ कहाँ और कितने कितने अंश में किस किस भूमिका में वह कितना सत्य है, यह एक अनोखा यथार्थ है । साधक के जीवन की भूमिका का जैसे जैसे परिवर्तन होता जाएगा वैसे वैसे सत्य का अनुभव अधिक विस्तारवाला, उदार और शुद्धतम होता जाएगा । सभी परिस्थितियों में सत्य किसी एक की एक स्थिति का रह ही न सके, (भावरूप से भले रहा हुआ हो) और परिणामरूप से तो एक का एक नहीं रह सकता होता । सत्य तो नया नया ही हुआ करता है । सचमुच में तो सत्य की मर्यादा ही नहीं है । मनुष्य**जीवों** उसे मर्यादा में बद्ध करके ही, उस तरह ही जानने, समझने, अनुभव करने के आदी होते हैं ! उसके बिना सत्य की स्थिति को वे स्वीकार कर सकने की दशा में भी नहीं होते हैं । हम यदि हमारी ऐसी आदतों में से अलग होना न कर सकें तो हमारे जीवन का विकास रुंध सकता है ।

संपूर्णतः निराग्रही, निरासक्त और हृदय से खुलकर रहा करना, इसके लिए ही, अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है । फिर, कहीं कोई मान्यता, गुण, स्थिति में या साधना के होते रहते अनुभव में भी उसे सर्वस्व गिनकर बद्ध नहीं हो जाना है, किन्तु उसमें भी तटस्थ रहते हुए, खुलकर रहा करके, होते जाते अनुभवों का उपयोग किया करें यही साधक के लिए श्रेयस्कर है । शास्त्रों के निर्णय, श्रीभगवान विषयक समझ और वेदांत का ब्रह्म विषयक बुद्धि से समझा हुआ ज्ञान और उसमें से उद्‌भवित सद्‌विचार आदि में जो सत्य रहा हुआ है, वह योग्य है, परन्तु उसमें भी उलझ पड़ना नहीं है । **सदाचार यह आध्यात्मिक जीवन की मूल नींव है ।** उसके बिना आध्यात्मिक जीवन की संभावना ही नहीं है ।

तथापि साधक अपनी अंतरात्मा की साधना में गहरे से गहरा जैसे जैसे अनुभव से दृढ़ होता जाता है, वैसे वैसे उपरोक्त प्रदेश में भी वह बद्ध नहीं रह सकता है । एक समय में सदाचार वह उसके जीवन की मूल बुनियाद थी और यथार्थरूप से सत्य था और वही सर्वस्व कुछ था, परन्तु आगे जाने पर अब उस प्रदेश का कार्य पूर्ण होते उस प्रदेश पर पहले जितना जीवन्त झुकाव उस **जीव** का रहता था, वह जीवंत झुकाव का प्रदेश अब कोई उच्चत्तर दशा में मोड़ लिए हुआ होता है इतना ही । और वहाँ पर भी वह अपनी ज्ञानभक्तिपूर्वक की जीवंत तटस्थता रखा ही करता होता है ।

● ● ●

नम्रता

॥ हरिः ॐ ॥

साबरमती आश्रम,
ता. ००-७-१९३९

जो गरीब बकरी से भी अधिक गरीब है, पर जिसके अंतर में सिंह जितनी शक्ति भरी हुई है, वह सच्चे अर्थ में नम्र है । नम्रता यह हृदय का शायद सर्वोच्च सद्‌गुण होगा, इससे हृदय पारदर्शक बनता है । संत के गरीब और पारदर्शक हृदय के परिचय में आने से नम्रता के यथार्थ दर्शन होते हैं ।

नम्रता बुद्धिपूर्वक विकसित नहीं की जा सकती । वह तो अपनेआप ही हृदय में से उग निकलती है । उसके प्राकट्य के अनुकूल भावनाओं के परिशीलन से हम नम्र हो सकते हैं ।

जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति में हमेशा अंतर्गत बढ़ रही हुई 'मैंपन की' वृत्ति होती है । संसार के विभिन्न अनुभवों से जब ऐसा अंतर में समझ आता है कि जो जो कुछ होता है या हो रहा होता है, वह हमारी नहीं, पर ईश्वर की इच्छा के ही अधीन है, तब संसार के प्रति का 'मैंपन' मंद पड़ता है । जगत के प्रति गहरी उदासीनता और वैराग्य की भावना आती है । **श्रीभगवान की इच्छा के बिना एक पत्ता भी हिलता नहीं ऐसे ज्ञान से ही सच्ची नम्रता जन्म लेती है,** क्योंकि यों ज्ञान होता है, तब हमारा 'मैंपन' से प्रेरित होकर फिर हम कुछ करते नहीं हैं और धीरे धीरे शून्यता विकसित होती जाती है ।

शून्यता यह नम्रता का माप है । शून्यता अर्थात् अहंता का सर्वांश में लय । जिसमें लेशमात्र भी अहंता या अभिमान नहीं रहा उसे ही नम्रता ब्याहती है । इसलिए नम्रता तो **जीव** की ऊर्ध्वगति और स्थिति के परिणाम का एक लक्षण है । नम्र से नम्र रहना मुझे क्यों पसंद है, उसका कारण तुम्हें अब समझ आएगा । इसी कारण से आश्रम में मैं छोटे से छोटे के पैरों में पड़ता हूँ और अन्य ऐसे कितने ही कार्यों और व्यवहार में कहीं भी अहंता को सिर उठाने का अवकाश नहीं देता । अभी तक जीवन में आये मौके को उसमें रही अहंता की भावना निर्मूल करने में खर्च किये हैं । यानी कि साधन के रूप में उसका उपयोग किया है ।

साधुहृदय को ढँककर रक्षा करनेवाले वस्त्र जैसी नम्रता है । उसके बिना की साधुता, धार्मिकता, ज्ञान, विद्या, यह सब मर्यादाहीन और लज्जाहीन, विवेकहीन लगता हैं । नम्रता वह तो हृदय का प्रकाश है । जो नम्रता जीवन की साधना के अनुभव से प्रकट होती है, वह नम्रता तो प्रचंड शक्तिरूप है । वह तो शक्ति का एक पहलू है । शक्ति स्वयं ही नम्र से नम्र और उग्र से उग्र है । यदि वह स्वभावतः नम्र से नम्र न हो तो जड़ दिखते पदार्थ में वह कहाँ से मिल गई होती ? ऐसी नम्रता जब प्रभुकृपा से साधक को प्राप्त होती है, तब वह स्वयं रज की भी रज नहीं है और किंकर का भी किंकर है, ऐसे दासानुदास का ज्ञानभक्तिपूर्वक का भाव प्रकट होता है,

उस समय नम्रता उसके जीवन का सहज गुण बन गया होता है, परन्तु ऐसा होने से पहले स्वयं सोच सोचकर, समझ समझकर, बार-बार टोक टोककर, अपने आपको समेट समेटकर और सरका सरकाकर नम्रता का भाव विकसित करना पड़ेगा ।

नम्रता का भाव विकसित किये बिना साधना के मार्ग में एक कदम भी वह आगे नहीं चल सकेगा । जिसमें सच्चा नम्रता का गुण है अथवा ऐसे होने की हृदय की जिसकी छटपटी है, वैसे **जीव** को तो जीवनपथ में बीच में आते विघ्नों को पार करने की हिंमत, साहस, तनदिही और उद्योग की भावना अपनेआप उद्‌भव होकर उसे वेग दिया करती है । ऐसे प्रकाश से खींचकर ही साधुहृदय पथ काटते जाते हैं। नम्रता बिना की किसी भी प्रकार की साधना अंधकारमय और अज्ञानमय है ।

नम्रता का गुण विकासित करने के लिए साधक को अपने स्वभाव के अंतर में अनेक बार ज्ञानपूर्वक प्रवेश करना पड़ेगा । वहाँ उसके स्वभाव के हृदय में अनेक प्रकार की अहंताएँ भरी पड़ी हुई हैं। उन अहंता के स्वरूप स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। अहंता स्वयं ही कभी कभी नम्रता का रूप धारण करके अपना वेश पलटकर छिपा के रखती है । उसकी चालबाजी की किसे समझ पड़े ? परन्तु जिसे साधना के निरन्तर प्रयत्न में ही लगे रहने का सूझ गया है, वैसा **जीव** उसमें से उबरे बिना नहीं रहता ।

सभी इन्द्रियों और मन तथा प्राण समग्ररूप से जब मौन रखते हैं, तभी नम्रता का सात्त्विक गुण जीवन में साकार होता है । जीवनविकास के योग्य ऐसी नम्रता का सहज, सतत परिशीलन से जीवन अपनेआप साधनामय बन जाता है और ऐसा होते होते कोई परम गूढ़ अंतर शक्ति के प्रदेश में मन प्रवेशकर वहाँ प्रशांत होता है ।

● ● ●

विरूद्ध मतवादी के प्रति सहिष्णुता

॥ हरिः ॐ ॥

साबरमती आश्रम,
ता. १-२-१९४०

हमें दूसरों के कारण अपना स्वमत आग्रह करने का प्रयत्न छोड़ देना चाहिए । सामनेवाले को बेकार अथवा मूर्ख गिनकर उसका मन में तिरस्कार नहीं करना है, किन्तु हमें उसके दृष्टिबिन्दु को समभावपूर्वक समझने का प्रयत्न करना चाहिए । हमारे प्राणप्रिय आदर्शों को या आदर्श व्यक्ति का या उनके विचारों का कोई विरोध करे यह हँसकर देख लेना कठिन है, पर उसमें ही आध्यात्मिक जीवन जीते मनुष्य का दूसरों से बढ़ियापन रहा हुआ है, 'क्या होना चाहिए और क्या है', इन दोनों के बीच की विसंगति के सामने वह बगावत नहीं करता । वह तो जीवन का स्वीकार करता है । इसका अर्थ ऐसा नहीं होता कि वह वस्तुस्थिति के अधीन हो जाता है । वह किसी के असहाय होकर अधीन नहीं हो जाता है पर उस उस परिस्थिति का योग्य परिपाक होने देता है । तथापि वापिस वह वस्तुस्थिति का अस्वीकार करता है, उनका भी हँसते मुख से स्वीकार करता है ।

जो एक जीवनमार्ग के विरुद्ध दूसरा जीवनमार्ग खड़ा करते हैं, उनके जैसा क्षोभ या निराशा उसे नहीं होते । इससे वह किसी के प्रति—परिस्थिति या व्यक्ति प्रति—असहिष्णु

नहीं होता । वह तो समानेवाले को अपने जितना ही प्रामाणिक और निःस्वार्थी मानता है । जो धर्म अमुक एक जन के प्रति पक्षपात करनेवाले ईश्वर को मानता नहीं है अथवा जो धर्म किसी शत्रुता रखनेवाले संहारक देव को मानता नहीं है, परन्तु विश्वव्यापी प्रेम की भावना को ही मानता है, वह धर्म तो हमारे पास ऐसी अपेक्षा रखता है कि कोई हमारा विरोध करे, तब हम घीरज न खो बैठें और जिसके साथ हमें विरोध हो, उसके प्रति भी हम नम्रता से और आध्यात्मिक वृत्ति से व्यवहार करें । हमारा यह स्वभाव ही हो गया है कि जो कोई हमारे मत को न मानता हो, उसे हम विरोधी या अलग मान लेते हैं और यदि कोई हमारे जैसी मान्यता न रखता हो, उसे शायद मूर्ख या ऐसा अन्य गिन लेते हैं, अथवा ऐसा अन्यथा भाव रखने के लिए ललचाते हैं ।

किसी व्यक्ति के अभिप्राय अमुक प्रकार के ही क्यों है और उसके द्वारा वह हमें क्यों चिढ़ाता है, इसको समझने के लिए उस व्यक्ति की पूर्वभूमिका, प्रकृति, शिक्षा और ऐतिहासिक (सांसारिक और व्यावहारिक) परिस्थिति समझें तो बहुत मदद मिले । सामनेवाले व्यक्ति का स्वभाव और दृष्टि समझने से हम उसे समझ सकते हैं, इतना ही नहीं, किन्तु हम उसका 'समझ-आधार' आंक सकते हैं । **कैसे भी दुष्ट से दुष्ट व्यक्ति में भी अच्छा अंश रहा हुआ है । उस सद् अंश का दर्शन हमें यों करने से हो सकते हैं ।**

पुराणों में रावण और हिरण्यकशिपु को अनिष्ट के अवतार कल्पे हुए हैं । तथापि उन्हें मोक्ष के लायक गिनें हैं, क्योंकि वे वीरत्व की अपनी समझ अनुसार जीवन बिताने सतत और वीरतापूर्वक प्रयत्न कर रहे थे । रावण के फौलादी पहरे के नीचे और सीता को अपने अधिकार करने और राम को हराने के उसके प्रबल प्रयत्नों के पीछे भी धड़कता हृदय और एक दृष्टि से देखें तो उमदा भावनाएँ ही दिखाई देती हैं । सीता के व्यक्तित्व के लिए उसे अद्‌भुत मान था । वह राम का कट्टर दुश्मन था, परन्तु हमें **जीव**स्वभाव का लक्षण याद रखना चाहिए कि गहरा बैर हमेशा किसी न किसी प्रकार के गहरे घाव के कारण ही जन्म लेता है, फिर भले घाव करनेवाला व्यक्ति कोई दूसरा ही हो ।

आज के देशदेशांतर के विद्वेषों का या हमारे देश के व्यक्तियों या पक्षों के बीच का विरोध और गहरे भेदों का पृथक्करण करेंगे तो उसमें भी यह 'गहरे घाव और गहरा बैर' का सत्य पता चल जाएगा । घायल व्यक्ति फिर देख नहीं सकता कि, 'घाव करनेवाला कोई है और अब मैं जिसे घाव कर रहा हूँ वह फिर दूसरा ही है ।' पर इससे उसमें कोई दूसरे प्रकार के उदात्त तत्त्वों का नाश नहीं होता है । दूसरी दृष्टि से उसमें भी स्वार्थत्याग, निडरता आदि गुणों का दर्शन हमें उसके ही जीवन में हो सकते हैं । जिसे हमने समझने की दरकार नहीं ली है, उनसे हम उच्च हैं ऐसे मिथ्याभिमान से फूल जाने की वृत्ति पर हमें अंकुश रखना चाहिए । जीवन

की सर्जनप्रवृत्ति असंख्य रूप से प्रकट होती है । उनमें प्रत्येक का मूल्य अप्रतिम होता है । कितनी ही बार यह सर्जनप्रवृत्ति महाभयानक संहारप्रवृत्ति द्वारा भी प्रकट होती है । भयानक और अनिष्ट दीखती प्रवृत्ति में भी, इसलिए प्रत्येक प्रकार की प्रवृत्ति में और प्रकृति में इष्ट और अनिष्ट दोनों प्रकार होंगे ही । किसी भी काम करने की रीत में भी ऐसी 'सच्ची' और 'गलत' रीत का संमिश्रण होता है ।

ईश्वर की दुनिया में शुद्ध अनिष्ट जैसी वस्तु ही नहीं है । जब हमें सामान्यतः अनष्टि वस्तु का सामना करना पड़ता है, तब उसमें भी कुछ तो अच्छा है, ऐसा समझकर उसका सामना ही नहीं करना यह जैसे एक प्रकार की भ्रमणा या अयोग्यता है, वैसे उसका सामना करने में तटस्थता खोकर कडुआपन धारण करना यह भी भ्रमणा का दूसरा प्रकार है । ऐसे प्रसंग में हमें स्वीकार और समझपूर्वक की, ज्ञानपूर्वक की, हृदय के उदात्त भावयुक्त साहस की वृत्ति धारण करनी चाहिए । **संपूर्ण समभाव और प्रेमजन्य समझ से हमें जगत के अनिष्टों का स्वीकार करना चाहिए** और उसका आवश्यक लगे वहाँ और आवश्यकतानुसार उतनी ही मात्रा में, सामना करना पड़े तो वह करना चाहिए । यह कुछ किसी पर आभार चढ़ाकर उदारता बताने या किसी को क्षमा करने का प्रश्न नहीं है, किन्तु इन दोनों से अतिशय उच्चतर ऐसी दैवी भावना का प्रश्न है ।

ऐसी दिव्य चेतनाशक्ति तो मनुष्य को जैसा हो वैसा और वैसा ही स्वीकार कर लेती है और वह निर्बल हो या सबल, जगत की दृष्टि से अनिष्ट तत्त्वोंवाला हो या इष्ट तत्त्वोंवाला हो, तब भी उस पर प्रेम रखती है, क्योंकि जिसमें उस दिव्य चैतन्यशक्ति ने वास किया होता है, उनका प्रेम तो स्वयंभू, निरालंब होता है । सामनेवाले के व्यवहार या भाव पर से उसमें परिवर्तन नहीं आता । इस प्रेमशक्ति से ही दुष्ट से दुष्ट चोर लूटेरों अथवा बिलकुल ही मामूली गिने जाते साधारण मनुष्य को वे संत बना पाये हैं । उनके अनेक उदाहरण इतिहास में प्रसिद्ध हैं । इससे जो ऐसे 'सुन्दर प्रकृति' का मनुष्य भी जगत जिसे पाप और गुनाह गिनता है, वह करने किस तरह खींचता है वह समझ लेता है, और अपने मन में वे लोकोत्तर—ज्ञानदृष्टि की—समझ अनुसार उस व्यक्ति के बारे में समझ आती है और इससे उसमें उसके प्रति अन्यथाभाव नहीं जागता है । इस तरह जीवन में उसे जो जो कोई मिलता है, उन सबके साथ—एकदूसरे के बीच कितनी ही विसंवादिता हो तब भी—उसकी भूमिका किसी अलग ही, कोई अजीब प्रकार की रहती है । इससे वह सभी को स्पर्श करता है सही, तथापि स्पर्श नहीं करता ऐसा उसका मानस रहता है ।

● ● ●

आध्यात्मिक क्षेत्र में मार्गदर्शन

॥ हरिः ॐ ॥

कराची,

ता. ४-२-१९४४

प्रिय भाई....

किसी भी प्रकार के साधन या शिक्षा या तालीम बिना मनुष्य शिक्षित नहीं हो सकता। हृदय में रहे गूढ़ से गूढ़ आत्मा का कोमल से कोमल और सूक्ष्म से सूक्ष्म आवाज को सुनने की शक्ति प्राप्त करने के लिए खास किसी शिक्षा की आवश्यकता रहती है ही। यदि कोई ऐसा कहे कि मनुष्यमात्र जन्म से ही अपने आत्मा की आवाज को सुन सके और पहचान कर उसका अनुसरण कर सके तो उसका अर्थ तो ऐसा ही हुआ गिनायेगा कि शिक्षा, अभ्यास, समागम, साधन या योग-उसका कोई अर्थ नहीं है। प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य तालीम पाकर ही विशेषज्ञ बनता है, पर हमारे लोग जो कठिन से कठिन और मुश्किल से मुश्किल ऐसा जो आध्यात्मिक विषय, उसमें ही शिक्षा बिना या प्राप्त किये बिना आत्मज्ञान की बात करने लग जाता है।

'जानते हों न कुछ जानने का तब भी धारण करता
पूरा दिखावा' यह व्याधि मानसिक जनों की।

यदि एकएक क्षेत्र में शिक्षा की आवश्यकता रहती है, तो इस क्षेत्र में तो इससे भी कितने अधिक गुना शिक्षा की आवश्यकता होगी ? इस क्षेत्र की तुलना में तो स्थूल ऐसे शिक्षा क्षेत्र में भी एम. ए. होते सोलह वर्ष हुए और उसमें

जितना समय दिया जाता था, उससे चौथे भाग का भी समय इसमें न दिया जाता हो तो गणितशास्त्र की दृष्टि से गिनें तो इसमें चौसठ वर्ष तक राह देखनी पड़ेगी । उसमें एक का एक ही अभ्यास निरन्तर सतत करना पड़ता था । और one-pointed attention एकाग्र, केन्द्रित ध्यान उसमें दिया जाता था और दूसरी किसी लोलुपता बिना का काल हमारा रहा करता था, तो इसमें भी हमें वैसी परिस्थिति पैदा करनी है । उस काम में उससे अधिक समय और चेतनाप्राण पिरोया करना है और वह तनदिहीपूर्वक, ज्ञानपूर्वक और होशियारीपूर्वक, श्रद्धाविश्वासपूर्वक शरणागति की एकमात्र भावना से ।

हमारे यहाँ एक ऐसी मान्यता फैली हुई है – फिर वह पश्चिम के संस्कार के कारण हो या मनुष्य के अज्ञान के कारण हो – या आत्मा की आवाज सुनने और समझने के लिए प्रत्येक मनुष्य शक्तिशाली है ही, उसमें ऐसा कुछ कठिन नहीं है । उसकी ऐसी विकाससंभावना (potentiality) मनुष्य में रही हुई है, उतनी बात सच है और मनुष्य को ऐसा मानना बड़ा सुविधाजनक लगता है, क्योंकि उसमें एक प्रकार का कोमल कोमल आश्वासन रहा हुआ है । आज के युवानों स्वार्थ, वासना और दूसरी अनेक वृत्तिओं से भरपूर ऐसे मानसवाले होते हैं । ऐसी वृत्तिओं की आवाज को, ऊपर के उसके ऐसे ख्याल से प्रेरित होकर वे आत्मा की आवाज मान लेते हैं, पर उसकी ऐसी समझ उसकी अमुक मान्यता के

आधार पर थी, इतने ही कारण से उसे किसी प्रकार का क्लेश नहीं होगा या कम होगा ऐसे थोड़े ही है ?

फिर, कितनों को ऐसे कष्ट या क्लेश भोगने का आते ऐसा कहते सुना है कि आत्मा की आवाज अनुसार व्यवहार करते संतों को और महात्माओं को अवधि बिना के दुःख सहने पड़े हैं, वैसे वे स्वयं भी सहन कर लेते हैं, यानी कि स्वयं भी वैसे ही हैं, पर यह तो मूर्ख लोगों का भ्रम ही है । ऐसा भ्रम कभी किसी को आत्मा के प्रदेश में नहीं ले जा सकता है । वासना की आवाज और आत्मा की आवाज ये दोनों अलग हैं ।

आज तो लोग स्वतंत्रता में मानते हुए हैं । अपनी बात में किसी को दखल देने का हक नहीं है ऐसा समझते हैं । वैसे मनुष्य भी अपने अन्य किसी भी काम में उस काम के विशेषज्ञ के पास योग्य सलाह, मदद, सूचना लेने जाएँगे । उसकी सलाह अनुसार व्यवहार भी करेंगे, पर यदि ऐसों को कोई उसके जीवनक्षेत्र की बात में ऐसे विषय का जानकार कभी उसे सलाह दे कि 'तुम्हारा ऐसा मानना भूलभरा है और तुम में इस प्रकार का है' तो वह उसे ठीक नहीं लगेगा । सभी भौतिक बात में उन उन विषयों के जानकार की सलाह लेने में वह पूरा मानता है । मात्र इसमें वैसा करना किसी को सूझता नहीं है और किसी को कोई इच्छा भी नहीं होती । ऐसा अंधापन सर्वत्र फैला है ।

हमारा सभ्य समाज बिलकुल पामर बन चुका है । यह समाज जीवन के अन्य प्रत्येक क्षेत्र में उनके विशेषज्ञों की सलाह अनुसार व्यवहार करेगा । यदि डॉक्टर घर में किसी बीमार की तीमारदारी के लिए जो सूचना देकर गया हो, उससे अन्य कुछ भी करने को घर के कोई बुर्जुग व्यक्ति कहे तो यह सभ्य समाज टूट पड़ेगा, 'आप क्या जानो ? डॉक्टर ने ऐसा करने को कहा है ।' मकान चिनना हो या बड़ी बिरादरी को भोजन करवाना हो तो राज (मेमार) या रसोइयाँ की सलाह अनुसार चलेंगे, पर एक यह आध्यात्मिक क्षेत्र की बात में मन को वैसा चलना रास नहीं आता यह हमारी बलिहारी है । उस बात में किसी योग्य गुरु की शरण लेना इसमें सभ्य समाज को छोटापन लगता है । मनुष्य को अन्य विद्या प्राप्त करने के पीछे अपनी शक्ति खो देना योग्य लगता है । उसके पीछे समग्र समय देना उचित लगता है, जब मनुष्य को इस क्षेत्र में वैसा करने पर अनेक बहाने खड़े होते हैं ।

संसार में मातापिता, पूज्य बंधु, संगेसंबंधी–उनका शासन हम स्वीकार करेंगे । हमें राजा कितना भी नापसंद हो, पीड़ाकारी हो, तब भी उस शासन का स्वीकार करेंगे । जीवन के अन्य क्षेत्रों में जैसे कि व्यापारी के यहाँ, सीखने जाते सेठ का शासन स्वीकार करेंगे, हमें वहाँ गुलामी नहीं लगती, पर गुरु का शासन स्वीकार करने में हमें गुलामी लगती है, ऐसी आज के सभ्य लोगों की खूबी है । साधक को पहलेपहले

दैवी और आसुरी इन दो वृत्तिओं के बीच भेद परखना पड़ेगा, यह समझना पड़ेगा और जानने-अनुभव के बाद आसुरी वृत्तिओं को परख परखकर उसके अधीन होना छोड़ना पड़ेगा । इतना ही नहीं, पर दैवी वृत्तिओं का विकास करना पड़ेगा, खिलाना पड़ेगा । उसके शासन तले ही रहना पड़ेगा न ?

दैवी संपत्ति का सतत परिशीलन हुआ करता होने से उसकी अधीनता में रहा करना स्वीकार करना ही पड़ता है । इस प्रकार, मनुष्य को किसी न किसी के कहे में तो रहा करना होता है; पर गुरु के कहे अनुसार करने में संपूर्ण रूप से उससे रहा नहीं जाता । यही सबसे बड़ी खोट है । हम दुनिया में जो कुछ भी सीखते हैं, दूसरों की मदद से ही सीखते हैं । वहाँ खुशी से उसकी मदद लेने में मनुष्य को कुछ नहीं लगता । गुरु की महत्ता स्वीकार किये बिना की शिक्षा सब कुछ बेकार है । एक ही बात में कुछ करना होता है, वही हकीकत कोई भी कहेगा तो हम नहीं करते, पर जिस पर हमें खूब श्रद्धाविश्वास होते हैं, अथवा जिसके बारे में हमें खूब खूब प्रेम, आदरभाव होता है, वह कहता है तो हम तुरन्त करते हैं । वैसे गुरु के वचन मात्र कहने से आचरण में आनेवाले नहीं हैं । उसे आचरण में लानेवाला, गहरा उतारनेवाला, उनका प्रेरणात्मक बल उसमें से लेने की कला भी साधक को सीखनी पड़ेगी । वह कैसे सीखा जाय यह भी एक पहेली ही है न ?

● ● ●

एक पत्र

॥ हरिः ॐ ॥

साबरमती आश्रम,
ता. ७-५-१९४५

प्रिय भाई,

कहीं भी प्रभुभाव बिना का कोई क्षेत्र नहीं है, जिसमें तिसमें हृदय में प्रभु का चिंतन करके प्रवेश करना चाहिए। क्षेत्र कोई भी हो, परन्तु उसे बंधनकर्ता न गिनो। उस क्षेत्र विषयक अच्छेबुरे ख्याल मन में आने न देना। असत्य हो तब भी हमें उसके साथ क्या निसबत ? ऐसा ख्याल रखकर हमें उसमें दिल पिरोना नहीं है। जो कुछ जीवन में 'गलत' दिखाई देता है, वह भी वैसे का वैसा आता नहीं है। उसमें भी कुछ हेतु होता है। उस समय में उन सभी में जिसे हेतु का ज्ञान स्फुरित होता है-जागता है, वैसे को अपने जीवन में आये हुए उस 'गलत' में से भी सत्य का बोध हुआ करता है।

गलत केवल गलत नहीं होता, परन्तु उसमें अच्छा जरूर रहा होता है। इससे, किसी के भी कर्म को उस दृष्टि से हृदय में देखना। जहाँ तुम रहे हो, वहाँ के जीवन का बहाव बदलने का वह सही प्रसंग प्राप्त हुआ है ऐसा जानें। जो भी है, सब प्रभु के भाव से निरा भरा है। इससे, उस तरह प्रेरित होकर सर्व कर्तव्य में वैसा बर्ताव करने का अभ्यास विकसित करना है। प्रभु बुरे को जरूर दंड देते हैं और अच्छे का बदला भी प्रभु पूरा देते हैं। जिस स्थिति में तुम हो, उसका धर्म पूरा

पहचानना । उस स्थिति के योग्य कर्तव्य अपना जानकर उसे किया करें । उसके बिना दूसरी सेवा जो कोई खोजने का प्रयत्न करे वैसे तो भ्रम में पड़ते हैं और बेकार ही भटक जाते हैं ।

सेवा का प्रसंग जीवन में हम जहाँ खड़े हैं, वहाँ मिला ही करता है, इस तरह जो कोई सेवा करना रखेगा वह जरूर तैरेगा । ऐसी सेवा में भी प्रभु का भाव रखकर अपने कल्याण के लिए वहाँ वह सेवा करनी है । नहीं तो उस सेवा 'अच्छा' सात्त्विक काम हो तब भी बंधनकर्ता होगा, क्योंकि उसमें हम गुण से ही प्रेरित रहा करेंगे । 'अच्छा' या 'बुरा' ऐसे सब विचार साधक को छोड़ते रहना ही है । और ज्ञान, प्रेम, भक्ति से उसमें प्रभुभाव दृढ़ करने का हृदय से करें । 'अच्छा' और 'बुरा' जगत में तो सदा रहनेवाला ही है । यदि हम जिसतिस में प्रभु का भाव हृदय से विकसित किया करेंगे तो ही उस उसमें से पार हो सकेंगे । भले कर्मसंबंध से हम गलत गिने जाते कर्म में पड़े हुए हों, तथापि उसे गलत न गिनें । किन्तु गलत गलत का भाग और भाव न निभा जाय उसका पूरी तरह सजगतापूर्वक ख्याल हृदय से हमें रखना है । इस तरह जो **जीव** अच्छा या बुरा विषयक चेतनभाव से चेतता रहता है, ऐसे **जीव** को अच्छा या बुरा किसी ढंग से बाँध नहीं सकेगा ।

मानवी**जीव** को द्वन्द्व तो आते जाते रहेंगे ही । द्वन्द्व की वृत्ति ज्ञान से, समझ से पार करने को सदा हमें प्रयत्न करना

चाहिए । किसी भी कर्तव्य में उसके धर्म का संपूर्ण गहरा ज्ञान, भान जागा हुआ होना चाहिए । **कर्म के तीन धर्म हैं । स्थूल, सूक्ष्म और दिव्य । प्रत्येक कर्म करते समय उस कर्म को करते-करते अंतर में उन तीनों धर्म के हेतु का ज्ञानपूर्वक का सुमेल साधक को साधना है ।** जैसे जैसे हृदय से हृदय में प्रभुभाव गहरे से गहरा उतरता जाएगा और जैसे जैसे वह विस्तार पाता जाएगा, वैसे वैसे तीनों भाव प्रत्यक्ष अपनेआप उस समय हम से होते कर्म में जन्म लेते जाएँगे ही । वैसा यथार्थ रूप में हमारा हुआ न हो, वहाँ तक तो सात्त्विक शुद्ध बुद्धि का वैसा अभ्यास प्रत्येक होते कर्म में हमें प्राणवान विकसित करना हैं ।

कोई हमारा गलत कर जाने में समर्थ नहीं है । जो कुछ होता है, वह हमारे ही कर्म से होता है । बुद्धि का पूरा उपयोग किया हो, सावधानी पूरी रखी हो, तब भी कोई धोखा दे जाय तो वहाँ उद्वेग न रखें । अपने से होता सारा योग्य किया हो तो इतने से हृदय में संतोष मानना । बुद्धि का पूरी तरह योग्य, कुशल उपयोग किया हुआ हो और उस उस कर्म के योग्य, ऐसी समग्ररूप से सावधानी भी रखी हो, तथापि कोई हमें धोखा दे जाय उस समय में कोई दूसरा धोखा दे गया है ऐसा न मानना । कर्म की सर्व प्रकार की कुशलता ज्ञानपूर्वक सँभाली हो, तथापि कर्म का परिणाम योग्य न आये तो हम धीरज रखें । अमुक ही परिणाम होना चाहिए, ऐसी उलझन नहीं होनी चाहिए ।

ऊपर कहा है वैसा प्रसंग बने तो उसका कोई निमित्त कारण होना चाहिए । शेर से सवाशेर सब किसी के सिर पर होते हैं । कुछ भी करो तब भी कहीं तो पीछे पड़ेंगे ही । हम सदा ही अपनेआपको देखने का रखें । कर्म में उसके समग्र कौशल्य का जीवित भान भी रखना, परन्तु ऐसा संपूर्ण भान रखा होने पर भी योग्य न होते हमारे जीवन की कोई गाँठ तोड़ने ही ऐसा प्रसंग बना है, ऐसा ज्ञान बिजली की चमक की तरह जिस **जीव** के हृदय में जाग जाता है, वह **जीव** वैसे कर्म से कृतार्थ हो जाता है । और उसे वैसे कर्म में प्रभु का प्रत्यक्ष हाथ है, ऐसा अनुभव भी होता है । जो कोई **जीव** अपने जीवन में स्थूल और सूक्ष्म ऐसे दो प्रवाहों—**जीव** स्वभाव के और शिव होनेपन का—देखने का हृदय से किया करता है, ऐसे को किसी दिन तो प्रभु का भाव जीवन में पसंद करेगा ही ।

जिस तरह अपने जीवन का ध्येय साध सके उस तरह जहाँ जहाँ कठिनाई हो, वहाँ वहाँ समग्ररूप से, अखंडता से, योग्य ज्ञानपूर्वक का भान रखकर साधक को व्यवहार करना है । मन में खलबली मचाये बिना-आलोड़ित हुए बिना जहाँ रहे हों, उस परिस्थिति का धर्म संपूर्ण योग्य ढंग से हल करना चाहिए । अपने ही ढंग से सब कुछ सरल बहनेवाला नहीं हैं अथवा बहा करता नहीं । इससे धीरज, शांति, समता, प्रसन्नता आदि खोने नहीं । बहते झरने के समान जिस तिस में हृदय में संपूर्ण प्रसन्नता रखकर जगत में हमें व्यवहार करना है ।

अनेक प्रकार के कर्मप्रारब्ध संस्कार होंगे, उसी तरह हम से वैसे वैसे जीवनप्रसंगों में प्रवेश करने का बना करेगा, वैसे वैसे प्रसंग में वे वे कर्म हमें उन उनकी तरह ही व्यवहार करने का प्रयत्न करेंगे, किन्तु उस समय जो *जीव* हृदय से जागृतिपूर्वक चेतकर चलता है वैसा ही *जीव* वहाँ जीया करता है। जो जो परिस्थिति में हम हों वैसे कर्म तो खड़े होंगे ही ।

उसमें अर्थात् उस उस कर्म में यदि हृदय में हृदय से प्रभुभाव दृढ़ करने का ज्ञानभक्तिपूर्वक जीवन्त भान नहीं रखेंगे, तो वे वे कर्म हमें जरूर बंधनरूप ही होनेवाले हैं । और नया प्रारब्ध - इस तरह फिर दुबारा खड़ा होता ही रहेगा । परिस्थिति में कर्म किये बिना तो किसी को नहीं चलेगा । इससे, प्राप्त कर्म में यदि कर्म का स्थूल भाव ही रहा किया तो वैसे होते जाते कर्म से जीवनविकास नहीं होनेवाला है, उलटा जीवन रुँधायेगा । इससे साधक को तो प्रत्येक होते जाते कर्म में उस उस समय, आदि-मध्य और अंत में, प्रभुभाव दृढ़ कर करके हृदय की जागृति के साथ, प्रभुचेतना से प्रवेश करना है ।

कर्म को कर्म की रीत से नहीं करना है, किन्तु कर्म वह तो भावविकास के लिए प्राप्त उत्तम मौका है, ऐसे ज्ञानपूर्वक के विचार के साथ कर्म का साधक को आचरण करना है । इसप्रकार कर्म करने से कोई दोष नहीं लगता है, भले ही दुनिया के रूप में, स्थूल रूप से, उसमें दोष लगे,

तब भी हमें वहाँ पर घबराना नहीं है । प्रत्येक होते कर्म में हृदय से हम से रखे जाते भाव विषयक यदि हमें संपूर्ण विश्वास जाग गया हो, तो उस समय किसी भी प्रकार की डगमग जागने की संभावना नहीं रहती है ।

कर्म करते समय उन सभी कर्म को करते हैं ऐसा भान साधक को नहीं होना चाहिए, परन्तु उन सभी होते जाते कर्मों में जीवन का प्रत्यक्षरूप से विकास साध रहे हैं, ऐसा यथार्थरूप का भान जिस *जीव* को रहता है वैसा *जीव* कर्म की मर्यादा लाँघकर, कर्म करता होने पर भी, कर्म के पार जा सकता है । संसारी लोग ऐसे को कर्म करता देखे, तब उसे मात्र कर्म के मापतौल से देखते होते हैं और मात्र कर्म के स्थूलपन से उसे मापते हैं । उनके लिए वह सब भले योग्य हो, पर जिस **जीव** ने जीवन का विकास साधने की हृदय में तमन्ना रखी है, ऐसे **जीव** की दृष्टि, वृत्ति और भाव वैसे नहीं होने चाहिए । उसकी दृष्टि तो लोकोत्तर होनी चाहिए । कर्म के अनेक पहलू हैं और समग्ररूप से कर्म के अनेक प्रकार के पहलुओं को तौलने की ज्ञानपूर्वक की कला जहाँ तक मिली न हो, वहाँ तक किसी कर्म का तुलनात्मक, तटस्थतापूर्वक का योग्य ख्याल किसी में भी जाग नहीं सकता । इससे, **साधक को तो एकमात्र अपने में ही एकाग्र और केन्द्रित रहा करके स्वयं को मिलते जाते प्रत्येक कर्म में प्रभु का भाव किस प्रकार रहा करे, उसके ही जीवंत प्रबंध में स्वयं रहा करे यही उसके लिए श्रेयस्कर है ।**

● ● ●

शरीर की अखंडता

॥ हरिः ॐ ॥

कराची,

ता. ४-१२-१९४३

मानवी को साधारण रूप से स्वयं जिसमें नहीं समझता हो, उसमें भी अभिप्राय बाँध देने की और उसे चिपके रहने की आदत होती है। हमारी साधक अवस्था में भी इस कारण से शरीर की अखंडता विषयक कई कई ख्याल घर कर जाते हैं, पर उसमें हमारी प्रगति होते दूसरी बात की तरह शरीर की पूर्णता विषयक हमारे ख्याल भी जैसे-जैसे अनुभव होते जाएँगे वैसे वैसे बदलते जाएँगे। जैसे कोई अयोग्य वातावरण में जाते हुए मन वैसा जान सकता है, वैसे शरीर भी कितनी जगह से पीछे पड़ता है। फिर, कितनों को ही वैसे वातावरण की खुराक भी चाखे बिना ही अयोग्य और् नापसंद होती है। फिर, कोई कोई स्थान पर बैठते ही शरीर से वातावरण की ध्वनि की पकड़ आ जाती है।

जैसे कीड़ी को सूँघने की इन्द्रिय (मिठास की बात में) बहुत तीव्र होती है। बहुत दूर से मिश्री की मिठास परख सकती है। बैल या दूसरे प्राणिओं को बाघ, सिंह की गंध बहुत दूर से आ जाती है, ऐसे अन्य अनेक उदाहरण हैं; वैसा हमारे शरीर का अपनेआप होता जाता हम अनुभव कर सकेंगे।

शरीर मृत्यु के हजारों घाव सहन कर सके तथापि खड़ा रह सकता है ऐसा अनुभव भी तब होता है । किन्तु प्रभु का यंत्र होने के बाद शरीर को टिकाये रखने का ममत्व किसी भी आत्मा को नहीं रहता है । उसके द्वारा जो कोई कार्य करना होगा, वह कार्य पूरे होने तक उसका शरीर टिकनेवाला ही है, ऐसा उसे दृढ़ आत्मविश्वास होता है ही ।

प्रभु के निर्णय से स्वतंत्र निर्णय ऐसी आत्माओं को होता ही नहीं । उनकी इच्छा पर ही वह सब रखा करता है । **शरीर हो या न हो, परन्तु प्रभु का कार्य कहीं अटकनेवाला नहीं है ।** हजारों बार मृत्यु को हटाकर शरीर को टिकाये रखकर प्रभुकर्तव्य किया करना है, ऐसा आत्मज्ञान जिसे प्राप्त हुआ है, वैसा वह शरीर का स्वामी हो चुका होता है । जो साक्षात् भगवान की भावना–सृष्टि में लय पाया होने पर भी आ पड़े कर्तव्य में भी वही भाव से रहा करता होता है, उसको मन और शरीर पर का काबू अपनेआप रहा हुआ होता है । शरीर की पूर्णता की स्थिति में भी वह जहाँ किसी जीवात्मा के निमित्त का कारण हो, वहाँ वहाँ उसके कर्म के फल में भी वह भाग लेता होता है ।

प्रेमतत्त्व ही ऐसा है कि दो के बीच अभेद कराता है । जहाँ थोड़ा भी भेद है, वहाँ उतने अंश में प्रेम नहीं है । इसलिए स्वयं जिस स्थिति में हो, उस स्थिति में उसे लाने के लिए प्रेम आकर्षित करते ही रहता है । ऐसे प्रेम में प्रेमभाव

से सब कुछ सहन करना है, पर इससे उसके आनंद की भूमिका में अंतर नहीं पड़ता, क्योंकि वह सब वह प्रेमभाव से सहन करता होता है। ऐसे को तो यह 'तप' यानी मानसिक त्रास या कष्ट नहीं है, पर तप का अर्थ ही उसके लिए 'आनंद' होता है - जो सुखदुःख से परे होता है। ऐसा सहन करने में, शरीर की पूर्णता की स्थिति में उसके एकएक रोम में से वह गुजरता चला जाता है। मात्र, मन से ही नहीं पर शरीर के प्रत्येक करण में से वह गुजरता होता है।

हम जानते हैं कि संसारी माँ, बालक का बहुत सहन करती है, परन्तु उसमें ज्ञानभाव नहीं है। उसी तरह साधक का ऐसी **आत्मा** सूक्ष्म भाव से भोगता होता है, क्योंकि वह स्वयं तो वैसे साधक के जीवन के लिए, स्वयं अलग रहा हुआ फिर भी वापिस साधक में तादात्म्यभाव से बहा करता होने से और उसके जीवन के साथ प्रेमभाव से रहा करता होने से उसका प्रेमभाव उसके उन उन सभी में भाग लेनेवाला उसे बनाया करता है, जब कि ऐसा सतत लगातार हुआ करता नहीं है। भले ही साधक ऐसा प्रेम न रखता हो, परन्तु उसका प्रेम तो सच्चा होता है। इससे उसे उसका ऐसा ऐसा भोगने का आया ही करता है। इसका ही नाम अभेद है। फिर, अपना शरीर सहन करता है ऐसा वह बार-बार बताता भी नहीं। इसकी आवश्यकता भी नहीं है।

किन्तु जहाँ प्रेम हो, वहाँ ऐसा आदान-प्रदान चला ही करे । इससे ऐसे मुक्तात्मा संतपुरुष के साथ हम प्रेमभाव से जितना अभेद हो सकें उतने प्रमाण में उनके तत्त्व के साथ भी हम अभेद होते जाएँगे । ऐसा संतात्मा जिन जिन **जीवों** के संबंध में आएगा, उन सभी का वह भोगे बिना नहीं रह सकता । इससे उसका शरीर दर्द या रोग का भोग नहीं ही होगा, ऐसा नहीं कह सकते । पूर्णता में उसकी बाह्य असर या बाह्य दिखावा भले न दीखे । और उसके शरीर का भोगनापन भी खूब सूक्ष्म प्रकार का हो जाये, तब शरीर के रोग या ऐसी दूसरी रीति से उनका प्रेम व्यक्त न होते, उसका सहन करना भी उस तरह व्यक्त न होते, उसकी व्यक्त होने की कला कोई न्यारी ही होगी ऐसा लगता है । सभी के जीवन के साथ संलग्न होने पर भी वह स्वयं बिलकुल स्वतंत्र और अलग हो ऐसा अवश्य हो सकता है, परन्तु ऐसा संतात्मा भगवान की धारणा से अलग तरह से या दूसरी तरह अपने शरीर को टिकाये रखने के लिए कभी भी ममत्व नहीं रखेगा ।

एक प्रयोग के रूप में अथवा तो वैज्ञानिक आविष्कार Research की दृष्टि से शरीर को टिकाये रखना संभव है । ऐसा ज्ञान और उसकी साधना भारत में पहले हुई है । अभी उसका नाश हो गया है । उसे एक विद्या के रूप में सजीवन करना और उसकी साधना जगत में जो कोई वैसी

उत्कट इच्छा रखते हों, उन सभी को सरल हो पड़े उसके लिए अस्तिव में लाना एक अलग ही प्रश्न है ।

अभी भारत में आध्यात्मिक शास्त्र भी मृतप्राय दशा में है । इससे, इन सब बातों में बहुतों को योग्य हल नहीं मिलता है । शरीर टिकाये रखकर काम तो भगवान का ही करना है न ? अपनी स्वतंत्र, यानी कि श्रीभगवान से अलग इच्छा आत्मा तब रखता होगा या नहीं वह भी विचारणीय है ।

हम जहाँ से भी हो वहाँ से समझना अवश्य रखें पर जो आध्यात्मिक उच्च कक्षा की बात होती है उसके बारे में अभी से हम कोई ख्याल न बाँध लें । हमारे ऐसे ऐसे ख्याल हकीकत से दूर होना पूरा संभव है, पर ऐसे ख्याल यदि बनाएँ तो वह गुत्थी का टूटना उलझन खुलनी भी कठिन हो पड़ता है । इसलिए हमें तो अपना आदर्श जीवन में ऊँचे से ऊँचा रखना । वहाँ से अपनी दृष्टि न हटाये और जो मार्ग लिया है, उस मार्ग में ही कैसे धँस जा सके, उस ओर हमारा लक्ष्य केन्द्रित होता है कि नहीं उसे देखना । उस मार्ग में एकरत होने पर नये से नया हमें समझ में आता जाता है और हमारे अंतर में से उगा करनेवाला है । यह यथार्थता तथा अनुभव के आधार पर हमें ऐसी ऐसी सभी बातों में समाधान होते रहनेवाला ही है । इस कारण से हमें कोई ख्याल बाँध देना नहीं है । तथापि किसी भी प्रकार से बुद्धि को कठिनाई से दबाना भी नहीं है । बुद्धि ऐसे दबा दे सके ऐसी नहीं है ।

वह तो बारम्बार कुछ न कुछ बहानेबाजी किया करेगी । इसलिए उसे भी संभव उतना समाधान हो वह भी हमें देखना है ।

ऊपर बताया वैसे ऐसा कोई उच्चात्मा उसकी कोई भी दशा में दूसरे **जीवों** का कुछ भोगे तो इससे उस सामनेवाले **जीव** का सारा कर्म बंद हो जाता है ऐसा नहीं होता, परन्तु उस उस **जीव** में कर्म करते और भोगने की स्थिति में एक प्रकार का हलकापन जन्म लेता है और उस कर्म में—शहद में मक्खी डूब जाकर आखिर में उसमें ही उसकी मृत्यु होती है, वैसे—उस **जीव** का नहीं होता है । यदि सामनेवाला **जीव** इससे ऐसा माने कि मुझे अब कुछ भी करने जैसा या भोगने जैसा रहा ही नहीं है, तो उसे अज्ञान में भटकना पड़ेगा । इससे विपरीत वैसे साधक को तो अपने कर्म की ज्ञानभक्तिपूर्वक की सात्त्विकता बढ़ाने के लिए ही हृदय से जिज्ञासु रहना है ।

इस विषय में मुझे जो कुछ सूझा वह लिखा है ।

● ● ●

जननी को अंजलि

॥ हरिः ॐ ॥

बनारस,

ता. ६-३-१९४३

(मंदाक्रांता)

जिस माता ने निज उदर में भार रखते हुए,
कष्ट उठा नव जीवन का दिया जन्म विश्व में,
उस माता को जीवन में मैंने कोई न संतोष दिया,
और आघात फिर ऊपर से कई देता रहा ।

(शिखरिणी - मंदाक्रांता)

तथापि जिसने मुझ पर हृदय में न असंतोष आने दिया,
गिना प्रिय दिल से सुविधा मुझे क्या मार्ग पर दी,
अति झेला स्वयं जगत-जन की क्या टीका तूने माँ ।
तुमने हमको तो माँ ! कभी नहीं दिया आने ऐसा कुछ माँ !

तुझे पैसों से न सुखी किया, तेरी माँ पूरी आशा,
फलित एक न कभी कर सके - कैसे हम पुत्र पके !
रहा था मेरे में मुझ जीवन की धुन में मस्त मैं और
जरा न दिया ध्यान तुझ पर मैंने किसी बात पर ।

तुझे बूरा लगे वैसे जगत में बरतना बना था,
तब भी तूने माँ ! हमारे सिर कृपालु हाथ रखा,
सह लिया अपने आप दुःखी नहीं होने दिया तूने हमें,
किस रीति से तेरा ऋण उतारूँ मूर्ख को वह न सूझे ।

आशीर्वाद तुम्हारे थे हम पर जिससे हुए निहाल,
हैं आज जो कुछ भी अमी दृष्टि का परिणाम स्पष्ट,
हमें देकर तेरे जीवन द्वारा मानव जन्म उत्तम,
गिनाऊँ क्या तेरे हम पर सभी जीवन में उपकार ।

किसी रीति भूलूं जननी, तुझ को ! प्रेम कल्याणवाला,
मुझे तो लगता है तेरे बिरद माँ ! श्रेय को देनेवाला,
जाते तूने न रोका, रखकर तेरी कठिनाइयाँ मेरे सामने कभी,
फिर मूक मुँह सहन कर जाना माँ ! मात्र क्या तूने ?

गरीबी में कैसा तेरा जीवन माँ ! तब भी सारा ही बिताया,
न आवाज दी न किसी के समीप दुःखड़े रोये तूने,
होती दुःखी अतिशय मन में व असंतोष सालता,
भड़ास निकाली है हम विषय में, क्या तब भी प्रेम हृदय में !

सकूँ यदि संतोष मेरे जीवन से मैं तुझे माँ पूरा,
सकूँ यदि दीप तेरे जीवन से नाम तेरा मधुर,
सकूँ यदि फैला जीवन सुरभी एक तेरी कृपा से,
जीना मेरा तो में सफल गिनूँ, क्या कृतार्थ होऊँ !

कृपादृष्टि तुम्हारी हम पर सदा रखना माँ हमेशा,
हमें प्रेरित जीवन करना श्रेय-मार्ग सजगता,
जाते विपरित कहीं भी भाव हमें मोड़ना सीधे मार्ग,
हम में तेरा जीवन पर्याप्त खिलना भाव में वह !

● ● ●

प्रिय स्वजनों को

॥ हरिः ॐ ॥

किरापट्टी, प्रेमकुंज,
भादौ कृष्ण पक्ष चतुर्थी,
मंगलवार ता. ६-९-१९४१

आज मेरे शरीर का जन्मदिन है । उस अवसर पर तुम सभी का पुण्य प्रेमस्मरण करता हूँ । भगवान की कृपा से और प्रियजनों के प्रेमभरे आशीर्वाद से भगवान मुझे सत्यपथ पर दृढ़ रखे और उत्तरोत्तर दृढ़ कराये यही माँगता हूँ । प्रियजनों का प्रेम यह मेरे मन एक भारी शक्ति है । इससे ही मुझे निम्न पक्तियाँ सूझी हैं वे लिखता हूँ -

प्रभु की प्रियजनों प्रतिपल जगे प्रेम की दिव्यमूर्ति,
प्रभु की प्रियजनों पलपल हृदय में भाव की ऊर्मिशक्ति,
प्रभु की प्रियजनों हृदय जगाये प्रेरणाएँ अनोखी,
प्रभु की प्रियजनों हम उर रहे आत्मा की दिव्य ज्योति ।

इसलिए हमेशा मैंने जिसे मेरे स्वजन माने हैं, उनके समीप रहने का प्रामाणिकता से प्रयास किया है । हो सके उतनी प्रेमभावना की ऊष्मा मैंने उनकी ओर रखी है, अथवा भगवान ने कृपा करके रखायी है, ऐसा लिखूँ अथवा कहूँ तो वही अधिक योग्य लगेगा । और इससे करके उत्तरोत्तर भगवान ने जीवन में विकास कराया है । मुझे तो कुछ भी खोनापन नहीं था । मुझे तो जो कुछ देनापन था, वह देता रहा हूँ । गरीब

के पास प्रेम-प्यार के सिवा दूसरा क्या हो सकता है ? गरीब की तो यह सबसे बड़ी अनमोल, पूँजी है ।

उस पूँजी पर उसका जीवन निर्भर रहा करता है । प्रेम की उस अमोघ दिव्य शक्ति का माप जब उसके हृदय में जागता है, तब वह प्रेम ही उसकी एक बड़ी शक्ति हो जाता है । उस शक्ति के आगे दूसरी सब शक्तियाँ किसी काम की नहीं, ऐसा उसे जीवन में स्पष्ट अनुभव होता है । **इस** शरीर के आज के जन्मदिन के अवसर पर मेरे हृदय का ऐसा प्रेम तुम्हारे चरण में सिर रखकर तुम्हारे आशीर्वाद माँगता है । प्रभु मुझे जहाँ रखे वहाँ (जहाँ होऊँ वहाँ) तुम्हारे हृदय का निर्मल प्रेम का प्रवाह मेरे प्रति सदा ही बहता रहे ऐसी हृदय से प्रार्थना करता हूँ । अपने बालकों पर जो प्रेम होता है, उससे भी अधिक उत्कट भावनाभरा शुद्ध प्रेम मुझे तो चाहिए । अपने बालकों के संदर्भ में हमारा प्रेम, वह शुद्ध निःस्वार्थ भावना का न होने से उसमें चाहिए उतना जोश और प्राण योग्य प्रकार के नहीं होते हैं ।

मेरी नजर में वैसा प्रेम सतेज नहीं है, जीवन्त नहीं है, बल्कि कमजोर है ऐसा मुझे नम्रता से लगा है । हम सभी के अपने बालकों पर के प्रेम में Sense of Possession की वृत्ति, (**जीव**स्वभाव की उनके प्रति ममता की रागात्मक भावना) तथा दूसरी लालसा की वृत्तियाँ मिलावट भरी रहती हैं । इससे जिस प्रेम को माँग रहा हूँ उस प्रेम और बालकों

पर के हम से रहते प्रेम में आसमान जमीन का अंतर है । मेरे बारे में तुम्हारे से वैसा न हो वह मैं समझ सकता हूँ । इससे तुम्हारे हृदय का शुद्ध, उत्कट भावनावाला धधकता प्रेम मुझे तो चाहिए ।

स्वजनों के शुद्ध हृदय के ऐसे प्रेम की मुझे भूख लगी हुई है । ऐसे परम मंगलकारी प्रेमभाव की बारिस जब हम पर बरसती है, तब जीवन के सारे संकोच दूर हो जाकर हृदय उदात्त भावना से प्रफुल्लित होता है । संपूर्ण आधार के अंदर रही हुई चेतनाशक्ति में ऊषा की तरह नये प्राण की स्फूर्ति जागती है और जगत तब हमारे सामने जगत रूप में खड़ा नहीं रहता पर प्रेमभाव में रस से ओतप्रोत हुआ और उसके साथ एकता साधते हों, वैसे दर्शन हमें प्राप्त होते हैं । और ऐसा हृदय से अनुभव होते होते प्रेम वही परमेश्वर है, ऐसी सहज झाँकी की गहरी-गहरी हृदय में असर होती हो, ऐसा अनुभव होता है ।

प्रेम की ऐसी इस दिव्य महिमा को कितनी गा सकते हैं ! और यदि देखने बैठें तो जगत में हम जो जुड़े हुए दिखते हैं—वह यदि प्रेम की भावना द्वारा जुड़े हुए रहें तो—जगत गंदला दिखता है वैसा यह जगत हमारे समक्ष नहीं रहेगा, पर भगवान ने हमें लीला करने के लिए दिया हुआ एक सुंदर उपवन का रम्य स्थान है, ऐसा लगा करे । प्रेमभावना अनुभव करते करते हम में जो शक्ति जागृत होती है, वह जीवन के

संकड़े बहाव को कहीं उछालकर उसे प्रचंड प्रवाह का बहता प्रपात बना देती है । और वह जहाँ जहाँ जाता है या होता है, वहाँ वहाँ से प्रत्येक में से, प्रेमभाव का तत्त्व लोहे को जैसे लोहचुंबक खींचता है, वैसे स्वयं खींचा करता होता है और ऐसे प्रेमभाव की असर यदि हमारे दिल उसके साथ शुद्ध भाव से प्रेरित हुए हों, उसके साथ हमारे हृदय के तार प्रेमभाव से संधे हुए रहते हों अथवा तो ऐसे प्रेम के प्रति हमारा भाव सहज रूप से जाग्रत हुआ हो तो हमें वह (असर) अनुभव हुए बिना नहीं रहता ।

हमें ऐसा प्रेम धन्य करता है और दूसरे के जीवन को भी धन्य करता है । ऐसे प्रेम की शक्ति वह एक अत्यधिक महान गति है । ऐसी गति हमें भावमग्न कर देती है, उस गति की भावना के कारण ही हम उसके अत्यधिक निकट आते जाते हैं । उस प्रेम की संचालक भावना के कारण ही हम उसके अत्यधिक निकट आते जाते हैं । उस प्रेम की संचालक भावना हमें हृदय से परम सहिष्णु रख सकती है । उस प्रेम की गतिभावना हमें अपने दोषों की तरफ ही और उन दोषों को दूर करने के लिए एकलक्षी बनाती है । वह मति हमें जीवन में सहानुभूति, उष्मा, साथ, बल और प्रेरणा भी देती है । हमारा जिस-जिस जीवात्मा के साथ संपर्क है, उन उनके संबंध में हमारे **जीव**स्वभाव के भाव को वह प्रेमभाव में बदल सकती है । उन उन जीवात्माओं के संबंध में उन उनके

जीवस्वभाव के भाव को न देख करके, महत्त्व न देकर, जीवन की ऊर्ध्वगति कैसे हो उस तरह बरतने की कला भी वह जाग्रत प्रेमभाव हमें सिखाता होता है । जीवनआदर्श के एक के बाद एक उच्चोच्च शिखरों की शृंखला को पार करने के लिए जीवन में वह प्रेमभाव धधकता उत्साह प्रकट करता है । किस तरह से मानो उड़कर आदर्श के उच्च से उच्च और आखिरी शिखर तक पहुँच जाऊँ ऐसी प्रेरणात्मक तमन्ना वह प्रेमभाव हमारे दिल में प्रचंड ज्वाला रूप में प्रकट करता है ।

ऐसा प्रेमभाव यह तो जीवन की तपस्या है, जीवन की साधना भी है । अरे, उसके द्वारा ही साधना होती रहती है । **ऐसा प्रेमभाव हमारे जीवन का उल्लास है, जीवन का आविर्भाव है, जीवन का आनंद है, जीवन की रंगभूमि है और जीवन का रस भी वही है ।** जगत में प्रेम न होता, तो जगत में रहने जैसा भी लगता नहीं । जीवन का आकर्षण यह प्रेम ही है । यदि वह प्रेमभाव न होता तो किसी से जीया ही नहीं जा सकता था । जीवन में उस प्रेमभावना की उत्कट भावना नहीं है, तो ऐसा जीवन सच्चा जीवन भी नहीं है । ऐसे प्रेमभाव की मर्यादा का सहृदयता से अधिक से अधिक विस्तार किया करें और उसकी मर्यादा न आंके तो कितना अच्छा ! **सत्कर्म का बदला सत्कर्म देकर ही चूकता होता है ।**

सत्कर्म की भावना में अपेक्षा को स्थान ही नहीं है । उस तरह हमारे हृदय का जैसा प्रेमभाव वैसे ही हमारा जीवन फलता रहता होता है । प्रेमभावना जोश और वेग हम में जो गति प्रेरित करती है उस गति में हमें कहीं भी ले जाने की शक्ति है । हमें यदि उसका उपयोग करना आये, भगवान कृपा करके ऐसी गहरी समझ और अंतर को अनुभव करने का हल दे तो हमारे प्रत्येक कर्म में उस कर्म के समग्रपन का उस प्रेम के साधन से हमें दर्शन होंगे ही । ऐसे प्रेमभाव के तार से मेरे सकल स्वजनों के साथ मैं अपने को जुड़ा हुआ अनुभव करता हूँ, और वह प्रेमभाव मेरे प्रिय स्वजनों की ओर से हृदय की निर्मलता से अधिक से अधिक मिलता रहे, तो जीवन की लेनदेन हो सके उस हेतु से **इस** शरीर के आज के जन्मदिन पर प्रत्येक स्वजन को यह पत्र भेजता हूँ ।

● ● ●

वृत्ति का सदुपयोग

॥ हरिः ॐ ॥

कराची,

ता. १७-३-१९४७

अति लाड़ले दम्पति,

दाम्पत्यजीवन यह कोई केवल मात्र कामतृप्ति के निरे संतोष के लिए नहीं है । जीवन में उस वृत्ति का संयम विकसित करने के लिए और उसमें से जीवन की समझ और भावना ज्ञानभक्तिपूर्वक विकसित करने के लिए दाम्पत्यजीवन का हेतु है । मानवीशरीर में जो अनेक प्रकार की वासनाओं का उदय होता है, वैसे संस्कार के उदय के परिणाम के प्रति यदि मानवी का मन देखना रखे और उसके साथ जीवन के आदर्श का उचित सुमेल कहाँ कहाँ नहीं हो सकता है, उस विषय में तटस्थता से और विवेकपूर्वक सोचे तो वैसे मानवी वासना को उस उस तरह से भोगने में जरूर झिझकेगा । जीवन का रहस्य और महत्त्व समझ में आये बिना और जीवन का आदर्श भी निश्चित रूप से हृदय में आकार लिये बिना कोई भी **जीव** कामवासना को संयम की भावना से विकसित नहीं कर सकेगा ।

यदि दाम्पत्यजीवन में कामतृप्ति अनिवार्य है और प्रजा की उत्पत्ति भी होनेवाली है, यह बात भी यदि निश्चित है, ऐसे दोनों यथार्थता यदि निश्चित हैं, तो मानवी को जैसे प्रत्येक में

मर्यादा होती है वैसे उसकी भी मर्यादा बाँध लेनी चाहिए । वस्तु का सदुपयोग करने का अधिकार है । बिगाड़ने का अधिकार नहीं है । जैसे वस्तु का अधिकतर यद्वातद्वा उपयोग होने से वह घिसकर बेकार हो जाती है वैसे कामवासना का भी है । **काम की वृत्ति मानवी के हृदय का एकराग प्रकट करने, कराने और एकभाव से जुड़ने के लिए है, उसके साधनरूप से है ।** प्रजा की उत्पत्ति यदि होनी ही हो तो वह उत्तमोत्तम हो, ऐसा सोचने का काम भी माता-पिता का है । अव्यवस्थित रूप में बच्चे उत्पन्न करना यह तो अनगढ़ का काम कहलाएगा । जिसमें थोड़ी भी अक्ल है, वह तो बालक जितने अच्छे हों उतना अधिक अच्छा ऐसा ही चाहेंगे ।

बालक अच्छे हों उसका उनके माता-पिता की मानसिक दृष्टि, वृत्ति और भाव पर सकल आधार है । इसलिए माता-पिता जितने उत्तम सात्त्विक विचार वर्तन रखनेवाले हों और कर्म करते समय जितना अधिक हृदय की भावना से चिंतन-शील रहते हों, उस पर बालक के संस्कार गढ़ने का पूरा आधार रहता है । संसार तो चलते ही रहनेवाला है । **जो चलित है उसका ही नाम संसार है ।** प्रत्येक कुछ एक से अनेक होने के लिए ही सर्जित हुआ है । **जीव** में भी वैसी सहज वृत्ति है ही । काम की वृत्ति के पीछे का ज्ञानपूर्वक का हेतु मानवी यदि समझ सके तो कुदरत की यह तो बड़े से बड़ी और उत्तम से उत्तम भेंट मानवी को मिली है उसका उसे

ज्ञान हो । इससे काम की वृत्ति ही अयोग्य है ऐसा कहना वह ठीक नहीं है, पर उसका जीवनविकास के लिए ज्ञानपूर्वक का उपयोग होना चाहिए, व्यर्थ अकारण नहीं ।

बालक को उत्पन्न करना हो, तो वह उत्तम में उत्तम हो ऐसा मानस, विचार, भावयुक्त ज्ञानपूर्वक का आचरण करके उसके बाद काम की वृत्ति का उपयोग लेना इसे यथार्थ गिन सकते हैं । और उस कामवृत्ति के रस में उस समय अंधे होकर तल्लीन न हो जाएँ पर बालक के जीवन की भावना उस समय मनहृदय में जागती रहे वैसी consciousness चेतनाभरी जागृति हम में रहे, ऐसे हम रह सकें, तभी उस कामवृत्ति का सदुपयोग, नहीं तो दुरुपयोग है ।

जिसे मानवी अपनी मेहनत से कमाया हुआ धन या ऐसा जो कुछ वह अपना मानता है, उसका उपयोग वह बिना काम के नहीं करता है । उसके पास होता है, उतना वह खर्च नहीं करता है, यह तो प्रत्यक्ष समझ में आये ऐसी बात है । स्वयं को प्राप्त हुई सम्पति कितनी भी तितर-बितर करे, तथापि उसमें उस तरह खर्च होने का अनिष्ट फल का उसे विचार आये बिना नहीं रह सकता, यह सब खर्च हो जाएगा तो बुरा हाल होगा, उसका भी उसे पता चलता है । लाखों में कोई ऐसा होगा कि जितनी हद तक बुरी आदत या लत में फँसा होगा या स्वयं को प्राप्त हुई सम्पति का ऐसा तहस-नहस हो जाय ऐसा दुरुपयोग करेगा । ऐसे के नसीब में तो

अंत में कमनसीबी ही लिखी हुई होती है, यह भी हमने जगत में देखा है ।

इसप्रकार मानवी को प्राप्त हुई जगत की शक्ति का सामान्यरूप से तो यहाँ वहाँ व्यर्थ खर्च नहीं कर देता है, उलटा सँभल सँभलकर उपयोग करता है । अमुक तो फिर कितनी ही कंजूसाई से उपयोग करते हैं और कितने किफायत से उपयोग करते हैं और कितने ही उसे दिल की उदारता के साथ दान में भी देते देखा है। किन्तु ऐसी संख्या बहुत ही अल्प होती है । मात्र, कुदरत की ओर से मानवी को मिली हुई जो पूँजी है, उसे मानवी यद्वातद्वारूप से खर्च करता है, उसमें वह स्वच्छंदरूप से पसरा करता है, उसका वह बेफामरूप से दुरुपयोग भी किया करता है और स्वयं उस तरह जीवन से तबाह होता जाता है, उसका उसे भान भी नहीं रहता होता है ।

मानवी को मिली प्रकृतिदत्त कामवृत्ति उसके अपने उपयोग के लिए है, ऐसा मानने में वह भूल करता होता है । वह शक्ति तो मिली है परस्पर हृदय से एक होने के लिए, एकदूसरे के हृदय के प्रति आकर्षण होने, एकदूसरे में एक भाव से, एक राग से, एक रस से व्याप्त होने, एकदूसरे के हृदय में एकनिष्ठा से रहने के लिए प्रेरणात्मक बल के रूप में मिली है । स्त्री के स्वभाव में और पुरुष के स्वभाव में स्थूलरूप से जो ईर्ष्या की वृत्ति है (स्त्री अपने पुरुष को अन्य स्त्री के साथ खेलता, बात करता या विनोद करता

सहन नहीं कर सकती, उसी तरह पुरुष अपनी स्त्री को दूसरे पुरुष के साथ बात करते, हँसते, खेलते, कूदते या विनोद करते या आनंद करते सहन नहीं कर सकता ।) वह भी एकदूसरे में बलपूर्वक भी एक रखने के कारण रही होती है । यदि वैसा स्त्रीपुरुष के स्वभाव में ही न होता तो समाज का संविधान आधारहीन व्याप्त होता और कोई भी अपनेआप के ठिकाने में बर्ताव न कर सकता होता । यह तो पुरुष या स्त्री की बहिर्मुखी वृत्ति को वापिस ठिकाने लाने के लिए एकदूसरे की वैसी वृत्ति कुदरती रूप से मानवी को मददकर्ता बनती होती है ।

बाकी, स्त्री या पुरुष अपनेआप ही अपने पर स्वेच्छा से अंकुश स्वीकार करके भानपूर्वक, ज्ञानपूर्वक, रामसीता जैसी भावना या वृत्ति जीवित रख सके ऐसा भाग्य से ही होता है । इसप्रकार, प्रकृतिदत्त मिली हुई शक्ति जो कामवृत्ति है, वह तो मानवीजीवन के उद्धार के लिए और मानव जीवन को सचेतन बनाने, उसे नवपल्लवित और प्रेरणान्वित कराने, उसे *एकोऽहं बहुस्याम्* के भाव की लीला में व्यक्त कराने श्रीभगवान के शक्तिप्रसादरूप में मिली हुई है । किन्तु उसे उस स्वरूप मैं कौन पहचानता है और कौन जानता है ? उसे भोगना है पर त्याग कर करके ।

मानवी की प्रकृत्ति में भोग और त्याग की वृत्ति कुदरत ने रखी ही है । मानवी भोगता भी होता है और त्याग भी

करता होता है । किन्तु वह दोनों कर्म वह मूर्खता से करता है, उसका उसे जरा भी भान नहीं होता है । भोग और त्याग यह तो प्रकृति के सहज लक्षण हैं । हम यदि ठीक गहराई से सोचें तो जीवन के सभी क्षेत्रों में, उस उस क्षेत्र के व्यवहार में, भोगते भी होते हैं और त्याग भी करते रहते हैं । मात्र उसका उस समय समझपूर्वक जागृतिभरा ज्ञानभान हमें होता या होता नहीं । जो मानवी कम से कम भोग भोगता है और अधिक से अधिक त्याग करता है वह दैवी हो सकता है । वैसा ही **जीव** श्रीभगवान की लीला समझने की दिव्य दृष्टि रख सकता है । उस कारण से कुदरत की ओर से मिली हुई शक्ति स्वरूप जो कामवृत्ति है, उसे भोगने को कोई मना नहीं करता, पर उसे निरंकुश रीति से खर्च करोगे तो वह अपने असली स्वरूप में तो शक्ति स्वरूप से है, पर उसका जो दुरुपयोग करता है उसे वह कभी 'जाने' भी दे सकती नहीं है, उसका जो ज्ञानपूर्वक सदुपयोग करता है, उसके उत्तम फल भी वह मानवी को चखाती है ।

कुदरत ने जो जो शक्ति कृपा करके मानवी को बक्षी है, वह कोई यों ही तो नहीं है । उसके भी कारण हैं । उसका हेतु भी है । श्रीभगवान के दिव्य हेतु को फलीभूत करने के लिए जो ऐसी शक्ति का ज्ञानपूर्वक, उसके योग्य भान के साथ सदुपयोग करता है, उसे वह शक्ति अनंत गुनी शक्तिरूप से पसंद करती मिलती है । ऐसी शक्ति का उपयोग जीवन की

शक्ति बढ़ाने में, जीवन का नवसर्जन करने में रहा हुआ है सही, पर वह सर्जन कलात्मक कुदरती सौंदर्य में मिल सके ऐसा होना चाहिए, वैसे कला-सौंदर्य का जन्म होने देने के लिए प्रत्येक पतिपत्नी को कला-सौंदर्य के भक्त बनना या होना पड़ेगा । किसी को भी उसके सत्य स्वरूप में समझना करना हो, तो नम्र से नम्ररूप में हृदय के संपूर्ण प्रेमभाव से, उसके हृदय से परिपूर्ण हम भक्त होंगे, तभी उस वस्तु का हार्द या मर्म हमारे ख्याल में जाग सकता है । इसलिए ऐसी कुदरती मिली हुई शक्ति का उपयोग हम से मनपसंद वैसे—मनस्वी रूप से—कभी भी हो सकता ही नहीं । यह यदि संपूर्ण ख्याल में आ सकता हो तो प्रत्येक को परस्पर समझ लेने की अत्यधिक आवश्यकता है ।

इसका अतिरेक कभी भी न ही हो यह देखने, सुनने का काम हमारा है । उसमें पति, पत्नी पर या पत्नी, पति पर बलात्कार करे तो ऐसे बलात्कार का सामना करने की हृदय से हृदय की ताकत लानी होगी । पुरुष की वैसी यद्वातद्वापन की सनकवृति का स्त्री को सामना करना ही रहा । इससे अनेक ढंग से हैरान होने की बारी आये, तो वह सहर्ष उसे स्वीकारकर लेना और उसे त्याग, बलिदान या समर्पण स्वयं गिने । जीवन में इसके जैसी दूसरी कोई तपस्या नहीं है और स्त्री की ऐसी वृत्ति का पुरुष को ज्ञानपूर्वक सामना करना ।

जिस हेतु के लिए जो कुदरती शक्ति मिली हुई है, उस हेतु को फलित किये बिना वह दूसरे किसी में खर्च कर सकते ही नहीं । पुरुष और स्त्री **जीव** ने तो वैसी शाहुकारी भी खो दी लगता है । हमें कुदरत ने जिस हेतु के लिए वह दी है, उस हेतु को तो वह बिलकुल भूल ही गया है, उसका भान थोड़ा भी उसे नहीं रहा है । मानवी **जीव** ने उस बात में तो पूरी तरह दिवाला ही निकाला है । हम किसी को अमुक काम करने को कुछ रकम उधार दें और वह मनुष्य यदि काम न करके शराब पीने में या अन्य बूरी रीत से वह रकम खर्च कर दे तो हम उसे कैसा गिनेंगे ? ऐसा हमारा मानवी का हुआ है । सब कुछ मानवी को मिला हुआ भोगना तो है ही, पर उस भोग को महत्त्वरूप से जीवन में स्थान नहीं है । महत्त्वरूप से त्याग को स्थान देना है । यद्यपि सहजरूप से तो मानवीप्रकृति में भोग और त्याग एक समान हैं । किन्तु आज मानवी के स्वभाव में भोग की प्रवृत्ति को प्रधानता मिली है । इसलिए जहाँ तहाँ त्याग की समतुला नहीं है, इसके लिए समता में लाने को मिली कुदरती कामवृत्ति की शक्ति को पहले तो त्याग में ही परिणित करनी ही पड़ेगी । ऐसा त्याग सहज होने के पश्चात् जो होगा वह उत्तम सात्त्विक भोग होगा । ऐसा भोग वह कुदरती प्रकृति का ही भाव होगा ऐसा गिन सकते हैं । परन्तु ऐसा सूक्ष्म सत्य खाली कोरी कोरी बुद्धि से कल्पना में भी आ सके ऐसा नहीं है, यह निश्चित है ।

उसे द्वन्द्व की भूमिकावाली बुद्धि से समझने, सोचना यह मिथ्याडंबर है । यदि उसे हम वर्तमान जीवन में ज्ञानभानपूर्वक अमल में लाते जाएँ तो तो कुछ पढ़े-लिखे गिना सकें । बाकी, हम से तो हजारों दर्जे गँवार गिने जाते किसान या निरक्षर लोग अच्छे हैं, क्योंकि उन बिचारों को शरीर की मेहनत इतनी सारी करनी पड़ती है कि उन्हें कुदरती मिली कामवृत्ति की शक्ति को जैसे तैसे असावधानी से व्यर्थ खर्च करने की क्षमता हो ऐसा नहीं है ।

जो लोग खूब महेनती हैं, उनमें कामवृत्ति की लालसा की मात्रा भी कम रहती होती है । जबकि अकर्मण्य आलसी लोगों के जीवन में यह तो अग्नि की ज्वाला की तरह भभकती रहा करती है । यह बात यदि सच लगती हो, तो मानवी को शरीर की मेहनत को खास महत्त्व का स्थान अपनेआपके प्रतिदिन के व्यवहार में देना ही चाहिए । नहीं तो ऐसे पतिपत्नी कभी भी कामवृत्ति को संयम से खर्च करने में शक्तिमान नहीं हो सकेंगे, यह भी निश्चित बात है ।

फिर, यदि हमें एक प्राणवान प्रजा के रूप में जीना हो, तब भी हमारा धर्म है कि हमारी प्रजा अच्छे संस्कारवाली, प्राणचेतनवाली होनी चाहिए, कैसे भी बालक को जन्म दें यह तो पाशवी वृत्ति का काम है । इसके जैसी अपनी या समाज की दूसरी कोई कुसेवा नहीं है । स्वयं जीवित रहना हो और

समाज को भी ऊँचा लाना हो और घर पर बैठकर समाज की सेवा करनी हो, ऐसों को कुदरत से मिली हुई कामवृत्ति की शक्ति को निरंकुश रीति से व्यर्थ खर्च करने का अधिकार नहीं है ।

फिर, शरीर में जो वीर्य पैदा होता है, वह जिस मानवी का मन निरंकुश रीति से विचार किया करता हो, उसके शरीर में योग्य रूप से रह भी नहीं सकता । वीर्य का अमुक प्रकार का स्थिर होनेपन का सारा आधार मानवी के मन की भूमिका किस प्रकार की रहती है उस पर सब आधार रहा हुआ होता है । मानवी का मन निरंकुश रीति से सोचता रहता हो, तो उसका परिणाम मानव के वीर्य पर हुए बिना रहता ही नहीं । शुक्र की गति मानवी के विचार की जैसी भावना वैसी परिणाम में होती रहती है । इससे, कामवृत्ति को संयम में रखना हो, तो मानवी को अपने मन को योग्य वास्तविक विचार में रखने की प्राणवान आदत डालनी ही होगी । ऐसा प्राणवान अभ्यास मन को लगाये बिना कोई भी मानवी अपने शुक्र को स्थिर रख सकनेवाला नहीं है, वह निश्चित बात है ।

वीर्य को स्थिर रखना या करना यह कोई मामूली बात नहीं है । प्रथम तो उसके लिए मानवी का ऐसा मन हो जाना चाहिए । ऐसी तमन्नापूर्वक की सही समझ और लगनी मानवी के हृदय में आनी चाहिए, तो ही वह हो सकता है । बाकी, वह संभव नहीं है । बाकी, खाली खाली बड़ी बातें करना वह

बेकार है । यदि हमें यह समझ आता हो और सच लगता हो, तो हम जीवन में हृदय की भावना से, जागृत रह रहकर, प्रयत्नपूर्वक उसमें जीना रखें, तो ही योग्य गिना जाएगा और योग्य होगा । बाकी, केवल पत्र में ऊँचा ऊँचा लिखें इसका कोई अर्थ नहीं है । इससे कुछ हासिल नहीं हो सकता । करोड़ों मण दिखावटी खाली खाली विचार करते एक आधी छटाँक जितना विचार का पालन अनेक गुना बढ़कर है ऐसा सुना, जाना है, तो हम उस विचार का पालन करने में प्रभुकृपा से तंदेही और उत्साही बने यही प्रार्थना है ।

● ● ●

व्यष्टि में समष्टि का हल

॥ हरिः ॐ ॥

ट्रेन में से, मद्रास (चेन्नाई) से मुंबई जाते,
ता. ११-१०-१९४२

प्रिय भाई,

जीवन की साधना यह कोई जीवन से अलग रूप से नहीं है । समग्र जीवन को जीने का किसी एक काल से जैसे अलग नहीं कर सकते, अथवा तो जीवन के किसी एक पहलू को, अथवा तो जीवन के किसी एक mood को (उत्कट भाव से भरी हुई विवशता) उसके उसके समग्रपन में से बिलकुल अलगपन से हम रिहा नहीं कर सकते हैं, वैसे साधना का भी समझना है ।

जगत के साथ हमें क्या लेनादेना है, जगत जगत से फोड़ लेगा ऐसी मान्यता भ्रम से भरी हुई है । प्रत्येक व्यक्ति या **जीव** जगत के **जीवों** के साथ संलग्न है ही । कोई किसी से वास्तविकरूप से अलग हो सकता ही नहीं । यद्यपि जहाँ तक हमें जीवन की साधना से एक प्रकार की समाधानवृत्ति न उगी हो, वहाँ तक हमें साधना के एकांत या एकाग्रपन में या एकांगपन में भले तन्मय रहा करें यह समझ में आये ऐसा है । (तब भी हम जिस समय जो परिस्थिति उद्‌भव हो उसे नकार तो सकते ही नहीं ।) जगत वह कोई हम से अलग है

ऐसा मानना, कल्पना करना या समझना यह योग्य भी नहीं है । हम जगत में हैं और जगत में से एक हैं यह भी हमारे ख्याल में रहना चाहिए ।

जगत के अनेक प्रश्न और अनेक प्रकार की समस्याएँ अपने-अपने हल माँग रही हैं । हम उनका हल लाने के लिए अधीर न हों, स्वस्थता रखें, धीरज रखें, पर कभी उसकी उपेक्षा तो न ही कर सकें । हमारे जीवन में अनेक प्रकार के प्रश्नों और समस्याओं हल के लिए बाँग पुकारती ही होती हैं । जो **जीव** ज्ञानभक्तिपूर्वक अपने जीवन की उलझन, कठिनाई, प्रश्न और समस्याओं का हल, स्थिरता से, धीरज से और सच्ची समझ से, (कि जिससे जीवन की स्थिति विकास के क्रम में आगे बढ़नेवाली है उस तरह) तटस्थता से और विवेकपूर्वक और उसके पीछे की समझ के हेतु को लक्ष में रखकर किया करें और जैसे जैसे वह उलझन, कठिनाई, प्रश्न या समस्या-उसका निराकरण हम से स्पष्टरूप से जितना हुआ करे उतने प्रमाण में हम में जगत की समस्याओं के हल की चाबी मिलती जाएगी, यह निश्चित समझना ।

जो अपने जीवन को नकारता है, जो अपने जीवन को पूरा-पूरा समझ नहीं सकता है, जो अपने जीवन को यथायोग्य परिस्थिति में उतार नहीं सकता और जो जीवन को समग्ररूप से अनुभव कर सकने की तमन्ना नहीं रखता वैसा **जीव** जगत की समस्याओं का हल कभी भी नहीं कर सकेगा ।

जीवन की साधना अर्थात् बिलकुल कुछ हमें करने जैसा रहा ही नहीं है, यह ख्याल बिलकुल अज्ञानभरा है । **जीवन की साधना यानी तो पलपल का ज्ञानभक्तियोगध्यान का भावनापूर्वक का उपयोग ।** आज के समाज का जीवन निरंकुश और भरपूर तामस से भरा हुआ है, तथा जड़ता से घिरकर जीवन को बरबाद करते रहने में ही पड़े रहने का जो भी **जीव** का भाव है । ऐसे खाली खाली पड़े रहना और कुछ ठोसरूप से जीवन के विकासक्रम में करने का न सोचना यह तो जीवन का सर्वनाश मोल लेने जैसा है । **हमारा समाज आज तामस से भरा पड़ा है । उसमें वापिस हम बढ़ावा न कर बैठें वह देखना है ।** अन्य व्यक्ति जो न कर सके ऐसा और इतना भारी काम हमें करना है । इससे, जीवन के सामने जो जो उलझन, मुश्किल, परिस्थिति या समस्या आकर खड़ी रहे, उसमें हमें सक्रियरूप से मन को पिरोये रखना है, और उसके साथ-साथ जीवन के ध्येय के प्रति एकाग्रता, उसके प्रति सतत एकलक्षीपन, खंडित न हुआ करे यह सावचेती भी रखा करनी है ।

● ● ●

साधना का मर्म

॥ हरिः ॐ ॥

मद्रास (चेन्नाई) से मुंबई जाते,
ता. ११-१०-१९४२

वैज्ञानिक को जिसका आविष्कार करने की अपने दिल में चटपटी लगी हुई है, वह तो खा-पीकर उसके पीछे ही उसके ही चिंतवन में और उसके रस में ही प्रयत्न करता दिखता होता है । उसी तरह जिसे चटपटी ईश्वरप्राप्ति के मार्ग में लगी होती है, ऐसी (यद्यपि उन वैज्ञानिकों की तो एक में ही लगे रहे हुए हों, फिर भी उनकी वासनाओं की शुद्धि हुई ही है ऐसा कह नहीं सकते) तीव्रतर हुई किसी प्रकार की महेच्छा के बल से ईश्वर के मार्ग पर बढ़े जाते हैं और उस तरह होते रहने से उन **जीवों** में रही वासनाओं को वह दबाते जाता होता है । जो व्यक्ति जिसके पीछे तनदिहीपूर्वक लगा रहे, उसकी प्राप्ति वह कर सके सही यह निर्विवाद बात है । और यों अनेक अशुद्ध संस्कार वास कर रहे हुए हों (स्वयं न जानता हो ऐसा पूरा संभव हो) तथापि उसे ईश्वर की प्रतीति के बारे का सिद्धांत जीवन में बैठ गया हो, समझ आ गया हो, ऐसा बनना भी पूरी तरह से संभव है ही । पर इससे वह **जीव** ईश्वरनिष्ठ हुआ है या आत्मनिष्ठ हुआ है ऐसा जरा भी नहीं गिना जाएगा ।

इससे जीवन को समझनेवाले **जीव** को 'प्रतीति' और 'निष्ठा' इन दो शब्दों की भावना का अन्तर समझना बहुत ही जरूरी है। प्रतीति और निष्ठा में तो आसमान जमीन का अन्तर है। हमें तो निष्ठ होना है। इसलिए चित्तशुद्धि और अहंकारशुद्धि सर्वांगरूप से (जीवन की समग्रता में) पूरा-पूरा होते रहे, उसका दृढ़ता से अभ्यास, जीवंत अभ्यास, हमें सतत विकसित करना है। यह मार्ग बहुत लम्बा है और सतत जीवंत चेतनाभरी जागृति के बिना यह बनना लगभग असंभव है। फिर भी आखिरी कल्याणकारी मार्ग तो वही है। इसप्रकार, साधना में जितना तदाकार होते जाएँ, उसके साथ-साथ अनेक प्रकार की वासनाओं का शुद्धतर होने का हुआ करे, ऐसा द्विमुखी प्रयास हमें रखा करना है। उसके लिए हमें अपना पृथक्करण तटस्थता से ज्ञानपूर्वक किया करते रहना है। वासनाओं को उन उनकी तरह उपयोग किया करते जाते उनका वेग बढ़नेवाला है। उस तरह वह कभी शुद्ध नहीं हो सकतीं, पर उसके बहाव के तट से भिन्न तरह उस उसका ज्ञानभाक्तिपूर्वक उपयोग करना है। उन्हें न तो नकारना है और नहीं उन्हें जड़ होने देना है। नकारने या जड़ बना देने से कोई उनका अस्तित्व नष्ट नहीं हो सकेगा। इसिलए हम तो सतत मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहंकार को हमारे जीवन के आदर्श में ही एकाकाररूप से रखने का सतत निरन्तर जीवंत प्रयास किया करें और उसमें

से भावना का जो प्रवाह प्रकट हो और वैसे उछलते भावप्रपात से उन उन वासनाओं के मूल को हम धोया करें और उन्हें उस तरह पवित्र बनाया करें ऐसा हमारा जागृत, सतत, चेतनाभरा प्रयास हुआ करना चाहिए ।

जीवन में साधना का महत्त्व अत्यधिक है सही, परन्तु उसकी परिप्राप्ति तो साधना के निरन्तर जीवंत अभ्यास से जो समझ आती है और जो अनुभव मिले वह वह समझ और वह अनुभव हमारे जीवन के भाव को योग्यरूप में न व्याप्त कर सके तो वैसी साधना मिथ्या समझें । यदि साधना होती ही हो तो उसमें से सच्ची समझ और अनुभव भी मिले ही मिले । प्राप्त हुए अनुभवों को योग्य जीवनवर्तन सहजभाव से हुआ करे और वह हमारा जीवन उत्कर्ष का व्यवसाय स्वभावसिद्ध हो जाय उसमें ही साधना की सफलता की चाबी रही हुई है । जीवन की साधना का यही सच्चा रहस्य है । उस बात को हमें खास करके समझ में अपनाकर अमल में करते रहना है, यह जान लें ।

● ● ●

चित्तशुद्धि या अहंकारशुद्धि

॥ हरिः ॐ ॥

ट्रेन में से, मद्रास (चेन्नाई) से मुंबई जाते,
ता. ११-१०-१९४२

जिसे जीवन का विकास करना है और जीवन की साधना करने का जिसका दिल है, वैसा **जीव** तो सदा ही अपनेआपको भूलते रहना है। इसके बिना अपने आपको स्वयं खोज भी नहीं सकेगा। साधना की शुरूआत मैंपन के त्याग से ही होती है और परिपूर्णता, अथवा अधिक योग्य तो यह कहलाएगा कि उसका आखिरी अंत, मैंपन के लय होने में ही रहा हुआ है।

मैंपन का नाश होना संभव हो सकता ही नहीं। वह तो —वह भी—एक तत्त्वरूप से है। 'मैंपन' इसका अर्थ तो आकाश में गति करानेवाला या प्रेरित करानेवाला, एक प्रकार का स्वभाव या गुणधर्म भी कहलाएगा। गुणधर्म या स्वभाव का नाश कभी संभव हो ही नहीं सकता। उसका रूपान्तर होता जाता है। इसलिए यह संपूर्णरूप से गल नहीं पाता और गलने का यदि 'पूरी तरह शुद्ध होना' ऐसा अर्थ करें तो यह योग्य है।

अहंकार जैसे-जैसे सूक्ष्म होता जाता है, वैसे वैसे उसकी पकड़ भी अधिक सूक्ष्म और जोरदार होती जाती है और वैसा पहचानना उस समय कठिन भी होता है, तो फिर

वह पक़डा जाय तो कहाँ से ही ? प्रत्यक्ष निरहंकारी **जीव** तीव्र अहंकारी भी हो । जैसे गति में खूब खूब वेग होता है और वह स्थिर दिखती है वैसे । कोई बुद्धि के खां ऐसा कहते हैं कि 'हम बुद्धि की मदद से अहंकार को कम कर सकेंगे या रूपान्तर कर सकेंगे', तो वह व्यर्थ भ्रम है । उलटा बुद्धि की सूक्ष्मता तो अहंकार को अधिक सूक्ष्म बनाती है । इससे बुद्धि की मदद द्वारा अहंकार कम नहीं हो सके ।

हमें यदि अपने को भूलना हो तो वह मार्ग केवल प्रेमभक्ति का ही है । सामने के व्यक्ति के प्रति भाव की उत्कट प्रेममयता के कारण अपने आपको उसमें भूलने का बन सके और यही अहंकार की शुद्धता का मार्ग है । इसके बिना उसकी शुद्धता के लिए दूसरा कोई उपाय जानने में नहीं है ।

स्वयं को आ मिले कर्म में उस उस काल के दौरान **जीवों** उसमें तदाकार हो जाते हम देख सकते हैं । कर्तव्य में लीन हुए वे वे कर्तव्य के रस में, खोजने में लीन हुए– तदाकार हुए वैज्ञानिकों उनके उन उन विषय की खोज के रस में, व्यापारी व्यापार में, बालक खेलों में, अभ्यासवाले अभ्यास में, ऐसे अनेक तरह से अनेक प्रकार के व्यवसाय में एकाग्ररूप हो जाकर अपने आपको भूल जाते अनेक प्रकार के मनुष्यों हमारी नजर में आते हैं और यह हकीकत भी है । परन्तु ऐसा

उनका विस्मरण कुछ समय के लिए का और उतने रुके हुए समय और विषय मर्यादित ही होता है ।

इससे करके कोई उनके चित्त के स्वभाव में कुछ अन्तर पड़ जाता है ऐसा बिलकुल भी नहीं है, क्योंकि चित्त का स्वभाव बदलना यह अलग बात है और ऐसा थोड़ी देर का विस्मरण होना यह अलग बात है । और फिर ऐसे अपने विस्मरण हो जाने के प्रसंगों से तो बहुत बार संभव रहता है कि इससे उसका अहंकार शायद बढ़े भी सही । साधक में तो ऐसा बनना पूरा संभव है ।

जीवनसाधना की सार्थकता के लिए अहंकार का उच्चतर रूपान्तर हुआ करने के लिए जो ज्ञानपूर्वक की विवेकपूर्ण बुद्धि से युक्त हो और फिर चेतन के प्रति प्रेमभक्ति से भरे हुए हो, वही अधिक से अधिक निरहंकारी हो सकते हैं, यह जानना । यहाँ हमें प्रेमभाव के विषय में विचार करके समझना चाहिए । 'प्रेम' अर्थात् क्या उसका ज्ञानपूर्वक विचार किये बिना हम उसका योग्य उपयोग कर सकनेवाले नहीं है । पतिपत्नी एकदूसरे के अधीन रहते हों, एकदूसरे के गुणों का उत्कर्ष करने में सहमत होते हों, एकदूसरे के लिए सर्वस्व अर्पण करने हेतु दिलवाले हों, परस्पर की सेवा करते रहते हों, परस्पर में समझौता से रहने प्रयत्नशील हों, ऐसों में एकपन भी हो ऐसा ऊपर से लगे सही, पर वहाँ भी यानी ऐसे युक्त पतिपत्नी के संबंध में भी विकार, परस्पर स्वार्थ और मोह

भरा होता है । इससे वहाँ परस्पर का परस्पर में शुद्ध प्रेम है ऐसा न गिना जाएगा । इसलिए ऐसे प्रेम से संपूर्ण चित्तशुद्धि और अहंकारशुद्धि हो सके ऐसा तो कलहाएगा ही नहीं ।

फिर, दूसरा उदाहरण लें । आगे सोचते मित्रों की मित्रता के बीज भी अनेक बार संपूर्ण शुद्ध नहीं होते । उसमें भी कुछ न कुछ कहीं मिलावटपन रहा हुआ होता है ही । इसलिए ऐसा प्रेम भी चित्तशुद्धि और अहंकारशुद्धि कराने में फलीभूत नहीं हो सकता, इससे जीवनसाधना के मार्ग के लिए विकास के उपयोग के लिए जो प्रेमभाव आवश्यक है, वह तो संपूर्णरूप से निःस्वार्थ हो, निःस्पृह हो तथापि वापिस स्पृही हो, उदात्त हो और ज्ञानवाला भी हो.....ऐसे प्रेमभाव में जीवन के सज्जनताभरे संस्कार भी हों और इसके अलावा, वह संपूर्णरूप से निरासक्त भी हो । हमारे जीवन का प्रेमभाव जो भी किसी के साथ केवल एक श्रेय की चाहना से ही जुड़ा हो, तब उसका परिणाम श्रेयकारी होगा उसमें शंका को स्थान नहीं है और वह समझ में आये ऐसा है ।

परन्तु जीवनव्यवहार में जहाँ कहीं उत्कट गरज है, जहाँ कहीं उत्कट राग है, या जहाँ कहीं बहुत स्वार्थ लगा हो, वहाँ वहाँ उस-उस **जीव** के साथ हमें मेल करने में देर नहीं लगती है । वहाँ वहाँ गरज, राग या स्वार्थ की मन में जागृति भी होती है । और वैसी जागृति के परिणाम से वहाँ मेल खाता होता है । इस तरह जीवनआदर्श की तमन्ना जिस **जीव** को

लगी है और जिसे फलित करने के लिए जिसमें वह मुड़ी है, ऐसे उच्च जीवात्मा में हृदय की प्रेमभक्ति यदि केन्द्रित, एकाग्र और एकांगी हुई हो तो, वह जीवन को फलित किये बिना नहीं रह सकती । जिसे कुछ किसी की गरज है या कुछ स्वार्थ है, उस **जीव** का दूसरे **जीव** के साथ का वैसा संबंध का उस तरह फलीभूत न हो सकने का बनते अपनेआप मनुष्य वहाँ रुक जाता है । दूसरे **जीव** के साथ गरज या स्वार्थ होने के कारण न हो, तो वहाँ अधिक प्रपंच **जीव** नहीं रख सकता । इसलिए हमारे जीवनआदर्श की तमन्ना को आकार में फलित होती अनुभव कर सके तो ही उस जीवात्मा के साथ का हमारे हृदय हृदय का संबंध - श्रेयस्कर है ऐसा समझें और मानें ।

परन्तु वैसे आध्यात्मिक संबंध में भी एक फर्क या भेद समझने जैसा है, इतना नहीं, पर लक्ष में रखने जैसा है । जिसे श्रेयमार्ग की प्रतीति हुई है, उसमें श्रद्धा आये और जाये । जब निष्ठावाले में वह सतत सहजरूप से व्याप्त है । प्रतीतिवाले **जीव** में भाव एक-सा इकट्ठा बढ़े और कम भी हो सही । निष्ठावाले में वैसा नहीं होगा । प्रतीतिवाले **जीव** में बुद्धि का प्राधान्य भाव की भूमिका पर का नहीं होता, निष्ठावाले में भाव ही प्रथम है । प्रतीतिवाले की बुद्धि सात्त्विकी हो गई हुई नहीं होती । निष्ठावाले में बुद्धि संपूर्ण सात्त्विकी हुई होती है । प्रतीतिवाला **जीव** किसी भी प्रश्न को समग्र और अखंड रूप

से देख नहीं सकता । शायद सोच सके । निष्ठावाले में वैसा नहीं है । वह ज्ञानयुक्त ही होगा । प्रतीतिवाला **जीव** सतत मंथनवाला, कड़ा परिश्रम करनेवाला और जीवन्त प्रयत्न करनेवाला हो । निष्ठावाले **जीव** में वैसा करनापन नहीं रहता । प्रतीतिवाले **जीव** परिस्थिति समझे और हल करने का प्रयत्न करे और निष्ठावाला परिस्थिति को ज्ञानभक्तिपूर्वक हल करे और उससे परे भी रहे । प्रतीतिवाले **जीव** में अभी **जीव**स्वभाव पूरा गया नहीं हैं ऐसा गिना जाएगा, भले जाने लगा हो । निष्ठावाले **जीव** में **जीव**स्वभाव का रूपान्तर होते होते वह अपने सहजरूप में भी व्याप्त हो सकता है ।

जीवन का प्रेमभाव एकमात्र श्रेय की ही उत्कट इच्छा से जुड़े, तो उसका परिणाम अत्यन्त कल्याणकारी उपजे यह बात जितनी सत्य है, उतना ही वैसे **जीवों** को मान लेने में भी बहुत जोखिम और साहस रहे हुए हैं, वह भी सोचने जैसी बात है । इसके साथ-साथ जहाँ तहाँ सर्वत्र शंका या संशयवाली वृत्ति रखकर ही घूमा करे यह तो जीवन की घात समान है । हम यदि हमारे सर्व प्रकार की योग्यता में व्याप्त हुआ करते होंगे और हमारे जीवन का प्रेमभाव एकमात्र श्रेय की ही उत्कट इच्छा से जिस किसी में पिरोया हुआ होगा, तो इससे अतिरिक्तरूप से दूसरा कुछ करने की किसी की ताकत भी नहीं है ।

यों, चित्तशुद्धि या अहंकारशुद्धि के लिए सरल से सरल मार्ग प्रेमभक्ति का है। वह प्रेमभक्ति का झरना हृदय से प्रकट होते और प्रवाहित होने लगते वृत्तिओं को वह शुद्ध किया करेगा ही। किन्तु वह तो अनुभव का विषय है। तुम सभी को यदि सचमुच में चित्तशुद्धि करने और अहंकार की शुद्धि करने का दिल में सचमुच लगा हो, तो वैसी प्रेमभक्ति होनी संभव होगी। लगे बिना कुछ नहीं लग सकता और लगते लगते ही लग जाता है, वह जानोगे।

● ● ●

स्मृति

॥ हरिः ॐ ॥

त्रिचि,

सितम्बर, १९४४

साधक को अपने प्रवास में तरह-तरह का पाथेय रखने पड़ता है । उसमें स्मृति एक बहुत पौष्टिक खाद्य है, पर जैसे पौष्टिक अन्न भी योग्य तरह से और योग्य प्रमाण में खाये तो ही वह लाभ दे सके ।

गीताजी में तो स्मृति को भगवान की एक मुख्य शक्ति-मुख्य नारी स्वरूपों में की एक गिना है, यदि मनुष्य में स्मृति न होती, तो वह कभी अपने आपका विकास नहीं कर सकता और मानव संस्कृति या मनुष्यों की अलग-अलग प्रकार की अलग-अलग संस्कृति जैसा कुछ भी नहीं होता । अनुभवों की परंपरा से ही मनुष्य आगे बढ़ता है, पर उसका कारण उसकी स्मरणशक्ति है । अग्नि में हाथ डालने से जलता हैं, ऐसा अनुभव होने के बाद यदि उसकी स्मृति मनुष्य को न रहती होती, तो फिर उसमें और पतंगे में कुछ अन्तर नहीं रहता । यह स्मृतिशक्ति साधक को भी बहुत मदद करती है, क्योंकि उसे तो इतर मनुष्य से अधिक कड़वा-मीठा अनुभव हुआ करता है । उसमें से अलबत्ता, यद्यपि वह अपनी विवेकशक्ति अनुसार ही कमज्यादा सार निकाल सकता है । फिर यदि उस सार का स्मृतिशक्ति की मदद से सदुपयोग न हो सकता हो, तो तो उसे हर बार नये सिरे ही शुरूआत करनी पड़ेगी ।

संस्कारों को संग्रह कर रखने की क्रिया में भी स्मृति मदद करती है, यद्यपि सीधे तरीके से नहीं । संस्कारों को संग्रह करने का काम मन की ग्रहणशक्ति करती है । स्मृति तो उन संस्कारों को फिर से जगाने का काम करती है । सोये हुए संस्कारों को सोचने या कल्पनाचित्र का मूर्तिमंत स्वरूप देने का काम वह करती है । इससे, पड़े हुए संस्कार दृढ़ हो जाते हैं और उस तरह संस्कारों का संग्रहकार्य में वह सहायरूप होती है ।

इसके अलावा, संस्कार पहली बार पड़े तब भी स्मृतिओं के ग्रहण कार्य में मदद करता है । एक संस्कार पड़ा कि तुरन्त स्मृति उस संस्कार के साथ संबंध रखते हुए दूसरे किसी संस्कार को जगाती है और उस तरह पहले संस्कार को दूसरे कोई संस्कार के साथ चेतनाशृंखला से जोड़ती है । परिणाम स्वरूप पहला संस्कार मन में दृढ़ रूप से बैठ जाता है । अमुक संस्कार मन में अजागृत विस्तार में उतर जाएँ तब भी उस चेतनाशृंखला से जुड़ा हुआ और इससे प्राणवान होने से वह संस्कार अपनेआप अनुकूल मौका मिलते ऊपर आ जाता है और विचार, भावना आदि रूप में परिणित होता है । वर्षों के बाद अचानक अमुक संस्कार जागते हैं, यह तो हम सभी के अनुभव की बात है । वह जाग सकता है क्योंकि वह स्मृतिशक्ति से किसी दूसरे संस्कार से जुड़ा हुआ है और स्मृतिशक्ति का उपयोग उस संस्कार को दुबारा उठने में भी

हो ही यह तो प्रत्यक्ष है । यों, स्मृति, संस्कार को मन में बिठाने में और फिर जाग्रत करने में ऐसे दोनों क्रिया में बहुत सहाय करती है ।

इस पर से समझ में आयेगा कि स्मृतिशक्ति देकर मनुष्य पर भगवान ने एक अमूल्य उपकार किया है, पर शक्तिमात्र की तरह स्मृति का भी दुरुपयोग करना मनुष्य चूका नहीं है । दुनिया जिसके कारण दुःख में डूबी हुई रहती है, उन कारणों में भी स्मृति एक मुख्य कारण है । आज जगत में जो भयंकर संहार चल रहा है और बैरभाव के वृक्ष फलफूल रहे हैं, उसका एक कारण सच्चा या माने हुए नुकसान की स्मृति ही है । मनुष्य की बैरवृत्ति को स्मरणशक्ति का पोषण न होता, तो वह बालक जैसी क्षणजीवी लड़ाई ही खड़ी कर सकती । गृहजीवन के क्लेश में भी यही स्मरणशक्ति कितना बड़ा भाग निभाती है ! इससे तो अंग्रेजी में 'भूल जाओ और क्षमा करो' ऐसा उपदेश वाक्य उद्‌भवित हुआ है ।

इसीलिए साधक को स्मृति का बहुत विवेकपूर्वक उपयोग करना है । स्मृति भारी शक्ति है, पर भाप या विद्युत जैसी शक्ति की तरह इसका भी योग्य नियंत्रण किया हो तो ही उपयोगी होती है । हृदय और बुद्धि के अमुक उदात्त गुणों के नियमन से ही स्मृति साधक को सहायक सिद्ध हो । स्मृति तो साधक-बाधक सभी संस्कारों को प्राणवान कर सकती है । इसीलिए साधक को अमुक को ही पोषना है और दूसरों को

मारना है । इस क्रिया-प्रक्रिया में और उसके परिणाम लाने में साधक का दम निकल जाता है । जैसे दाढ़ में फँस गये किसी भी कण को बाहर निकाल डाले तभी **जीव** को चैन मिलता है, उस तरह हानिकारक संस्कारों को स्मृति की मदद से गहरे जाने रोकने की अथवा पड़े हुए संस्कारों को ताजा होते रोकने की आदत मन को पड़ सकती है, पर अन्तर इतना ही कि जीभ को आदत डालने में कुछ भी मेहनत नहीं है, पर मन को आदत डालने में बहुत साधना करनी पड़ती है ।

साधक ऐसा मन उसी स्मृति की मदद से कर सकता है । साधक को अनुभव होता है कि उसका मन अमुक अधोगामी संस्कारों को शीघ्र ग्रहण कर लेता है, इससे वैसे संस्कार पड़ें ऐसा प्रसंग आने पर साधक को जाग्रत रहकर, तटस्थता रखकर, स्मृति की ही मदद से दूसरे प्रकार की चेतनाशृंखला जोड़कर उस संस्कार को पड़ने से रोकने के लिए या उठते बंद कर देने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है । कोई खराब संस्कार पड़े ऐसी बातचीत या प्रसंग है ऐसा समझ आते ही साधक को नामजप, प्रार्थना या गुरुस्मरण या ऐसा कोई साधन करके उस संस्कार को गहरा पड़ते रोक देना चाहिए । अपना किसी तरफ से अहित होता दिखे तो या तो उदारता के, या तो अहित करनेवाले के दूसरे सद्‌गुणों का, और हो सके तब तक शुभ ही हेतु आरोपित करने में मदद

हो उस प्रकार के संस्कार को साधक जगाता है, तभी फलीभूत होता है ।

आ पड़ी हुई आदत से अलग प्रकार के संस्कारों को जगाने की शक्ति प्राप्त करना यही साधना का एक अंग है । ऐसा करने के लिए प्रत्येक प्रसंग को अलग ही दृष्टिवृत्ति से देखना सीखना पड़ेगा । पूज्य महात्मा गाँधीजी किसी को भी निराश कर डाले ऐसे वातावरण में अदम्य श्रद्धा, उल्लास, हिंमत तथा आत्मविश्वास रखते हैं, उसका कारण वे उस उस समय पर 'सत्याग्रही को तो हार होती ही नहीं' ऐसी कोई मान्यता या ऐसा कोई विचार या ऐसे अनुभव की स्मृति की मदद स्वयं लेते हैं, वह है । निराशा को धकेलते धकेलते उन्हें ऐसी आदत पड़ गयी है कि निराशा हो ही नहीं ऐसा उनके स्वभाव का एक लक्षण हो गया है । 'सजातीय' भाव, विचार आदि जगाने की, स्मृति की मदद से, आदत हुई तभी ऐसा उनके स्वभाव में परिवर्तन हुआ ।

स्मृति में भूतकाल को वर्तमान में जीवंत करने की जो शक्ति है, इससे भी लाभहानि दोनों होते हैं । संतपिता की मृत्यु भूल जाना वह योग्य नहीं है, पर उस स्मरण से दुःखी होने के बदले उसमें से अपने विकास के लिए प्रोत्साहन मिले उसी तरह वह स्मरण हुआ करना चाहिए । इससे स्मृति को विवेक से खींचकर ऐसे ही विचारों को जीवंत रखने के लिए यत्न करना चाहिए कि जिससे प्रोत्साहन मिल सके । थोड़े बहुत

अंश में प्रत्येक की स्मृति प्रेरणात्मक है । इसलिए स्वजनों के वैसे ही स्मरण जाग्रत रखा करें यह साधना की एक रीति है ।

जो जो संस्मरणों में मनोभाव या भावना है, उसमें फँस जाना साधक के लिए सोलह आना संभव रहता है । इससे, उसे तब तो खास चेतते रहना है । उस समय में खूब तटस्थता बनाकर उन संस्मरणों को रचनात्मक भाव देना चाहिए । यह तटस्थता यानी 'जड़ भरत' की वृत्ति नहीं । जगत के साथ अपना कुछ भी लेनादेना नहीं है ऐसी बेपरवाही भी नहीं पर भगवद्भाव में मदद करे ऐसी प्रेमभीगी अनासक्ति ।

साधारण मान्यता अनुसार तो संत, संसार में रहता हो, तब भी जगत की ओर—'मायावी' दुनिया की ओर—बिलकुल बेपरवाह की वृत्ति रखता है । ऐसी सोच से जाने अनजाने खींचकर अनेक साधक ऐसी वृत्ति और उसके फलस्वरूप विस्मृति की वृत्ति रखते हैं । एक ऐसी भी मान्यता है कि संत तो व्यवहार में बिलकुल ही जड़ हो, व्यवहारकुशलता और संतता इन दोनों के बीच तेज-छाया का संबंध हैं । हमारी बुद्धि ऐसी मान्यता को आधार देती दलील भी करती है । 'भक्त का मन तो भगवान के चरण में रखा हो, इसलिए उसे दुनिया के बारे में विचार करने का समय भी न मिले और शक्ति भी न मिले । इसलिए गृहस्थ जीवन के लक्षण संत में न हो । स्वयं किसी के यहाँ मेहमान के रूप में जाना हो तो वह हकीकत ही भूल जाय (अपनी मस्ती में) और अतिथि

की राह देखते उस गृहस्थ कुटुंब कितनी भी असुविधा में आ पड़े तो भी इससे संत को क्या ?' कितनी ही बार ऐसा गिनने में आता है । घर के नित्य व्यवहार में वह कुछ न कुछ भूल ही करता हो । नरसिंह मेहता घी लेने गये थे वैसे उदाहरण तुरन्त याद आते हैं ।

किन्तु नरसिंह मेहता की उस समय पर कितनी उच्च कक्षा होगी, उस समय के उनके संयोग कैसे होंगे, वह प्रसंग सचमुच बना था या फिर कवि ने कल्पना में ही पैदा किया हुआ था, यह सब भी साथ-साथ सोचना चाहिए । फिर, यदि हम संत में भगवान की सर्व शक्तिमत्ता तथा सर्वज्ञता का गुण आरोपित करते हों तो संत अपने जीवनपथ में आती सभी बातों में पूर्णत्व प्राप्त किया होना चाहिए । इससे जितना वह भगवान के रस में ओतप्रोत हो उतना ही भगवान के ही आविर्भावरूप इस सृष्टि के उसके लगते कार्यों में प्रवीण होना चाहिए । यों, उसमें एकाग्रता और शतावधानता के गुण साथ-साथ ही होने चाहिए । साधक को भी उसी दिशा में प्रयत्न करना है । जगत के विषय की ओर बेपरवाही और विस्मृति रखे उसे रास न आएगा । भगवान को दया और कठोरता, अत्यन्त लघुता और महापन (अणु से भी छोटा और महान से महान भी बड़ापन) आदि परस्पर विरोधी दिखते लक्षणों से वर्णन करने में आया है और संतपुरुष उसका जीवंत प्रतीक है । इसलिए उसमें भी वैसे गुण होने संभव । **साधक यानी भविष्य का संत ।**

साधक को तो ऐसी बेपरवाही और विस्मृति हानि पहुँचाती है, इसे बुद्धि से भी समझ सकते हैं। संसार में रहता होने से वह अनेक के संबंध में आएगा। सामनेवाले के स्वभाव के कारण नहीं पर अपनी अकुशलता के कारण यदि साधक के संबंधिओं में उसके प्रति द्वेष या क्रोध की वृत्ति उद्‌भव हो तो वह भी एक सूक्ष्म विरोधी बल है और प्रेम जैसे साधक को मदद करता है वैसे द्वेष एक नकारात्मक बल होने से साधक को हानि करता है। फिर, किसी के अंतर के आशीर्वाद कब मिले कि जब उसकी कोई बहुत जरूरी लगती कमी पूरी हो। साधक में ऐसी कमी पूरी कर सकने की शक्ति हो। उदाहरण के रूप में, कोई चीज लाकर देना, तथापि वह भगवान में तल्लीन रहने के कारण से लाकर न दे तो उसके आशीर्वाद वह खोयेगा। यों, साधक को प्रभु ने दिया हुआ आत्मविकास लिए का एक मौका वह खोता है। साधक के भुलक्कड़पन से दूसरे को त्रास हो तो साधक का वह कर्म जरूर उसे ही अवरोधेगा। इससे, प्रत्येक सूक्ष्म दिखते, नगण्य लगते, 'स्थूल' दिखते कर्मों की ओर भी साधक की चकोर दृष्टि जानी ही चाहिए। यह दृष्टि स्मृतिशक्ति की मदद से मिल सकती है। ऐसे स्थूल से स्थूल द्वारा सूक्ष्मता के विषय के विकास में साधक को स्मृतिशक्ति बहुत मदद करती है।

अंत में साधक को स्मृति रखने के लिए मेहनत नहीं करनी पड़ती। अपनेआप कौन-से समय में क्या करना है

उसकी स्मृति अंत:करण से ही उठती है । इससे ऐसे साधक को तो एक दृष्टि से देखें तो स्मृति का—यानी योग्य समय पर योग्य प्रकार की स्मृति का—स्वभाव ही हो जाता है । उसमें और अंत:स्फुरणा में फिर कुछ अंतर नहीं रहता, पर वह साधक जब सर्वव्यापी चैतन्यशक्ति यानी कि भगवान का अति शुद्ध वाहकयंत्र बन जाय तब ।

सबसे उत्तम स्मृति अथवा साधक की स्मृति के विकास की अंतिम सीढ़ी तो अलबत्ता, सतत निरंतर-सदा ही की भगवत्स्मृति-भगवद्भाव में ही पड़े रहने का स्वभाव । स्थूल कार्य करने में असाधारण कुशलता रखनेवाले और उसमें अद्भुत स्मरणशक्ति रखनेवाले प्रमाण में अनेक होंगे । पर वे अपने-अपने क्षेत्र में ही-उस क्षेत्र में अतिशय रस के परिणाम से पड़े हुए अभ्यास के कारण से, किन्तु अपने मन की प्रत्येक क्रियाओं, भावनाओं, मनोभावों, विचारों आदि के बारे में स्मृतिशक्ति का उपयोग—योग्य उपयोग—कर करके उन सभी का योग्य रूपान्तर करने को यत्न करनेवाले कुछ ही होंगे और उनमें भी थोड़े वैसा सचमुच कर सकनेवाले । इसप्रकार, स्मृति यह साधन भी है और सिद्धि भी है । जब स्मृति भगवती चेतना स्वरूप होती है, तब वह सिद्धि है । भगवान कहते हैं, कि 'नारी स्वरूपों में (एक स्वरूप) स्मृति हूँ ।' इसका अर्थ ऐसा कुछ होगा ।

● ● ●

पूर्णपुरुष

॥ हरिः ॐ ॥

साबरमती आश्रम,
दिसम्बर, १९४२

पूर्णपुरुष को पहचानना और उसकी ठीक कदर करना यह कोई सरल बात नहीं है । साधारण रूप से हमारे में पूर्णपुरुष विषयक भिन्न-भिन्न विचार व्याप्त हैं । पुस्तकों के पाठ से, हमारी अपनी कल्पना की तरंगों से, हमारी अपनी समझ के दृष्टिबिन्दु से और समझ के प्रचलित विचारों से, पूर्णपुरुष की रहनीसहनी से अमुक दृढ़ ख्याल हमारे में पहले से ही घर कर गये होते हैं ।

बहुतों की दृष्टि से पूर्णपुरुष अर्थात् जिसने अपने जीवन की आवश्यकताएँ कम से कम कर डाली हों, दलितों और गरीबों के लिए उसमें अत्यन्त करुणा हो । उसे अपने व्यक्तिगत-निजी-मुक्ति की कुछ ही पड़ी न हो, वह तो समस्त मानव समुदाय के लिए दया का सागर ही हो और मानवजात के उद्धार के लिए ही वह प्रयत्न करे । अन्य कुछ ऐसा मानते हैं कि पूर्णपुरुष यानी जो मौन का पालन करे अथवा कम से कम बोले वह । उसका चेहरा शांत, गंभीर हो । उसके समीप पहुँचते ही उसकी भव्यता अथवा साधुता की छाप हम पर पड़ेगी ही आदि आदि । पर यदि वह खिलखिलाकर हँसता मालूम पड़ा या कोई साधारण प्रवृत्ति में मशगूल हुआ दिखा,

दुनिया के विषयों में रस लेता और इससे 'क्षुद्र' बाबतों विषयक खुलकर बात करता लगे, तो बस, खलास–वह कितना भी महान हो तब भी उनकी नजर से तो वह बहुत हुआ तो अपनी महान शक्ति और बुद्धि से लोगों पर प्रभाव और सत्ता बिठानेवाला और अपनी ओर सबको आकर्षित करनेवाला पुरुष ही दिखेगा । ऐसे लोग उसे साधारण पुण्यवान अथवा चारित्र्यवान और समर्थ गिनने की उदारता भी बतलाये, पर आखिर में तो वह 'दुनिया' यानी निम्न पार्थिव–भूमिका में ही घूमनेवाला उन्हें लगेगा ।

पर आँखों में बिठाने जैसा, उपरोक्त लिखे अनुसार की चिट्ठियाँ किसी पूर्णपुरुष के ललाट पर चिपकायी हुई नहीं होती । शाक बेचनेवाले ने, बजाज ने, और होशियार जौहरी ने एक ही हीरे की अलग–अलग कीमत आंकी, यह बात इस बारे में ठीक लागू होती है । सच्चे संत के बारे में तो क्या, पर प्रत्येक असाधारण विभूतिवाले सत्त्व की संपूर्ण कदर तो उससे ही होगी कि उस विषय में ज्ञानभानपूर्वक मंथन करके विशेषज्ञ हुआ हो । ऐसा कहा जाता है कि प्रो. आईन्स्टाईन का सापेक्षवाद आज भी दुनिया के उंगली पर गिने इतने व्यक्ति संपूर्ण रूप से समझते हैं । उसी तरह 'पूर्णपुरुष' पूर्णपुरुष के रूप में उसे ही दिखता है कि जिसमें उसके लिए की दृष्टि हो और कदर करने योग्य हृदय हो ।

इस कारण से, इस लेख में प्रस्तुत विषय के बारे में सत्य की सीमा बतलाई है, ऐसा बिलकुल भी दावा नहीं है ।

इसमें अनेक त्रुटियाँ होने का पूरा संभव है। यह तो उस विषय के सम्बन्ध में दिशानिर्देश का मात्र नम्र प्रयास है। कुछ अंश में सच्चे संतों के सहवास से, कुछ अंश में हार्द खोज निकालने का एकमात्र हेतु रखके किये हुए पुस्तकों के वाचन से, कुछ अंश में चाहे जैसी जाज्वल्यमान विभूति हो, तब भी उससे चौंधिया न जाने का निश्चय करके उसके कथन और वर्तन के यथाशक्ति शांतचित्त से किये हुए अवलोकन और मनन से और कुछ अंश में विरोधी या अलग-अलग विचारों के प्रचंड तूफान से खींचकर न जाने के दृढ़ निश्चय से जो कुछ समझ में आया है, उसका निचोड़ इस लेख में देने का प्रयत्न है। सच्चा संत कैसा होना चाहिए उस विषय में जहाँ तक हमारे मन में अमुक मंतव्य जड़ डालकर बैठे हों, वहाँ तक हिरण्यमय पात्र में छिपे हुए सत्य का मुख—इस स्थान पर संत का सच्चा दर्शन—देखना असंभव है। इसके लिए तो संपूर्ण निराग्रही, यानी कि परिणाम का भय रखे बिना सत्यदर्शन की उत्सुकता जहाँ हमें ले जाय वहाँ जाने की तैयारीवाले, साहसवाले और श्रद्धावाले मानस की आवश्यकता है, उसके बिना सत्यदर्शन असंभव है।

पूर्णपुरुष की पूर्णता कोई स्थूल आँखों से दिखे ऐसे स्थूल क्षेत्र में नहीं पर मन या हृदय या स्वभाव के सूक्ष्म प्रदेश में ही रही हुई है; और इसलिए उसे देखने के लिए सूक्ष्म दृष्टि ही काम आती है, यह महत्त्व की हकीकत हमें इस बाबत में

भूलनी नहीं चाहिए, इसीलिए ही संत को पहचानने के लिए उपरोक्त लिखा हुआ विवरण लिखना पड़ा है ।

फिर, दूसरा कारण यह है कि उच्च कोटि की आत्मा लगभग अपारदर्शक है । कोई चालबाज, प्रपंची मनुष्य की चाणक्यनीति अब भी परख सकते हैं, उसे पकड़ सकते हैं, पर पूर्णपुरुष किस उद्देश से अमुक काम करता है, उसे खोज निकालना बहुत कठिन है । उसके उद्देशों को हमारी कल्पना साधारण रूप से पहुँच नहीं सकती । हम तो अपने क्षुद्र मानस के गज से उसके मानस का माप निकालने जाते हैं, पर यद्यपि पूर्णपुरुष भी हमारे जैसा ही हड्डी चमड़ी का मढ़ा हुआ व्यक्ति है तथापि, उसका देह तो उस विभूति का बहुत ही अल्पांश है । पर उसके असामान्य, अद्‌भुत, अमुक बार चमत्कारी लगे ऐसे अनुभव के कारण मनुष्यरूप धारण करनेवाला वह पुरुष सचमुच रूप से गगनस्पर्शी है । उसका मानस या **जीव** आकाश जितना विशाल है । और इससे उसमें से उद्‌भवित हुई कृतियाँ बाहर से बिलकुल साधारण या कितनी ही बार उलटी विकृत दिखती हैं, तथापि सही रूप में लोकोत्तर होती है ।

उदाहरण रूप में, जो जो प्रसंग संसार के रसिकों को खूब क्लेश करनेवाले और दिल भावमग्न हो पड़े, उन प्रसंगों में वह तो पूर्ववत् शांत ही रहा हुआ दिखाई देता है । दयाहीन शत्रु का भयंकर आक्रमण, दुष्कालरूपी राक्षस का सर्वभक्षण या दूसरी कोई आसमानी सुलतानी या प्राणघातक व्याधि की

चपेट आदि उल्कापातों भी उसे स्पर्श भी कर सकते दिखते नहीं। ऊपर-ऊपर की दृष्टि से वह यों बिलकुल हृदयहीन भी दिखे।

पर सही रूप से वह निष्ठुर नहीं है। जो दूसरे देख नहीं सकते, वह उसे दीपक जैसा दिखता है, इसीसे ही वह ऐसे प्रसंगों में निश्चल रहता है। वह जानता है कि वस्तुमात्र अपने आपकी नियति का अनुसरण करती है और इसीसे वस्तुमात्र की उत्क्रांति बाहर के अवरोध के बिना—अपनेआप ही—होने देने को वह योग्य गिनता है; और इससे ऐसे प्रसंग में वह निश्चेष्ट रहता है या दिखता है। फिर, उसकी मात्र सूक्ष्म, गूँगी अनुकंपा दूसरों की भागदौड़ और धाँधली प्रवृत्तिओं से कई अधिक असरकारक हैं, उसका उसे अकेले को ही अनुभव है।

सरल ढंग से अपने मार्ग पर बह जाती नदी जैसी उसकी वृत्ति होती है। वह अपने आपको निर्बंध रखता है और उसी तरह दूसरों को भी मुक्तरूप से विहार करने देता है कि जिससे वे अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार गढ़े। यों, यद्यपि प्रत्यक्षरूप से वह बिलकुल निवृत्त लगता है, पर सचमुच रूप से दूसरों की वह अच्छे से अच्छी सेवा करता है।

उसकी दृष्टि में कुछ भी तत्त्वतः दूसरे से बढ़कर नहीं है। वह अपना स्वत्व भूलता है और इससे वह सब भेदभावों से पर जा सकता है। कुछ भी उसे लालसा या आकांक्षा न होने से उसे किसी के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इससे

उसके लिए विजय, फलप्राप्ति या पूर्णाहुति जैसा कुछ ही नहीं रहता । उसकी आत्मा सर्व का समावेश करती है । इससे, वह संपूर्ण समता से वस्तुमात्र के साथ एकाकार होता है और इसप्रकार अपना व्यक्तित्व लुप्त करता है । संतात्मा को इसलिए कोई नाम नहीं है ।

वस्तुमात्र, संयोगमात्र और स्थानमात्र से उसे पूर्ण संतोष है । इससे, वह सदा का सुखी **जीव** है । बदलाव तो उसे शाश्वत समुद्र की तरंगे ही लगती हैं । और ऐसी तरंगों पर वह सरलता से तैरता है । **किसी की भी कमी, इच्छा या आवश्यकता न होने से राजकार्य सँभालने के लिए भी वही सबसे लायक है ।**

प्रत्येक वस्तु अपनेआप, स्वयं ही, उसमें सर्जित होती है, ऐसा वह जानता है । मतमतांतरों के लिए किसी भी प्रकार का पक्षपात या नापसंदगी भोग या त्याग उसे नहीं होता है । इतना ही नहीं, पर उसका अपना मत ही नहीं होता । अलग-अलग मंतव्यों में से किसी का भी वह विरोध नहीं करता । वह मात्र उसके पार जाता है और परे होता है । स्वाभाविक रूप से और सरल भाव से हो रही हुई सभी की उत्क्रांति को स्वस्थता से देखा करता है । इससे, वह कुदरती रूप से परिणित होती वस्तुस्थिति में अवरोधरूप नहीं होता ।

वह परमतत्त्व में सदा ही डूबा हुआ रहता है और इससे वह स्वयं ही अंतिम ज्ञान है । वह किसी भी प्रकार की रचना

नहीं करता है । इससे वह किसी का विनाश नहीं करता । वह प्रत्यक्ष अनुभव में ही रहा करता है । उस पर संस्कार पड़ते हैं पर वह उसे संग्रह कर नहीं रखता । अनुभव के पहले या बाद में उसके बारे में वह कुछ भी सोचता नहीं है । भावी के लिए कोई उत्सुकता नहीं होती और उस बारे में वह बिलकुल निःस्पृह रहता है । जिस प्रकार अदृश्य ढंग से समय बीत जाता है उसी तरह भूतकाल उसमें से निकल जाता है, उसके लिए वर्तमान जैसा भी कुछ नहीं है । बाहर की दुनिया का सभान अवलोकन या आंतरिक दुनिया का सभान संवेदन उसे नहीं होता ।

प्रत्येक वस्तु में वह उस उस रूप में आनंद उठाता है और प्रत्येक स्थान और प्रत्येक बदलाव को वह अनुकूल होता है । जीवन और मृत्यु के लिए उसे कोई परवाह नहीं होती । उसका मन खाली है । जो कोई छाप उसमें पड़ती है, वह छाप उसकी चेतना में पड़ती है । उसकी आत्मा तो अलिप्त रहती है, परन्तु सामान्य रूप से उसे ऐसी कोई छाप पड़ती हो, ऐसा भान नहीं होता । किसी समय पर जब उसकी चेतना में छाप उठती है, तब कोई वह भगवद् कार्य में परिणित होकर अपनेआप वापिस विलीन हो जाती है, पर संतलोगों की वृत्ति को हम पा नहीं सकते । सचमुच देखें तो उनको वृत्ति होती ही नहीं ।

वह तो मात्र स्वयंचालित तत्त्व है । कोई बार वह शांत उपायों से काम लेता है, तो कोई बार फिर दूसरी तरह से – जैसी प्रसंग की जरूरत और परिस्थिति, परन्तु उसकी भूमिका तो गुणों से पर ही रहती है, किसी समय फिर गुणों में भी होती है और कितनी ही बार तो गुणों में भी नहीं और गुणों से पर भी नहीं ऐसी कोई अगम्य मध्यम स्थिति में भी उसकी भूमिका रहती है । जो कुछ अनिवार्य है उसे उस विधि का निर्माण जानता है और इससे वह हमेशा स्वस्थ रहता है । प्रत्यक्ष रूप से वह दूसरों को अनुपयोगी है, पर उसके अस्तित्वमात्र से ही अपनेआप समस्त विश्व की उत्क्रांतिमात्र में वह भाग लेता है । यों, पूर्णपुरुष प्रत्येक को अपने आपकी परिपूर्णता की प्राप्ति उन उनके ढंग से करने देता है । तत्त्व से विरोधात्मक ऐसा उसे कुछ दिखता नहीं ।

वह स्तुतिनिंदा से पर है । उसकी प्रकृति के स्वरूप और लक्षण अलग-अलग प्रकार के होते हैं । काल के प्रवाह पर वह तैरता हुआ बहता है और किसी को भी आग्रह रखकर पकड़कर नहीं रखता । वह कभी ऊँचे और कभी नीचे होता है । घटनाओं के प्रति वह सदा ही प्रशांत होता है । वह स्वयं प्रसंगों को प्रसंगों ही मात्र गिनता है और वैसा व्यवहार करता है, प्रसंगों उसे अपने प्रवाह में खींच नहीं सकते । प्रसंगों की गति, उनका उत्साह और उनका मोड़ वह अपने में मोड़ता है ।

वह स्वयं ही पराकाष्ठा है, क्योंकि वह कालचक्र की गति को परखता है । इससे, काल से होते परिवर्तन उसे अस्वस्थ नहीं कर सकते । यों, जब वह काल को परखता है, तब वह उनके कारण खोजने नहीं बैठता । विसंवादी घटना में भी वह संवाद देखता है । उसमें 'मैं' जैसा कुछ नहीं है । इससे उसे किसी में राग नहीं है और फलस्वरूप किसी प्रकार का युद्ध या हार उसे सहन नहीं करने पड़ते है । विधि की कृतियाँ उसे हिलाडुला नहीं सकती । उसमें सद्‌गुण हैं, पर मानो नहीं है ऐसा वह दिखता है । वह शरीर से मनुष्य है सही, पर वह मनुष्य जैसा स्पष्ट लगता नहीं । वह किसी प्रकार की योजना का निर्माण नहीं करता । इससे, उसे ज्ञान की जरूरत नहीं होती । उसके विचारवर्तन में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है । इससे, उसे नैतिक सिद्धांतों की आवश्यकता नहीं रहती । उसे किसी के प्रति पार्थिव प्रेम नहीं है । पराक्रम से मिले ऐसी कोई सिद्धि उसे नहीं चाहिए । इससे, निष्फलता के लिए शोक या विजय के लिए हर्ष का उसे कारण नहीं रहता ।

उसे कुछ भूलने जैसा भी नहीं है और याद रखने जैसा भी नहीं है । वह स्वयं ही शुद्ध अनुभव है । इससे, वह शुद्ध विज्ञान है । प्रकृति और पुरुष का वह एकीकरण है और वस्तुमात्र को तत्त्व में समान रूप से देखता है । उसके लिए वस्तुओं के बीच कहीं परस्पर विरोध नहीं है । वह उन उन

वस्तुओं को, उन उनके अनुभव की दृष्टि से देखता है । सबके ऊपर, सबके अंदर और सबके बीच वह तत्त्वरूप से है । इससे, वह खाली है और भरपूर भी है । उसे अपनी अलग अस्मिता का भान नहीं होता, क्योंकि स्वभाव से ही सरलता से सर्वत्र होता है । यों, वह अद्‌भुत ढंग से अपने आपका एकीकरण और समीकरण अपनी दूसरी जात के साथ करता है । वह गुणों की समग्रता है । अस्तित्वमात्र की– सर्जन की, प्रेरणा की, जड़ और चेतन की, मन और पदार्थ की, काल और अवकाश की इन सभी की समग्रता में भी वही है । संक्षेप में, प्रकृति के स्वयंभूपन की समग्रता भी वह स्वयं ही है ।

एक तरह से वह कुछ भी नहीं करता, क्योंकि प्रत्येक जो भी है, स्वयंभू है, परन्तु वह स्वयंभूत्व की समग्रता होने से दूसरी तरह से देखते वह सभी करता है । यों, सर्जन न करता होने पर भी वह सर्जन करता है । उसे तो सभी सर्जन और विनाश की मर्यादा में फँसा हुआ लगता है । फिर, उसे विनाश की प्रक्रिया में भी सर्जन की ही प्रक्रिया दिखती है । सर्वव्यापी, पूर्ण, शांत, कल्याणकारी सत् से अलग ऐसी उसे एक भी इच्छा नहीं है । वह ऐसे, निवृत्ति में प्रवृत्त रहता है । वह कुछ अयोग्य नहीं करता । वह रोता है, हँसता है, विनोद करता है, बोलता है, बात करता है, गुनगुनाता है, या बड़बड़ाता है, और ऐसी सब क्रियाएँ करता है, पर वह अपनेआप

अनुकंपा से । निर्मल सरलता में वह विहार करता है और सभी के साथ अभेद अनुभव करता है । व्यक्तिगत रूख जैसा उसे कुछ नहीं होता । अपने आप उसकी असर सर्वव्यापी होती है और ऐसे, जो कुछ भी अपने स्वरूप को पाता है । कई बार वह निश्चेष्ट दिखेगा, तो कई बार खूब स्फूर्तिवाला और प्रवृत्तिमान लगेगा । कभी स्थिर, स्वस्थ और शांत, तो कभी उदासीन । इसप्रकार, वह सारे आवेग और वृत्तिओं की भी समग्रता है और उसके पार वह जाता है । इस तरह प्रवृत्ति में भी वह निवृत्त रहता है ।

उसे और कीर्ति को कोई लेनादेना नहीं है । वह किसी का मालिक नहीं और सभी का मालिक है । वह अनंत के साथ तन्मय होता है । उसका मन दर्पण जैसा है । इससे, वह परिस्थिति के प्रति कुशल वर्तन रख सकता है, परन्तु परिस्थिति उसे कभी नहीं घेर सकती है । काल को समझने और उसके हेतु की तथा संयोगों की यथार्थता की उसे सूझ पड़ जाती है, और उस तरह दुनिया को वह अपना सँभाल लेने देता है । वह किसी का भी अनुकरण नहीं करता है, क्योंकि अनुकरण से समययोग्य वर्तन नहीं होता । उसे अकेले उसके अपने ही साथ बराबरी कर सकते हैं, दूसरे किसी के साथ नहीं । ऐसा वह अनोखा है । वह दूसरे किसी पर आधार नहीं रखता है और वह स्वयं स्वतंत्ररूप से संपूर्ण होता है ।

अनेक चीजों की ओर वह एक साथ लक्ष देता है, पर उसमें वह प्रवाहित नहीं होता है और बहुत बोझा उठाता है, तब भी उसका हृदय हलका ही रहे, ऐसी उसकी कला उसमें अपने आप ही प्रकट हुई होती है । **वस्तुमात्र की तात्त्विक समता का ज्ञान उसे होता है । प्रत्यक्ष भेद में वह तो सत्य दृष्टि से एकता ही देखता है । इसप्रकार, वह अगम्य है । उसके लिए नेति ही शब्द उपयोग हो सकता है ।**

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

आरती

ॐ शरणचरण लीजिए, प्रभु शरणचरण लीजिए
पतित को उबार लीजिए (२) कर पकड़ हृदय लगा लीजिए...
ॐ शरणचरण.

मन-वाणी के भाव आचरण में उतरें प्रभु (२)
मन, वाणी और दिल को (२) कृपा कर एक करें...ॐ शरणचरण.

सभी स्वजनों के साथ, दिल में सद्भाव जगें, प्रभु (२)
भले अपमान हुए हों (२) तब भी भाव बढ़े...ॐ शरणचरण.

हीन प्रकार की वृत्ति; ऊर्ध्वगमन करने, प्रभु (२)
प्रभुकृपा से मथन करावें (२) चरणशरण पाने...ॐ शरणचरण.

मन के सकल विचार, प्राण की वृत्ति, प्रभु (२)
बुद्धि की सभी शंकाएँ (२) चरणकमल में द्रवित हो...ॐ शरणचरण.

जैसे भी हो प्रभु, वैसे ही दीखें, प्रभु (२)
मति मेरी खुली रहे (२) स्पष्ट ही परखें...ॐ शरणचरण.

दिल में कुछ भरा हो, उससे सब उल्टा, प्रभु (२)
मुझसे कभी न हो (२) ऐसी मति दें...ॐ शरणचरण.

जहाँ जहाँ गुण और भाव, वहीं दिल मेरा टिके, प्रभु (२)
गुण और भाव की भक्ति (२) मेरे दिल में संचरित करें...ॐ शरणचरण.

मन, मति, प्राण प्रभु । तुम्हारे भाव से पिघले प्रभु (२)
दिल में तुम्हारी भक्ति की (२) लहरें उछले.... ॐ शरणचरण.

– मोटा

॥ हरिः ॐ ॥

पूज्य श्रीमोटा के जीवन का परिचय

जन्म	:	ता. ४-९-१८९८ भाद्रपद कृष्ण चतुर्थी, वि. सं. १९५४
स्थान	:	सावली, जिला वडोदरा (गुजरात)
नाम	:	चुनीलाल ।
माता	:	सूरजबा ।
पिता	:	आशाराम ।
जाति	:	भावसार ।
उपनाम	:	भगत ।
१९०३	:	कालोल में निवास, गरीबी का आरंभ ।
१९०६	:	मजूरी के काम ।
१९१५	:	तौला की नौकरी ।
१९१६	:	पिता की मृत्यु ।
१९०५ से १९१८	:	टुकड़ों में पढ़ाई के साथ कठिन मजदूरी ।
१९१९	:	मैट्रिक उत्तीर्ण ।
१९१९-२०	:	वडोदरा कॉलेज में ।
दि.६-४-१९२१	:	कॉलेज का त्याग ।
१९२१	:	गुजरात विद्यापीठ में ।
१९२१	:	विद्यापीठ का त्याग । हरिजन सेवा का आरंभ ।
१९२२	:	मिरगी की बीमारी से तंग आकर गरुड़ेश्वर की चट्टान से आत्महत्या का प्रयास, दैवी रक्षा; 'हरिः ॐ' जप से रोग मिटाने का सफल प्रयोग । श्रीबालयोगीजी द्वारा दीक्षा । श्रीसद्गुरु केशवानंद धूनीवाले दादा के दर्शन के लिए सांईखेड़ा गए । रात्रि को श्मशान में साधना और दिनभर प्रभुप्रीत्यर्थ हरिजन सेवा ।

१९२३ : 'तुज चरणे' तथा 'मनने' की रचना ।

१९२४ : डाकोर में श्रानथ्थुराम (मगरमच्छ) से मिलन, हिमालय की प्रथम यात्रा ।

१९२६ : विवाहहस्तमिलाप के अवसर पर समाधि का अनुभव ।
हरिद्वार कुंभमेले में श्रीबालयोगीजी की तलाश ।

१९२८ : हरिजन आश्रम, बोडाल में सर्पदंश -परिणाम स्वरूप 'हरिः ॐ' जप अखंड हुआ ।

१९२८ : 'तुज चरणे' के प्रथम संस्करण का प्रकाशन ।

१९२८ : दूसरी हिमालय-यात्रा ।

१९२८ : साकुरी के पूज्य श्रीउपासनीबाबा का नडियाद में आगमन, उनके आदेश पर साकुरी गये, वहाँ मलमूत्र के बिस्तर में भूख-तरस, सख्त पत्थर-मार सहन करते दस-ग्यारह दिन ध्यान, समाधि अवस्था में ।

१९३० : मन की नीरवता का साक्षात्कार ।

१९३० से ३२ : इस दौरान साबरमती, विसापुर, नासिक और यरवडा जेल में हेतु देशसेवा का नहीं, साधना का । कठोर परिश्रम और लाठी चार्ज के दौरान प्रभुस्मरण-मौन । विद्यार्थियों को समझाने के लिए विसापुर जेल में सरल गुजराती भाषा में श्रीमद् भगवद्गीता को लिखा—'जीवनगीता' ।

१९३३ : तीसरी हिमालययात्रा । बर्फ में रहते महात्मा मिले ।

१९३४ : सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार । मल-मूत्र के आधार पर पचीस दिन की साधना ।

१९३४ से १९३९ : दौरान हिमालय में अघोरीबाबा की मुलाकात बाद में नर्मदा धुंआँधार के प्रपात के पीछे की गुफा में

साधना। चैत्र मास में ६३ धूनियाँ जलाकर नर्मदा किनारे खुले में शिला पर नग्न बैठकर साधना। कराची में नर्क चतुर्दशी की रात्रि को समुद्र में शिला पर ध्यान, चालीस दिन के रोजे, 'समुद्र में चले जाने का हुक्म और ईद के दिन पूरे शहर में नग्न अवस्था में घूमकर घर जाने सांईबाबा का हुक्म। शिरडी के सांईबाबा के प्रत्यक्ष दर्शन—आदेश—साधना के अंतिम चरण का मार्गदर्शन।

१९३९ : दि. २९-३-३९ : रामनवमी विक्रम संवत १९९५ काशी में निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार। हरिजन सेवक संघ से त्यागपत्र। 'मनने' के प्रथम संस्करण का प्रकाशन।

१९४० : दि. ९-९-४० : हवाई मार्ग से अहमदाबाद से कराची जाने का गूढ़ आदेश।

१९४२ : माता का अवसान।

१९४२ : हरिजन सेवक संघ से अलग होने पर भी हरिजन कन्या छात्रालय के लिए मुंबई में चन्दा इकट्ठा किया। दो बार सख्त पुलिसमार—देहातीत अवस्था के प्रमाण।

१९४३ : २४, फरवरी गाँधीजी के पेशाब के जहरीले जन्तुओं का अपने पेशाब में दर्शन। नैमित्तिक तादात्म्य का अनुभव।

१९४५ : हिमालय की यात्रा - अद्‌भुत घटनाएँ।

१९४६ : हरिजन आश्रम, अहमदाबाद मीराकुटिर में मौनएकांत का आरंभ।

१९४७ : आश्रम स्थापने का विचार।

१९५० : दक्षिण भारत के कुंभकोणम् (तामिलनाडु) में कावेरी नदी के किनारे हरि:ॐ आश्रम की

स्थापना । (सन १९७६ में देहत्याग के बाद आश्रम बंद कर दिया गया ।)

१९५४ : सूरत तापी नदी के किनारे कुरुक्षेत्र जहाँगीरपुरा के श्मशान में मौनएकांत का आरंभ ।

१९५५ : दि. २८-५-५५ : जूना बिलोदरा, शेढी नदी के किनारे, नडियाद, गुजरात, हरि:ॐ आश्रम की स्थापना ।

१९५६ : दि. २३-४-५६ सूरत (गुजरात) तापी नदी के किनारे, कुरुक्षेत्र जहाँगीरपुरा में हरि:ॐ आश्रम की स्थापना ।

१९५९ : १६-८-१९५९ हरि:ॐ आश्रम, सूरत में मौनमंदिर का उद्घाटन ।

१९६२ : समाजोत्थान की प्रवृत्ति, उत्सव मनाने की संमति ।

१९७० से १९७५ : शरीर में पीडाकारी वेदना के साथ सतत प्रवास, वार्तालाप और साधना का इतिहास, श्रद्धा, निमित्त, रागद्वेष, कृपा आदि भाववाही विषयों पर लेखन - प्रकाशन ।

१९७६ : १९-७-१९७६ देहत्याग का संकल्प, हरि:ॐ आश्रम नडियाद ।

२२-७-१९७६ देहत्याग विधि का प्रारंभ : सायंकाल ४ बजे से फाजलपुर (जि. वडोदरा, गुजरात) मही नदी के किनारे श्री रमणभाई अमीन के फार्म-हाउस में ।

२३-७-१९७६ : देहविसर्जन : श्री रमणभाई अमीन के फार्म-हाउस नजदिक मही नदी के किनारे फालजपुर (जि. वडोदरा, गुजरात)

● ● ●

हरि:ॐ आश्रम सूरत में उपलब्ध हिंदी पुस्तकों का लिस्ट

क्रम	पुस्तक	प्र. आ.
१.	पूज्य श्रीमोटा एक संत	१९९७
२.	कैंसर का प्रतिकार	२००८
३.	सुख का मार्ग	२००८
४.	दुर्लभ मानवदेह	२००९
५.	प्रसादी	२००९
६.	नामस्मरण	२०१०
७.	हरि:ॐ आश्रम (श्रीभगवान के अनुभव का स्थान)	२०१०
८.	श्रीमोटा के साथ वार्तालाप	२०१२
९.	विवाह हो मंगलम्	२०१२
१०.	बालकों के **मोटा**	२०१२
११.	विद्यार्थी **मोटा** का पुरुषार्थ	२०१२
१२.	मौनमंदिर का मर्म	२०१३
१३.	मौनमंदिर का हरिद्वार	२०१३
१४.	मौनएकांत की पगडंडी पर	२०१३
१५.	मौनमंदिर में प्रभु	२०१४

●

English books available at Hariom Ashram, Surat.
January - 2020

No.	Book	F. E.
1.	At Thy Lotus Feet	1948
2.	To The Mind	1950
3.	Life's Struggle	1955
4.	The Fragrance Of A Saint	1982
5.	Vision of Life - Eternal	1990
6.	Bhava	1991
7.	Nimitta	2005
8.	Self-Interest	2005
9.	Inquisitiveness	2006
10.	Shri Mota	2007
11.	Rites and Rituals	2007
12.	Naamsmaran	2008
13.	Mota for Children	2008
14.	Against Cancer	2008
15.	Faith	2010
16.	Shri Sadguru	2010
17.	Human To Divine	2010
18.	Prasadi	2011
19.	Grace	2012
20.	I Bow At Thy Feet	2013
21.	Attachment And Aversion	2015
22.	The Undending Odyssey (My Experience of Sadguru Sri Mota's Grace)	2019
23.	Pujya Shri Mota Glimpses of a divine life (Picture Book)	2020
24.	Genuine Happiness	2021

●

॥ હરિ:ૐ ॥

॥ हरिः ॐ ॥

॥ हरिः ॐ ॥

इस शरीर के आज के जन्मदिन के अवसर पर मेरे हृदय का ऐसा प्रेम तुम्हारे चरण में सिर रखकर तुम्हारे आशीर्वाद माँगता है। प्रभु मुझे जहाँ रखे वहाँ (जहाँ होऊँ वहाँ) तुम्हारे हृदय का निर्मल प्रेम का प्रवाह मेरे प्रति सदा ही बहता रहे ऐसी हृदय से प्रार्थना करता हूँ। अपने बालकों पर जो प्रेम होता है, उससे भी अधिक उत्कट भावनाभरा शुद्ध प्रेम मुझे तो चाहिए। अपने बालकों के संदर्भ में हमारा प्रेम, वह शुद्ध निःस्वार्थ भावना का न होने से उसमें चाहिए उतना जोश और प्राण योग्य प्रकार के नहीं होते हैं।

- श्रीमोटा

'जीवनसंदेश',
प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३२८